श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्शः

Śrīmadbhāgavata-mahā-purāṇa-tattva-vimarśḥ

सम्पादक

प्रो. गङ्गाधर पण्डा

प्रो. बृजेशकुमार शुक्ल

माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, नैमिषारण्य, सीतापुर, (उ.प्र.)

श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्शः

Śrīmadbhāgavata-mahā-purāṇa-tattva-vimarśḥ

सम्पादक

प्रो. गङ्गाधर पण्डा

प्रो. बृजेशकुमार शुक्ल

Sree Ma Anandmayee Institute for Pauranic and Vaidic Studies and Research, Naimisaranya

प्रकाशक

माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं

अनुसन्धान, संस्थान, नैमिषारण्य

सीतापुर, (उ. प्र.) ।

प्रबन्ध-समिति

माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं

अनुसन्धान, संस्थान, नैमिषारण्य

प्रथम संस्करण : २०११

प्रतियाँ—१०००

मूल्य-रू. २५०.००

अक्षर-संयोजन

रमा कम्प्यूटर

जगतगंज, वाराणसी

मुद्रक

रेनबो प्रिण्टर्स

सिद्धिगिरिबाग, वाराणसी

प्रेरणास्त्रोत माँ आनन्दमयी जी

Shree Ma Anandmayee Institute for Puranic and Vedic Studies and Research

Members of the Managing Comittee

Shri S.N. Shukla, IAS (Retd.)
President
"Anand Niwas"
B/7, Nirala Nagar
Lucknow-226020

Shir Panu Brahmachari
Vice President
Shree Shree Anandamayee Ashram
Bhadanini
Varanasi-221001

Prof. S.N. Bhattacharya (Retd.)
Secretary
C-218, Sector-C
Mahanagar
Lucknow-22006

Shri Rakesh Gupta
C/oDr. Gaurhari Singhania
"Kamla Tower"
Kanpur-208001

Mr. M. Shashidhar Raddy
Vice President
C1-21, Humayun Road
New Delhi-110003

Ms. Madhavi P. Badiani
Member
Sadhana Rayon House
6th Floor, D.N. Road
Mambai

Deputy Commissioner (Ex-Officio)
D.M. Residence
Sitapur

Shir S.C. Banerjee
Addl.Gen.Secy-I (Sp1. Invitee)
Shree Anandamayee Ashram
P.O.Kankhal, Haridwari-249408
Uttaranchal

Prof. A.K. Kalia
Former Vice Chacellor
Sampuranand Sanskrit University
Varanasi-221002

Smt. Rani Lila Ram Kumar Bhargava
(Spl. Invitee)
Naval Kishor Estate
75, Hazratganj
Lucknow-22006

Dr. D.P. Mukherjee
(Addl.Gen.Secy-II (Spl. Invitee)
C-1/1438
Vasant Kunj, New Delhi-11070

Prof. Brijesh Kumar Shukla
(Spl. Invitee)
Prof. & Head, Sanskrit
Lucknow University
78, Badhshah Bagh
University Campus
Lucknow-226020

Prof. Gangadhar Panda
Member
Professor of Puranetihasa
Dean, Facalty of Sahitya Samskriti
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002

●

पुरोवाक्

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ।।

सहस्राधिकवर्षाऽवधिः वेदमन्त्रघोषपूरिते पवित्रतमे नैमिषीये क्षेत्रे पर्यन्तं रोमहर्षणप्रभृतिमुनिभिः पुराणानि निर्मथितानि । तत्र पवित्रतमे रमणीये च स्थाने पुराणमन्दिरं पौराणिकवैदिकाध्ययनानुसन्धानसंस्थानं च संस्थाप्य आनन्दमय्या आनन्दमयीदेव्या पूर्वसूरिभ्यः सम्मानः प्रदर्शितः । पुराणवाङ्मयस्य समस्तप्रभागेषु गहनानुसन्धानपूर्वकं शोधकार्यं सम्पादनमेवास्य संस्थानस्य परमं लक्ष्यम् ।

स्वलक्ष्यं साधयता नैमिषारण्यस्थेन मां-आनन्दमयी-पौराणिकवैदिका-ध्ययनानुसन्धानसंस्थानेन नवदेहलीस्थराष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानद्वारा प्रदत्तवित्तीयानुदानेन २००९ ख्रीष्टाब्दे-दिसम्बरमासस्य ११,१२,१३ तारिकासु नैमिषारण्य एव श्रीमद्‌भागवतपुराणमधिकृत्य एका अखिलभारतीया विद्वत्सङ्गोष्ठी समायोजिता श्रीमद्भागवततत्त्वविमर्शात्मिका ।

जानन्त्येव विद्वांसः श्रीव्यासस्य समाधिभाषारूपत्वेन प्रसिद्धस्य श्रीमद्भागवतस्य रहस्यं दुर्बोधम् । **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** एषा भणितिरपि तस्यैव सार्थक्यं प्रतिपादयति । श्रीमद्‌भागवतं ब्रह्मसूत्राणां भाष्यभूतं दार्शनिकतत्त्वामृतस्याजस्रप्रवाहरूपं विराजते । अथ च निगमकल्पवृक्षस्य मधुरतमं सुपक्वं गलितं फलमस्ति । इदं भगवतः साक्षाच्छब्दात्मको विग्रहोऽपि वर्तते । अनेन व्यस्तमशान्तं मनः सुस्थिरं भूत्वा धर्मार्थकाममोक्षपुरुषार्थचतुष्टयस्य प्राप्त्यै अग्रेसरति । रासपञ्चाध्यायी-सदृशग्रन्थिग्रन्थयः सम्प्रत्यपि वैज्ञानिकमस्तिष्कं साश्चर्यं चमत्करोति । **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** इत्याभाणकं निश्चप्रचमेव श्रीमद्‌भागवते नितरां सार्थकत्वं भजते ।

समायोजितायामस्यां सङ्गोष्ठ्यां विद्वांसः परस्परं स्वज्ञानस्य वितरणं विधाय श्रीमद्भागवतस्य तत्त्वविमर्शं कृतवन्तः । सङ्गोष्ठ्यामस्यां श्रीमद्‌भागवत-विषयाणामुपरि प्रायः शोधपत्राणि विपश्चिदपश्चिमाः प्रपठितवन्तः । तलस्पर्शिभिः विद्वद्वरेण्यैः स्वगवेषणबुद्ध्या भागवतस्य विविधपक्षान् लक्ष्यीकृत्य दार्शनिकसाहित्यिक-

सैद्धान्तिकचिन्तनस्यावधारणा: प्रकाशिता इति शोधपत्राणामवलोकनेन ज्ञायते । एतदर्थं सर्वे प्रतिभागिनो विद्वांस: साधुवादभाजनार्हा: सन्ति । तान् प्रति कार्तज्ञ्यं विज्ञाप्य सन्तोषमनुभवामि । एते मनीषिण: शोधपत्रनिबन्धनपूर्वकं स्वागमनेन संस्थानस्य गौरवं वर्द्धितवन्त इति कश्चनापूर्वानन्दस्य विषय: ।
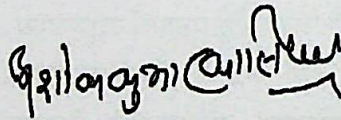
इदानीं सङ्गोष्ठ्यां पठितानां श्रीमद्भागवततत्त्वविमर्शात्मकानां शोधपत्राणां ग्रन्थरूपेण प्रकाशनेन संस्थानमिदं महत्कार्यं सम्पादयतीति मे परमो हर्षप्रकर्ष: । एतदर्थं सङ्गोष्ठ्या: सञ्चालनाय च वित्तीयसाहाय्येनानुगृहीतवन्त:, एतदर्थं राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य कुलपतिवर्य्यान् **प्रो. राधावल्लभत्रिपाठि**महाशयान् साभारमभिनन्दामि । विविधसहयोगार्थं सङ्गोष्ठ्यां समुपस्थितान् विदुष: दानमानाभ्यां सभाजयत: संस्थानस्य लक्ष्यं साधयत: **श्री एस. एन. शुक्ल**महोदयानामाध्यक्ष्ये प्रबन्धसमिते: सदस्यान् साधुवादै: सभाजयामि पौनपुन्येन कृतज्ञतामावहामि । सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य साहित्यसंस्कृतिसङ्कायाध्यक्ष: **प्रो. गङ्गाधरपण्डा**, लखनऊविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्ष: **प्रो. बृजेशकुमारशुक्लश्च** सम्मानभाजनार्हौ, यतो हि एतौ तन्मयतापूर्वकं सङ्गोष्ठीसमायोजनपुरस्सरं समागतशोधपत्राणां ग्रन्थस्वरूपं दत्तवन्तौ । ताभ्यां महोदयाभ्यां मन: सङ्कल्पिताशीर्वचोभि: वर्द्धयामि, धन्यवचांसि वितरामि ।

अस्तु, विविधनिबन्धपुष्पपूरितं ग्रन्थकुसुमाञ्जलिमिमं सललिताय पुराणपुरुषाय सश्रद्धं समर्प्य कामये यदयं ग्रन्थ: भागवतानुरागिणां विदुषां छात्राणामनुसन्धित्सूणाञ्चोपकाराय स्यादिति ।

लखनऊ
माघी पूर्णिमा
२०६७ विक्रमाब्द:
१८ फरवरी, २०११ खिष्टाब्द:

(प्रो. अशोककुमारकालिया)
पूर्वकुलपति:
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी
मानदनिदेशक:
माँ-आनन्दमयी-पौराणिकवैदिकाध्ययनानुसन्धानसंस्थानस्य,
नैमिषारण्यम्, सीतापुरम्, (उ. प्र.)

प्राक्कथन

सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ।।

श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मय का अङ्गुलीगणनीय उज्ज्वलतम रत्नों में अन्यतम है । इसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का उत्स कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी । यह वेदरूपी कल्पवृक्ष का एक मधुर परिपक्व फल है; क्योंकि भगवान् की मधुरतम लीलाकथाओं से ओत-प्रोत है । इसीलिए ज्ञानी भक्त, मुमुक्षु तथा संसारी सभी को यह परम प्रिय है । इसके श्रवण और पारायण से पापताप से व्याकुल चित्त को शान्ति मिलने के कारण ही भागवत-सप्ताह श्रवण, परायण आदि का जनता में जितना प्रचार है, उतना अन्य किसी पुराण का नहीं । इस पर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी सम्प्रदायों की समान आस्था है । **''विद्यावतां भागवते परीक्षा''** कहकर इसकी दुरूहता की कहावत चिरकाल से चली आ रही है ।

सुचारुरूप से भागवत प्रतिपाद्य विषयों के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए अखिल भारतीय विद्वद्गोष्ठी का आयोजन माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन तथा अनुसन्धान, संस्थान के द्वारा दिनाङ्क ११, १२, तथा १३ दिसम्बर, २००९ को नैमिषारण्य सदृश पावन तपोभूमि पर सम्पन्न हुआ, यह हमारे लिए अत्यन्त हर्ष और गौरव का विषय है कि नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों के समान अखिल भारतीय विद्वत्समुदाय न केवल उत्तर प्रदेश से अपितु मध्यप्रदेश, ओडिशा एवं हरियाणा राज्यों से उपस्थित होकर अपने शोधपत्रों का उपस्थापन कर विचार-विमर्श किया । सर्वसाधारण को सुलभ कराने के लिए उत्कृष्ट प्रपानकरसतुल्य शोधपत्रों का उपस्थापन भी अभीप्सित हुआ ।
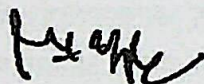
तलस्पर्शी विद्वत्समवाय ने अपनी गवेषणा बुद्धि के द्वारा भागवत के विविध पक्षों के रहस्य को उद्घाटित करते हुए इसके दार्शनिक, साहित्यिक, सैद्धान्तिक, पौराणिक आदि विविध चिन्तन की अवधारणाओं को प्रकाश में लाया है । सुचारु रूप से भागवत-प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण करते हुए रासलीला सदृश अनसुलझे विषयों पर भी प्रचुर प्रकाश डाला गया है । एतदर्थ सभी सहभागी विद्वान् बधाई के पात्र हैं । सभी प्रतिभागी विद्वत्समवाय को साधुवाद प्रदान कर सन्तोष का अनुभव करता हूँ ।

यद्यपि यह अखिल भारतीय विद्वत्संगोष्ठी माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, नैमिषारण्य के उद्यम से आयोजित हुई, तथापि **राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली** के द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान कर संगोष्ठी को सफल बनाने में अहंभूमिका का निर्वाह किया गया, इसलिए इसके कुलपति **प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी** जी का साभार अभिनन्दन करता हूँ ।

गवेषित तथ्य के व्यापक प्रचार के लिए शोध-पत्रों की भाषा संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी को माध्यम बनाया गया है । जिससे सभी वर्ग के विद्वत्समाज, अनुसन्धित्सु विद्यार्थी तथा सर्वसाधारण जनसमुदाय भी लाभान्वित हो सकें । इससे सभी लाभ उठाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हो सकेंगे, ऐसी मेरी कामना है ।

गवेषित रहस्यामृत को सुरक्षित रखने के लिए ग्रन्थ का आकार देने वाले सम्पादकद्वय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्यसंस्कृति संकायाध्यक्ष **प्रो० गङ्गाधर पण्डा** एवं लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राकृत भाषा विभाग के आचार्य तथा अध्यक्ष **प्रो. बृजेशकुमार शुक्ल** को इस महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामण्डित कार्य हेतु साधुवाद प्रदान करते हुए वर्द्धापन करता हूँ । अन्त में इस ग्रन्थरत्न को पुराणपुरुष के करकमलों में पुष्पाञ्जलि रूप में समर्पित करता हूँ ।

(एस. एन. शुक्ल)
(आई. ए. एस. सेवानिवृत्त)
अध्यक्ष, प्रबन्ध समिति
माँ आनन्दमयी पौराणिक वैदिक एवं
अनुसन्धान संस्थान, नैमिषारण्य
सीतापुर ।

लखनऊ
माघी पूर्णिमा,
२०६७ विक्रमाब्द
१८ फरवरी, २०११ ख्रिष्टाब्द ।

सम्पादकीय

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ।। भाग.१०.७३.१६

परमकारुणिक भगवान् बादरायण व्यास के मन में ब्रह्मसूत्र, महाभारत एवं अनेक पुराणों की रचना करने के पश्चात् भी शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने अन्तर्मन से सोचा, तो स्वतः ही उनको उत्तर मिल गया है कि मैंने भक्तिशास्त्र की रचना नही की है ।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ।।
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तम ।।
किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ।।१/४/२९-३१

व्यास जी की दोलायमानचित्तवृत्ति को शान्त करने के लिए नारद जी कहते हैं कि आपने पूर्वोक्त ग्रन्थों में अधिकतर तत्त्वजिज्ञासा की है, परन्तु भगवान् के निर्मल यश का गान जिस तरह करना चाहिए, उस प्रकार नहीं किया है । जब तक भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते हैं, तब तक शास्त्रज्ञान अधूरा होता है। आपने महाभारतादि में पुरुषार्थ का जैसा निरूपण किया है, उस प्रकार श्री कृष्ण की महिमा का निरूपण नहीं किया है । जिस स्थान पर भगवान् के यश का कभी गान नहीं होता, वह तो कौओं के लिए उच्छिष्ट फेंकने के स्थान के समान अपवित्र हो जाता है । जो भगवान् कृष्ण के चरणारविन्द का सेवक है, वह भजन न करने वाले कर्मी मनुष्यों के समान दैवात् कभी बुरा भाव हो जाने पर भी जन्म-मृत्युयुक्त संसार में पुनः नहीं आता है । वह भगवान् के चरणकमलों के आलिंगन का स्मरण करके उसे त्यागना नहीं चाहता है; क्योंकि उसमें रसग्राहकता बन जाती है।

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छन्न रसग्रहो यतः ।। १/५/१९

तब व्यासजी ने वेद के समान भगवान् के पूर्ण चरित्र से युक्त भक्ति रस से प्लावित श्लाघनीय एवं कल्याणकारी भागवतमहापुराण की रचना की ।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।। १/३/४०

धर्म के साथ यदि मनुष्य के हृदय में भगवल्लीलारूपी भक्ति का संचार नहीं हुआ है, तो वह केवल निरर्थक श्रम है । धर्म का फल तो मोक्ष है । मोक्ष की सार्थकता अर्थप्राप्ति में नहीं है । अर्थ केवल धर्म को प्राप्त करने का साधन है । भारतीय परम्परा में भोग-विलास का कभी अर्थ को साधन नहीं माना गया है । यह ही भागवत का तात्पर्य है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।१/२/९

वर्णाश्रम परम्परा में अपना कर्त्तव्य करते हुए मनुष्य जो धर्म का अनुष्ठान करता है, उसका एकमात्र उद्देश्य है भगवान् की प्रसन्नता । इसीलिए भागवत का उद्‌गार है कि—**तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्** ७/१/३१ । मन को कृष्ण में लगाने के लिए नवधा भक्ति की व्यवस्था की गयी है, जिसमें कृष्ण ही श्रोतव्य, मन्तव्य निदिध्यासितव्य हैं—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।१/२/१४

भगवान् को तो किसी न किसी भाव से पाना है, इसका उपाय जो भी हो । देखा जाय जय एवं विजय वैकुण्ठ में भगवान् के पार्षद थे । सनत्कुमारों के शाप से तीन जन्म तक उन्हें राक्षस योनि में जाना पड़ा । सत्ययुग में हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष, त्रेता में रावण एवं कुम्भकर्ण तथा द्वापर में शिशुपाल एवं दन्तवक्त्र के रूप में द्वेष करके भगवान् के द्वारा मुक्त हुए । इसी प्रकार कंस भय से, यदुवंशी पारिवारिक सम्बन्धों से, गोपियाँ स्नेह से एवं मुनि-ऋषिगण भक्ति से भगवान् को प्राप्त करते हैं । इसीलिए नारद जी कहते हैं—

कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्‌गतिं गताः ।।
गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।

भाग. ७/१/२९-३०

श्रीमद्भागवत के सम्बन्ध में एक प्रसिद्धि है कि यह सभी ग्रन्थों का सिरमौर है एवं समस्त शास्त्र किसी न किसी प्रकार से इसमें वर्णित हैं—

धनञ्जये हाटकसम्परीक्षा
रणाजिरे शस्त्रभृतां परीक्षा ।
विपत्तिकाले गृहिणीपरीक्षा
विद्यावतां भागवते परीक्षा ।।

यह युक्ति इसीलिए चरितार्थ है कि चार वेदों के बाद पञ्चम वेद के रूप में अनेक शास्त्रों की मान्यता है । महाभारत की महिमा के अनुसार उसे पञ्चम वेद के रूप में स्वीकार करते हैं । नाट्यपरम्परा के मनीषी 'नाट्यशास्त्र' को, अलङ्कारशास्त्र की परम्परा के अनुसार साहित्य को पञ्चमवेद रूप में मानते हैं । परन्तु **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंयेत्'** को दृष्टि में रखते हुए, पुराणवाङ्मय की विशालता को ध्यान में रखकर उसे विश्वकोश के रूप में स्वीकारना ही पड़ेगा । अत: भागवतकार उसे पञ्चम वेद के रूप में महनीय स्थान देते हैं । अन्य पुराण भी उसे स्वीकार करते हैं ।

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।। १/४/२०

वल्लभाचार्य भागवत की भाषा को समाधिभाषा मानते हैं; क्योंकि यह भाषा ब्रह्मानन्दमयी है । इससे अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में समस्त भारतीय वेदान्त वर्णित हैं । शङ्कर के अद्वैतवेदान्त के अनुसार श्रीधरस्वामी ने अद्वैतपरक व्याख्या, पदरत्नावली में विजयध्वज ने द्वैतपरकव्याख्या, क्रमसन्दर्भ में जीवगोस्वामी ने अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय की व्याख्या, शुकदेव ने सिद्धान्तप्रदीप में निम्बार्कपरम्परा की द्वैताद्वैत व्याख्या एवं वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को दृष्टि में रखकर श्रीमद्भागवत की व्याख्या की है । इसी प्रकार विभिन्न परम्पराओं के अनुसार अनेक टीका एवं ग्रन्थ भागवत पर होने से इसकी शास्त्रीय प्रौढ़ी एवं लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है ।

इसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य सहित भक्ति के कण को वितरित करके श्रीमद् भागवतमहापुराण जगत् का महान् उपकार किया है । इसको दृष्टि में रखते हुए श्री माँ आनन्दमयी संघ द्वारा परिचालित माँ आनन्दमयी पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, नैमिषारण्य, सीतापुर, उ. प्र. द्वारा एक त्रिदिवसीय अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन करने हेतु निर्णय लिया गया, जिसे सफलता प्रदान करने हेतु राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा

आर्थिक सहायता प्रदान अत्यन्त सराहनीय है । संगोष्ठी की फलश्रुति के रूप में विवेचित निबन्धों को ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया । उक्त ग्रन्थ में प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष **श्रीसत्यनारायण शुक्ल** सेवानिवृत्त आइ. ए. एस. ने प्राक्कथन एवं उक्त संस्थान के मानदनिदेशक एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व कुलपति **प्रो. अशोक कुमार कालिया** ने पुरोवाक् लिखकर इसे महिमामण्डित किया है । हम उन दोनों महानुभावों को विशेष रूप से आभार व्यक्त करते हैं । देश के विभिन्न प्रान्तों से जो विद्वद्गण नैमिषारण्य जैसे ग्रामीण परिवेश में पधार कर असहनीय शीत के प्रकोप को सहकर अपने शोधपत्रों का वाचन किये, उनको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं । संघ के उपाध्यक्ष पूजनीय **पानू ब्रह्मचारी** ने हमें उत्साह दिया है एवं संस्थान के सचिव **प्रो. एस. एन. भट्टाचार्य** ने हमें पूर्ण सहयोग प्रदान किया । ग्रन्थ सम्पादन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन संस्थान में पूर्व सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय** ने हमारी सहायता की है । रमा-कम्प्यूटर के संचालक श्री **प्रवीण चन्द्र उपाध्याय** ने संगणक द्वारा शुद्धतापूर्वक शीघ्र अक्षरसंयोजन कर ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान किया है एवं रेनबो प्रिण्टर्स के संचालक **श्री रविशंकर पण्ड्या** ने सुन्दर स्वच्छ मुद्रण कार्य किया है। उन सबको हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए साधुवाद देते हैं ।

वसन्त पञ्चमी
वि. सं. २०६७
८ फरवरी, २०११ ।

प्रो. गङ्गाधर पण्डा
प्रो. बृजेशकुमार शुक्ल
सम्पादक

विषयसूची

क्रम.	विषयः/लेखकश्च	पृ.सं.
	संस्कृतम्	
१.	**निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्** प्रो. बिन्दाप्रसादमिश्रः	१
२.	**पिबत भागवतं रसमालयम्** प्रो. रहसविहारीद्विवेदी	६
३.	**टीकासु श्रीधरीटीका विष्णुवैष्णवसम्मता** डॉ. श्यामवापटः	१०
४.	**श्रीमद्भागवतेऽद्वैतपरिशीलनम्** डॉ. हरिप्रसाद-अधिकारी	१९
५.	**श्रीमद्भागवते षोडशकलाविशिष्टः श्रीकृष्णः** डॉ. भगवतशरणशुक्लः	२४
६.	**श्रीमद्भागवतबौद्धधर्मयोः कर्मवादविमर्शः** डॉ. धर्मदत्तचतुर्वेदी	३५
७.	**माघकाव्योपरि श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः** डॉ. सूर्यमणिरथः	४५
८.	**श्रीमद्भागवते दार्शनिकचिन्तनस्यावधारणा** डॉ. रामसुमेरयादवः	५२
९.	**भागवते भक्तिस्वरूपम्** डॉ. महेशझाः	५७
१०.	**श्रीमद्भागवतमहापुराणस्योत्कलीयं स्वरूपम्** डॉ. प्रमोदिनी पण्डा	६६
११.	**श्रीमद्भागवते पर्यावरणम्** डॉ.मखलेशकुमारः	७१
१२.	**श्रीमद्भागवते साधारणधर्मः** डॉ. विश्वनाथस्वाइँ	७८
१३.	**श्रीमद्भागवते शिवतत्त्वम्** डॉ. ददन उपाध्यायः	८३
१४.	**श्रीमद्भागवते क्रीडाप्रसङ्गाः** श्री अशोककुमारपाण्डेयः	९४
१५.	**श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्शः** ब्रह्मचारिणी गीता बनर्जी	९८

हिन्दी

१६. कल्पवृक्ष से टपका हुआ मधुर फल — १०५
प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय
१७. रासपञ्चाध्यायी में शृङ्गाराद्वैतविमर्श — १११
प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल
१८. वर्णाश्रम धर्म की रूपरेखा भागवत में — १४१
डॉ. (श्रीमती) सुधा गुप्ता
१९. भक्ति का स्वरूप : भागवत परिप्रेक्ष्य — १५३
डॉ. प्रतिभा शुक्ला
२०. श्रीमद्भागवत पुराण में माया की अवधारणा — १५९
डॉ. मंजूलता शर्मा
२१. श्रीमद्भागवत पुराण में दार्शनिक सिद्धान्त — १६७
श्रीमती सुरचना त्रिवेदी
२२. श्रीमद्भागवतपुराणान्तर्गत सांख्ययोग की अवधारणा — १७२
डॉ. गीता शुक्ला
२३. श्रीमद्भागवत पुराण में सृष्टितत्त्व — १८१
डॉ. रीना अस्थाना
२४. भागवत में कालगणना — १८६
डॉ. सोमप्रकाश पाण्डेय
२५. भागवत में कालगणना — १९१
श्री मृत्युञ्जय त्रिपाठी
२६. श्रीमद्भागवत पुराण के गीतों का वैशिष्ट्य — १९९
प्रो. प्रयागनारायण मिश्र
२७. श्रीभागवत महापुराण में लोककल्याण की अवधारणा — २१३
डॉ. महेन्द्र वर्मा
२८. श्रीमद्भागवतमहापुराण में वर्णाश्रमधर्म निरूपण — २१७
डॉ. सरोज कुमार शुक्ल
२९. श्रीमद्भागवत पुराणोक्त मन्वन्तरकाल की ज्योतिषीय विवेचना — २२२
श्री अनिल कुमार पोरवाल

English

30. Śrīmadbhāgavata : A linguistic Study — 230
Prof. K. C. Dubey
31. Śrīmadbhgāvatapurāṇa-- An Exposition of the Brahmasūtra — 236
Sanghamitra Basu
32. Śrīmadbhāgvata : Some observation — 244
Prof. Prabhat Kumar Pandey

निबन्धास्तत्प्रस्तोतारश्च — २४९

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्

प्रो. बिन्दाप्रसादमिश्रः

❁❁❁

निगमश्चासौ कल्पतरुरिति निगमकल्पतरुः, तस्येति निगमकल्पतरोः। निगमो नाम वेदः। वेदस्तु ब्रह्ममुखनिर्गतधर्मज्ञापकशास्त्रम्[१]। अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः[२]। 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः[३]। सायणाचार्यस्यापि वेदेऽभिमतं निरीक्ष्यतां तावत्—'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। अपि च 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता[४]॥ इत्थं वेदस्य धर्मे तात्पर्यं ज्ञायत एव। तथा हि—'वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'[५]। तर्हि को धर्मः ? किं तस्य लक्षणमिति चेत्, तदुच्यते—'यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति[६]। अनेन प्रकारेण निगमो नाम यागादिप्रयोजनवदर्थप्रतिपादको वेदोऽखिलो धर्ममूलमस्तीति प्रकटितम्।

कल्पतरुरिति कल्पप्रधानः तरुः कल्पतरुः, अथवा कल्पस्य तरुः कल्पतरुः। कल्पशब्दः कोशेषु बह्वर्थवाचको निर्दिष्टो वर्तते। यथा—कल्पो विधिः, कल्पः कल्पना, कल्पः संरचना, कल्पः प्रलयः, कल्पः समर्थः, कल्पः तुल्यश्चेति। प्रसङ्गतः तेषु त्रयाणामत्र ग्रहणं क्रियते। तस्माद् विधितरुः, कल्पनातरुः, समर्थतरुश्चेति प्रमुखप्रासङ्गिकार्था ग्राह्याः कल्पतरुशब्दादिति। इत्थं निगमो नाम यो वेदः स यज्ञभूतधर्मविधिविधायको विविधशाखादिमान् विधितरुः, स वै 'स्वर्गकामो यजेत'

---

१. हलायुधकोशः—'वेदः' इति निर्वचने।
२. लौगाक्षिभास्करः—अर्थसंग्रहः—विभागः-१२।
३. तदेव-विभागः-१३,६१,६७,७५,८६।
४. ऐतरेयब्राह्मणः—सायणभाष्यम्—प्रथमपृष्ठे।
५. लौगाक्षिभास्करः—अर्थसंग्रहः—विभागः-५।
६. तत्रैव, तदेव-विभागः-४।

इत्यादिना स्वर्गादिककल्पनावत्त्वात् कल्पनातरुः, स च लोकव्यवहारप्रवर्तनाय शक्तिमत्त्वात् समर्थतरुरिति कल्पतरुपदेन विधीयते। अत्र भगवता व्यासेन निगमस्य निजाभिमतं लक्षणमपि विहितमिति मन्ये। तत्तु 'निगमकल्पतरुः' इत्यस्य योगविभागेन ज्ञायते। निगमः कल्पतरुरिति। अर्थाद् वेदः कल्पतरुरस्ति। इदं वेदस्य लक्षणं सूत्रवद् वर्तते। अतिसङ्क्षिप्ते चास्मिन् लक्षणेऽर्थगाम्भीर्यं परिलक्ष्यते।

अत्र तरुशब्देन कल्पस्य विशालता, कठिनता दुरूहता, रुक्षता च प्रकाश्यते। कल्पतरुभूतस्य वेदस्य विशालता कठिनतादि तस्य नितान्तनिष्ठुरनानाशाखात्वात् सिध्यति। वेदस्य विविधाः शाखाः सन्ति। यथा हि महर्षिपतञ्जलिना वेदस्य विशालतां प्रतिपादयतोक्तम्—'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः—एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः' इति[१]। एतस्माद् अनेकशाखाभेदाद् वेदभूतस्य कल्पस्य विशालतरुता गोचरीभवति। कल्पतरोर्महनीयता च 'सङ्कल्पस्य दाता वृक्षः' इति कृत्वाऽपि प्रसिद्धास्ति। अतः स कल्पवृक्षो देवतरुरित्युच्यते। यतो हि दानाद् देव इति। सर्वं चिन्तितं भोग्यं तस्मात् कल्पवृक्षात् प्राप्यते। तथा हि चोक्तम्—

नमस्ते कल्पवृक्षाय चिन्तितान्नप्रदाय च।
विश्वं भराय देवाय नमस्ते विश्वमूर्तये[२]॥

अत्र चिन्तितान्नेन योम्ये तात्पर्यं वर्तते। ऐह्यलौकिकपारलौकिकभोग्योपब्धि-कारकत्वात् तस्य वेदस्य कल्पतरुत्वं यागादिभिः स्वतः प्रमाणितं भवति। एष अभिप्रायः श्रीधराचार्यस्य निर्वचनेऽपि निगूढः। तथा हि—'निगमो वेदः स एव कल्पतरुः सर्वपुरुषार्थोपायत्वादिति[३]। निगम इति। नितरां गच्छन्त्यत्र[४]। किन्तु नियमेन विधिना गच्छतीति निगमः, विधिप्रधानो वेद इत्यस्मिन् प्रसङ्गेऽभिसन्धानम्।

वेदस्तु विदन्ति अनेन धर्मं यागादिकमिति व्याख्याबलेन वेदो निगमार्थः, आगमार्थश्चेति प्रसिद्धम्। किन्तु व्यवहारे प्रायः निगमशास्त्रमन्यद् भवति तथा च आगमशास्त्रमन्यदिति मान्यता प्रथितास्ति। तत्त्वतः निगमागमयोरभेदो वर्तते श्रुतित्वात्। श्रुतिश्च वेदः एव[५]। अतः निगमागमात्मकं लोके यज्ज्ञानं प्रसूतं वर्तते तत् सर्वं निगमागमवेदश्रुतिशब्दवाच्यं भवितुं शक्नोति। 'आगमोऽपि वेदः, निगमोऽपि वेदः'[६] इति तथा 'इदानीं श्रोतृप्रवर्तनाय श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यः

---

१. महाभाष्यम् (१.१ पस्पशाह्निकम्)।
२. हलायुधकोशे 'कल्पवृक्षः' इति चिन्तनप्रसङ्गे दानसागरे-१३५।
३. श्रीमद्भागवतम् (१.१.२) श्रीधरी टीका।
४. हलायुधकोशे—निगमशब्दस्याख्याने।
५. हलायुधकोशः—वेदः श्रुतिश्चेति निर्वचने।
६. तदेव—आगमनिगमनिर्वचने।

श्रैष्ठ्यं दर्शयति'[१] चेति श्रीधरस्वामिना प्रतिपादितत्वाद् वेदः 'सर्वशास्त्रः' इति मन्ये ।

इत्थंभूतस्य निगमकल्पतरोर्गलितं परिपक्वं फलं यत् किञ्चिदस्ति तत्तु भागवतं नामेति । तथा हि प्रोक्तं भगवता व्यासेन—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः[२] ।।

यद्यपि निगमकल्पतरोर्वेदस्य फलं त्वग्निहोत्रादिकं भवति । तथा हि—

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तिफलं श्रुतम्[३] ।।

परन्तु भगवता व्यासेन वेदस्य परिपक्वं फलं यदि भवितुं शक्नोति, तदन्यत्तु नहि किमप्यस्ति, अपि तु भागवतं नाम तदिति समुद्घोषितम् । तत्फलं तु गलितात् सरससरसं मधुरमधुरं काठिन्यदोषविधुरं केवलं रसमिति चास्ति । तस्मिन् फले किमपि कठिनीभूतहेयतत्त्वं त्वगष्ठ्यादिकं न वर्तते । तत्तु किमप्यमृतद्रवसम्पन्नं निखिलं रसभूतं विलक्षणं फलं भुवि सर्वजनहिताय शुकमुखात् सप्रयोजनं निर्गलितमिति भागवतस्वरूपमिति । अत्र रस इति परमतत्त्वरूपेणाङ्गीकृतः । 'रसो वै सः' । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'[४] इति श्रुतेः रसः परमतत्त्वमिति । परमतत्त्वं तु नहि केनचिज्जातिधर्मेणावृतम् । तत्तु सर्वसुलभं भगवत्तत्त्वमिति । तदेव भागवते साकाररूपेण विराजते । तस्य नाम 'कृष्णः' इति । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[५] इति भागवतकारेणोद्घोषितम् । अपि च तेन भागवतं ब्रह्मवदिति निर्दिष्टम्—'इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।'[६] अत एव भागवते यन्निहितं तद् हि भागवतभूतः प्रोज्झितो निर्मलः परमधर्म एवास्ति । स धर्मः सर्वथा कैतवविधुरोऽस्ति । तथा हि प्रोक्तं भगवता व्यासेन—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्[७] ।।

श्रीमद्भागवतेऽत्र परमो धर्मः प्रतिपादितो वर्तते । परमश्चासौ धर्मः परमधर्मः । परमेति । चरमः, श्रेष्ठः । परो मीयतेऽनेनेति स परमो धर्म इति । अपि च अत्रपाः विगतव्रीडाः शुकसनकादयः तान् रमयति यो धर्मः सोऽप्यत्र परम इति ज्ञेयम् ।

---

१. श्रीमद्भागवतम् (१.१.२) श्रीधरीटीका ।
२. तदेव (१.१.३) ।
३. हलायुधकोशः—'फलम्' इत्यत्र वह्निपुराणवचनम् ।
४. तैत्तरीयोपनिषद्—ब्रह्मानन्दवल्ली—सप्तमोऽनुवाकः ।
५. श्रीमद्भागवतम्—(१.३.२८) ।
६. तदेव (१.३.४०) ।
७. तदेव (१.१.२) ।

अर्थादलं विस्तरेण भगवतः श्रीकृष्णस्य आराधनभूतो भक्तिधर्मः, परमधर्मत्वेनात्र स्वीक्रियते। आराधना श्रेष्ठस्य विधीयते। श्रीकृष्णस्तु परं ब्रह्मेति। अतः श्रीकृष्णात् परं श्रेष्ठतत्त्वमन्यन्नास्ति। तदेव विज्ञाय मधुसूदनसरस्वतीपरिव्राजकेनापि बलादुद्घोषितम्—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने[१] ॥

श्रीकृष्णस्तु भगवद्भूतो परं ब्रह्मेति ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनम्—

परमात्मा परं ब्रह्म निर्गुणः प्रकृतेः परः।
कारणं कारणानां च श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्[२] ॥

अतः भगवत्कृष्णसम्बन्धिशुश्रूषाभूतधर्मो भागवतधर्मः परमधर्मत्वेन वर्तते। यस्मिन् प्रकर्षेणोज्झितं त्यक्तं निरस्तं परिमार्जितं वा कैतवं वेदविहितस्वर्गादिफलानुभूतिलक्षणं कपटं छलं छद्मं वेति स तथाभूतो ज्ञानलक्षणो धर्मो भागवतधर्म इति। स धर्मः सर्वथा निर्मत्सराणां कपटद्वेषादिविधुराणां सत्पुरुषाणां परमात्मभावात्मकभक्तिप्रधानो वर्तते। स एव केवलं भगवत्कृष्णाराधनलक्षणो धर्मः श्रीमद्भागवते परमप्रतिष्ठितोऽस्ति। स एव भागवतरसः। स रसः पुराणेऽस्मिन् श्रीकृष्णकथानकात्मको वर्तते। स तु कृष्णप्रियो भक्तिविलासकारीति। अतः मुक्त्येकहेतुः स इति। तस्मात् क्लेशकरीं तीर्थपरिशीलनसेवामपि विहाय लोके सर्वप्रकारेण चात्मोद्धाराय कृष्णकथानकात्मक-भक्तिरसमादरेण पानीयमिति। यथा—

कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण
लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम्[३] ॥

श्रीमद्भागवते दैहिकदैविकभौतिकतापत्रयनाशकं सर्वदा सर्वथा च शिवदं कल्याणप्रदं वास्तवं वस्तु च वेद्यं भवति। वस्तु हि परमतत्त्वम्। वस्तुनः परमतत्त्वस्यांशो जीवः, वस्तुनः शक्तिर्माया, वस्तुनः कार्यमिदं जगद् वै। तत् सर्वं वस्तुनः इदं वास्तवमिति कृत्वा 'तस्येदम्'[४] इत्यनेन कल्प्यते। वास्तवश्च वास्तवी च वास्तवं चैतेषामेकवद्भावाद् 'वास्तवमिति' 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवदन्यतरस्याम्'[५] इति। भगवता व्यासेन समुद्घोषितम्—भागवतधर्मसेवनाद् ईश्वरः सद्य एव हृदयेऽवरुध्यते। परैः शास्त्रैः कैतवपूर्णैर्निगमादिभिः किं प्रयोजनमिति। तैस्तु धर्मकामार्थमोक्षाणां प्राप्तिः

१. श्रीमद्भगवद्गीता- (१८.७८) गूढार्थदीपिका-मङ्गलाचरणम्-१।
२. हलायुधकोशे 'परमात्मा' इति निर्वचने।
३. श्रीपद्मपुराणे—उत्तरखण्डे—श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये (६.९८)।
४. अष्टाध्यायी (४.३.१२०)।
५. तदेव (१.२.६९)।

काठिन्येन जायते। भागवतेन तु तेषां प्राप्तिः श्रवणादिना सुकरतया भवति। अपि च तेन परं तत्त्वं रसो वै स वैकुण्ठस्थः श्रीकृष्णो गोपीवल्लभोऽपि लभ्यते। यथा हि—

फलदं स्यात् पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम्।
धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यान्न संशयः॥
श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्तिकरे स्थिते।
श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणादस्य लभ्यते[१]॥

इत्थं यतो हि निगमकल्पतरोः परिपक्वं रसं फलं भागवतमिति प्रोज्झितकैतवधर्मवत्त्वात्। अतो नूनमेव भागवतं कठिनत्रिकाण्डात्मकधर्मप्रतिपादकवेदात् स्वरूपतो निजमधुररसितधर्मेण भिद्यते। भागवते मधुररसितधर्म एव भक्तिः। भक्तिरेव भागवतधर्मः। भक्तिसङ्कल्पकभगवद्धर्मे किमपि काठिन्यं न वर्तते। वेदप्रतिपाद्यो यागादिधर्मः क्लेशेन संसाध्यते। तत्र वेदे बहुकठिनो गहनश्च कर्मकाण्डप्रकारः। स च नैव सर्वजनीनो नैव च सर्वसुकरः। किन्तु वेदस्य कठिनकल्पतरोः फलभूता या भागवती सेवाकथा भक्तिः सा कलौ सर्वसुकरा सर्वजनीना जातिधर्मविगलिता कालक्रमसाधनभेदरहिता चास्ति। तया भक्त्यैव ऐह्यलौकिकं पारलौकिकं च सर्वं सुखं कलिजनैः सुखेन प्राप्यते। अतो लोके भागवती भक्तिः सर्वभवव्याधिविनाशिनी वर्तते। तस्माच्च हिंसाप्रधानयागादिकुपथधर्मसेवनेन किमधिकं भवेदिति। सर्वं च तत् तद् गर्हितं धर्मं त्यक्त्वा क्षेमाय भागवतं भावेन भजेत। तथा हि—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने[२]॥

अपि च भागवतधर्मेण भक्त्या हरिः श्रीकृष्णः साध्यते—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका[३]॥

यदि भक्त्या परमतत्त्वं हरिं प्राप्तुं शक्यते तदा संसारेऽस्मिन् सेवाधर्मेण किं किं सिद्धं न भवेदिति भक्तिप्रधानभागवतस्य सन्देशो वर्तते।

●

---

१. श्रीपद्मपुराणे—उत्तरखण्डे—श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये (६.६८,६९,७६)।
२. तदेव (६.१००); ३. तदेव (२.२०)।

पिबत भागवतं रसमालयम्

प्रो. रहसविहारीद्विवेदी

❁❁❁

किं पिबत ? भागवतं रसम्। किं नाम भागवतम् ?

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां धनं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ।।
(श्रीमद्भा.१२.१३.१८)

किं नामा भागवतो रसः ? शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् (तत्रैव १.१.३) । तं हि रसम्, आजीवनं (लयपर्यन्तं) पिबत । भागवतरसो (भक्तिरसो वा) कथमनुभूयते ? अस्योत्तरं ददता मया स्वकीयया प्रकाश्यमानायां नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसायामेवं प्रत्यपादि—

देवेऽनन्या रतिः स्थायी विभावश्चेष्टभावना ।
उद्दीपनं प्रभोर्मूर्त्तिर्भक्तश्चालम्बनं मतः ।।
अनुभावश्च भक्तस्य प्रणतीत्यादिकाः क्रियाः ।
रोमाञ्चादिश्च सञ्चारी हेतुर्देवे समर्पणम् ।।
गोस्वाम्यादिमते चैवं देवभक्तिरसोऽश्नुते ।
मम्मटादिमते भक्तिर्भाव इत्यभिधीयते ।।
श्रीमद्भागवते किन्तु भक्तेः प्रामुख्यदर्शनात् ।
नूनं भक्तिरसो मान्यः स्यादिति युक्तिसङ्गतम् ।।
इयं भगवती भक्तिस्त्रिधा प्रायो विलोक्यते ।।
विशुद्धा कर्ममिश्रा च ज्ञानमिश्रेति भेदतः ।।
परमानन्दरूपो हि प्रतिबिम्बत्वमागतः ।

भगवानेकभावेन रसतामेति हृद्गतः ।।
भावात्मा भगवान् नूनं भावेनैवोपलभ्यते ।
लीला भगवतः सेयं तद्रूपैवानुभूयते ।।
रसो रसवतां भाति हृदि नित्यं प्रतिष्ठितः ।
रसः सत्तात्मकः स्थायी भावक एव राजते ।।
कृष् शब्दार्थः सदानन्दो णकारार्थो रसात्मकः ।
तेन कृष्णः सदानन्दो मान्यो नात्र संशयः ।।
त्रिकालबाधिता सत्ता ह्यानन्दो निरुपाधिकः ।
स्थायिरसरूपोऽयं कृष्णोऽन्तर्भवतीति सः ।।
भगवान् स्वामिनीयुक्त एव पूर्णरसात्मकः ।।
आलम्बनविभावो वै द्वयोः संयोगसाधितः ।।
सच्चिदानन्दरूपश्रीकृष्णो ब्रह्मपरात्परः ।
गूढस्त्रीभावभावात्मा स्वामिनीहृदयस्थितः ।।
स्थायिभावात्मकः सोऽयं लीलारूपफलात्मकः ।
एवं भक्तिरसः साध्यः देवभक्तिसमन्वितः ।।

मम्मटादयो भक्तिं भावं मन्वते । श्रीमद्भागवते रामचरितमानसे च भक्तिरसस्य परिपाको निभाल्यते । अतोऽयं रसः स्वीकरणीय एव । वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति कृत्वा निगमकल्पतरुत्वं तु सर्वत्रानुभूयते । सेयं प्रेमाम्बुधारामयी भक्तिः, कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा विशुद्धा चेति नानाप्रवाहान् तन्वाना चरमपरमपञ्चमपुरुषार्थरूपेति भावुकशिरोमणयः, तत्त्वसाक्षात्काररूपेति श्रीमद्भगवच्छ्रीशङ्कराचार्यपादाः, **रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवतीति** श्रुतिः । अखिलमेव जगदिदं वर्तमानमतीतं भविष्यद्वा ब्रह्मैव । द्व एव ब्रह्मणो रूपे मूर्तममूर्तं च । तच्च ब्रह्म सत्-चिद्-आनन्दमयञ्च । श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये पद्मपुराणं (१.१) वक्ति—

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत् । कवीति ततो व्यासे......।' इत्यभ्युक्त्या व्यासोऽपि कविः । श्री [illegible]गवतं पुराणं सदपि काव्यम् । काव्यलक्ष्मदिशा तत्पद्यानि प्रमाणमत्र । स्वामिना करपात्रेण सरस्वतीहरहरिहरानन्देन 'भक्तिरसार्णव' इति ग्रन्थो व्यलेखि ।

तस्मिन् तेन भक्तिरसस्य सप्रमाणं स्थापना कृता— 'रसस्वरूपविमर्शो भक्तिरसश्चेत्यध्याये । मनीषिणः प्रार्थ्यन्ते यद्भक्तिरसविषयकं मतं स्फुटीकर्तुं तं

ग्रन्थमवश्यं पठन्तु। अस्य ग्रन्थरत्नस्य जमनिकायां काशीसुमेरुपीठाधीश्वरजगद्गुरु-शङ्कराचार्यपादाः श्रीमहेश्वरानन्दसरस्वतीमहाशयाः (पूर्वाश्रमे काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य साहित्यविभागाचार्याध्यक्षाः पण्डितप्रवरमहादेवशास्त्रीतिनामानः) वदन्ति—'शब्दार्थोभयलङ्कारालङ्कृतदोषकदम्बकपङ्कातङ्कचुम्बितविभावानुभावसञ्चारिनिकरवृत्ति व्यञ्जनाभिव्यज्यमाननिरावरणचैतन्यानन्दतुन्दिलविभावानुभावसञ्चारिसंवलितरत्यादिगुण-प्रगुणितस्थायिभावरसरूपेति सहृदयश्लाघ्याः पण्डितराजप्रभृतयः साहित्यसौहित्याः, महान्तो मधुसूदनसरस्वतीप्रमुखा दार्शनिकाश्च।' पुनश्च तेषामत्र पद्यात्मकं कथनमेवं वरीवर्ति—

तदेतत्सौन्दर्यं मधुरमधुरं दोषविधुरं
समग्राङ्गोपाङ्गं कविकुलमलक्षालनपरम्।
सहस्रैर्भूतानामपि जननजातैरसुलभं
कृपासिन्धोरेकप्रबलकरुणाप्राप्यममलम्॥

एवमष्टपद्यैः काव्यरसादिविषयकं स्वमतं प्रकटीकृत्य चान्ततस्ते करपात्रस्वामिनो ग्रन्थविषये प्रणिगदन्ति—

अवेद्ये प्राकाश्य व्यवहृतिसमर्हत्वसुभगे
परब्रह्मानन्देस्वथ च सगुणे सुन्दरहरे।
परे कारुण्याब्धौ निभृतमतयो भक्तिसरसाः
कृतार्था भूयासुस्तदिह यतिवर्या व्यवसिताः॥

एवं साहित्यशास्त्रविदांवराणां पण्डितमहादेवशास्त्रिणामभ्युक्तिः करपात्रस्वामिनो भक्तिरसप्रतिष्ठापकं ग्रन्थं प्रति विद्यते।

श्रीमद्भागवते समग्रवस्तुविन्यासदिशा विमर्शे कृते भक्तिरेव ज्यायसीति प्रतिभाति। ब्रह्मज्ञानिन उद्धवस्य श्रीकृष्णभक्ता गोपीः प्रति कथनमत्र प्रमाणम्—

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः।
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥

(श्रीमद्भा.१०.४७.२३,२५)

ज्ञानी उद्धवः स्वयमपि गोपीनां भक्तो भवति, स वक्ति—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।

(श्रीमद्भा.-१०.४८.६१,६३)

भगवता व्यासेन कृते श्रीमद्भागवतस्य वस्तुविन्यासे परमो ज्ञानी उद्धवो भक्तो भवति। एतेन प्रमाणितं भवति, यच्छ्रीमद्भागवते भक्तेरेव प्रामुख्यं चकास्ति।

भक्तिरसविषये करपात्रस्वामिनोऽवधारणैवं विद्यते—'भगवद्गुणश्रवणजनितद्रुतिरूपायां मनोवृत्तौ सर्वसाधनफलभूतायां गृहीतभगवदाकारायां विभावानुभावसात्त्विकभावसञ्चारिसहयोगेन रसरूपतयाऽभिव्यक्तो भगवदाकारता रूपो रत्याख्यः स्थायी भावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति। स एव भक्तिरसो भक्तियोगो वा—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ।।

अत्र रतिर्नाम भक्तिस्थायिभावो द्रुतचित्तप्रविष्टभगवदाकरतारूपः संस्कारविशेषः। सात्त्विकी सुखमप्येव द्रुतिः रतिशब्दव्यपदेश्या—

रजस्तमो विहीना या भगवद्विषया मतिः ।
सुखाभिव्यञ्जकत्वेन रतिरित्यभिधीयते ।।
ईर्ष्याजभयजद्वेषौ भगवद्विषयावपि ।
न भक्तिरसतां यातः साक्षाद्रतिविरोधतः ।
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिर्भक्तिरसो यतः ।।
अविरुद्धान् विरुद्धाँश्च भावान् यो वशतां नयन् ।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ।।

(स्थायीभावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया मतिः) तेन भगवन्निष्ठेष्टसाधनाविषयकत्वमेव भक्तेः प्राणाः, तस्यैव भगवद्गुणाश्रयणनिबन्धनसम्भवात्'। अत एव भगवदालम्बमानस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य श्रीमद्भागवतादिश्रवणसमये भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य न रसान्तरेऽन्तर्भावः सम्भवति। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायी भावः।

●

टीकासु श्रीधरटीका विष्णुवैष्णवसम्मता

डॉ. श्यामबापटः

ब्रह्मतत्त्वप्रकाशकं शुकसनकादिपरमहंससेवितं, सर्वशास्त्रसारभूतं, अज्ञानतिमिर-निवर्तकमध्यात्मदीपं, उदरीकृतं भक्तिज्ञानवैराग्यनैष्कर्म्यं, अद्वितीयमनुपमं च मुक्तिसाधनं, वासुदेवतेजस्समुपबृंहितं, भगवतो वाङ्मयावतारभूतं, वैष्णवानां परमं धनं, भगवत्सकाशादेव परम्परया प्राप्तं, भुक्ति-मुक्तिप्रदायकं, महापुराणमूर्धन्यतमं श्रीमद्भागवतं राराजते।

श्रीमद्भागवतं पौराणिकसंस्कृतवाङ्मयस्य सर्वोत्कृष्टं फलं विद्यते। तस्य लक्ष्यं साधनञ्च विलक्षणं तथा तस्य स्वरूपमत्यन्तं गभीरं मधुरं प्रसादपूर्णं च। अस्याध्यात्मं, काव्यत्वं, समाजसङ्घटनप्रणाली च विलक्षणा। अशेषविश्वस्य कृते गौरवास्पदमिदं वर्तते। जीवानां परमकल्याणार्थमेवास्य ग्रन्थस्याविर्भावो जातः। **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** इति प्रसिद्धैवास्य विषयगाम्भीर्यमनुमीयते। नानाभाषासु निबद्धा बहुविधा व्याख्याऽस्योपर्युपलभ्यन्ते। देवभाषायामपि भागवतोपरि अनेकाचार्यैः विद्वद्भिश्च स्वस्वसम्प्रदायानुसारं गभीरार्थमुदरीकृता भागवतरहस्योद्घाटनसमर्था बहुशष्टीकाष्टीकिताः सन्ति। अनया रीत्या टीकासम्पत्तिः दृष्ट्याऽपि भागवतं पुराणसाहित्ये अग्रगण्यं विद्यते।

सारगर्भिते भागवते प्रमेयबहुलत्वाद् व्याख्यानप्रसादेनैव तस्य गभीरार्थे कोऽपि जिज्ञासु प्रवेष्टुमर्हति। सकलश्रुतिसारभूतस्य ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादकस्य भागवतस्य कैवल्यमुक्तिरेव परमं प्रयोजनम्। अस्य गभीरार्थं सुकरं कारयितुमेवातिप्राचीनकाला-देवास्योपरि टीकाग्रन्थानां प्रणयने प्रयतमानाः सन्ति पण्डितपुङ्गवाः परिव्राजका आचार्याश्च। **'सत्यं परं धीमहि'** इत्यनेन भागवतस्यारम्भो विरामश्च भवति, येन तस्य सम्प्रदायनिरपेक्षत्वं सुसिद्धम्। अतः द्वैताद्वैतवादिनः सर्वे समानरूपेणाकृष्टा भूत्वा सन्तः विशेषेण वैष्णवसम्प्रदायाचार्यैः स्वस्वमतानुकूलाः प्रामाणिकाः टीकाश्च लिखित्वा स्वकीयं मतं भागवतमूलकं प्रदर्शितम्।

शुद्धाद्वैतसम्प्रदायस्याचार्यचरणैर्वल्लभाचार्यवर्यैस्तु प्रस्थानत्रय्यां भागवतस्य समावेशं कृत्वा प्रस्थानचतुष्टयं स्वीकृतम्।

तैः वेदगीता-ब्रह्मसूत्रैः सह व्यासस्य समाधिभाषा भागवतमपि चतुर्थप्रमाणरूपेण स्वीकृतम्।

भागवतोपरि या महत्त्वपूर्णाः टीकाः लिखिताः, तासु विभागद्वयं कर्तुं शक्यते— १. साम्प्रतमनुपलब्धाः, २. उपलब्धाश्च

१. चित्सुखाचार्यविरचिता—भागवतव्याख्या।

२. श्रीमध्वाचार्यकृतः—भागवततात्पर्यनिर्णयः।

३. श्रीमद्विजयतीर्थकृतोऽपि कश्चिद् ग्रन्थः टीका वा आसीद् यस्योल्लेखः विजयध्वजाचार्यैः स्वपदरत्नावल्यां कृतो वर्तते। उपलब्धाः टीकाः—

अद्वैतमवलम्ब्य–

१. भावार्थदीपिका—श्रीधरस्वामिपादैः विरचिता 'श्रीधरी'।

२. भावार्थदीपिकाप्रकाशः—श्रीवंशीधरमहाभागैः कृता 'वंशीधरी'।

३. भावार्थदीपिका (श्रीधरी' व्याख्या—श्रीराधारमणदासगोस्वामिकृता)।

विशिष्टाद्वैतमवलम्ब्य–

१. शुकपक्षीया—आचार्यसुदर्शनसूरिकृता परिमाणे स्वल्पाऽपि भावप्रकाशने गम्भीरा वर्तते।

२. भागवतचन्द्रचन्द्रिका—वीरराघवचार्यचरणैः विरचिता। रामानुजमतमनुसृत्य भागवतरहस्योद्घाटनक्षमा विस्तृताऽनुपमा च।

द्वैतमतमवलम्ब्य

१. पदरत्नावली—विजयध्वजतीर्थाचार्यवर्यैः लिखिता। "आनन्दतीर्थ-विजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करिवरवन्द्यौ। तयोः कृतिं स्फुटमुपजीव्यं प्रवच्मि भागवतं पुराणम्" टीकारम्भे। इयं प्रामाणिकी सुबोधा द्वैतानुकूला व्याख्या।

शुद्धाद्वैतमतमवलम्ब्य

१. सुबोधिनी–श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैर्विरचिता। प्रथमद्वितीयतृतीयदशम-स्कन्धोपरि भगवतो विष्णोराज्ञया लिखिता भागवतस्याध्यात्मिकज्ञानार्थं विशिष्टा टीका।

२. बालप्रबोधिनी–गोस्वामी गिरिधरलालकृता, अत्र न केवलं स्कन्धानां विषयाणामपि त्वध्यायसम्बन्धिविषयाणामपि सूक्ष्मविभाजनं प्रस्तुतम्।

निम्बार्कमतटीका–

१. सिद्धान्तप्रदीपः–आचार्यशुकदेवाचार्यकृतः। द्वैताद्वैतमनुसृत्य लिखिता विशिष्टा टीका।

चैतन्यसम्प्रदायसम्बद्धटीकाग्रन्थाः–

१. बृहद्वैष्णवतोषिणी–सनातनगोस्वामिकृता। केवलं दशमस्कन्धस्योपरि वर्तते प्राचीनतराऽधिकप्रामाणिकी।

२. क्रमसन्दर्भः–जीवगोस्वामिकृता चैतन्यसम्प्रदायानुसारं भागवतस्य प्रामाणिकी तलस्पर्शिनी व्याख्या। गूढार्थस्य प्रकाशनार्थं षट्सन्दर्भाः पृथग् रचिताः। सप्तमोऽयं क्रमसन्दर्भः, अपरनाम रूपसनातनानुशासनभारतीगर्भः।

३. सारार्थदर्शिनी–आचार्यवर्येण विश्वनाथचक्रवर्तिना विरचिता श्लोकस्य मर्मज्ञानार्थं नितान्तकृतकार्या वर्तते। अत्र श्रीचैतन्यमहाप्रभोः, श्रीधरस्वामिपादानां तथा स्वगुरोर्व्याख्यानां स्तरः समाविष्टः, अतः सारार्थदर्शिनी नाम्ना विख्याता।

१. हरिभक्तिरसायनम्–कविभक्तेन श्रीहरिसूरिणा रचिता ४९ अध्यायेषु निबद्धा पद्यात्मिका दशमस्कन्धस्य पूर्वार्धमधिकृत्य भागवतोपरि लिखिता टीका ललितविन्यासेन संवलिता।

एतदतिरिक्तं बहव्यः अन्याऽज्ञातज्ञातटीकाः सन्ति यत्र हनुमद्भाष्यम्, वासनाभाष्यम्, सम्बन्धोक्तिः, विद्वत्कामधेनुः तत्त्वदीपिका, परमहंसप्रिया, शुकहृदयश्चानेके व्याख्याग्रन्था सन्ति। एवं हि वल्लभ-निम्बार्कसम्प्रदाय-सम्बद्धानामनेकेषामाचार्याणां टीका व्याख्या ग्रन्था टिप्पण्यः निबन्धाश्चोपलभ्यन्ते। एतदतिरिच्य श्रीगङ्गासहाय-विद्यावाचस्पतिविरचिता 'अन्वितार्थप्रकाशिका' चूर्णिका प्रभृतिप्रसिद्धाः भागवतस्य ज्ञानाय परमोपयोगिन्यः टीकाश्च तथा साम्प्रतमपि नूतना टीकाः विद्वद्भिः लिखिता सन्ति।

अत्र स्वकीये शोधपत्रे श्रीधरप्रणीतां भावार्थदीपिकामधिकृत्य किञ्चिच्चर्च्यते। श्रीधरस्वामिपादानामियं टीका सर्वश्रेष्ठा सर्वप्राचीना च प्रतीयते। यथा प्रागेवोक्तं यत् श्रीमद्भागवतपुराणे बहुभिर्विद्वद्भिः स्वसम्प्रदायानुरोधेन टीका न्यबध्यन्त। प्रत्येकं व्याख्याकारः स्वविचारपोषणाय भागवतं व्याख्याति। एषु व्याख्याकारेषु भावार्थदीपिकाकारः श्रीधरस्वामी बहुमानं भजते।

यथा सुविदितमेव यद् ऋषयो देवाः पितरश्च क्रमेणाध्यात्ममधिदैवाधिभूत-राज्यस्य व्यवस्थापकाः। यथा समये समये देवानामाविर्भावो भवति तथैव ऋषिणामपि। भगवद्विभूतिस्वरूपा एते यथासमयं भगवत्तत्त्वप्रकाशनार्थमवतरन्ति। यतो हि भागवतं तु भगवतो विग्रहवदेव, (प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि) अतः तस्य सम्यक् प्रकाशनं तस्य सहाय्येन तत्कृपापात्राणां च सहाय्येनैव भवितुमर्हति।

श्रीमद्भागवतानुसारं वर्णाश्रमानुसारेण कर्म कुर्वन् जीवः हरिं भक्त्याऽऽराध्य तस्य प्रसन्नतां प्राप्तुं शक्नोति। अतः जीवन उपासनाया अतीव महत्त्वं, तदभावे किमपि कर्तुं न पार्यते। श्रीधरीटीकाया अनुशीलनेन ज्ञायते यदेते नृसिंहोपासकाः। टीकायाः प्रथम-द्वितीय-षष्ठ-सप्तम-स्कन्धस्य मङ्गलाचरणेनैतत्परिपुष्यति।

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित्तं नृसिंहमहं भजे ।। प्र. स्क.

यन्नामकीर्तनं दानतपोयोगादिसत्फलम् ।
तं नित्यं परमानन्दं हरिं नर नम स्मर ।। द्वि. स्क.
पुण्यारण्ये नृसिंहैकनाम सिंहो विराजते ।
यन्नादतः पलायन्ते महाकल्मषकुञ्जराः ।। ष. स्क
स्वभक्तपक्षपातेन तद्विपक्षविदारणम् ।
नृसिंहमद्भुतं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ।। स. स्क.

नृसिंहप्रसादादेव भागवतस्य गम्भीरार्थान् तस्य गम्भीरं भागवतं मर्म मद्-भक्तः श्रीधरो जानातीति स्वयमेव भगवता बिन्दुमाधवेन इत्थं प्रमाणितम् ।

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा ।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः ।।

परवर्तिना हिन्दीभाषाकविना भक्तनाभादासेनोल्लेखि भक्तमालग्रन्थे—

तीन काण्ड एकत्व सानि कोऽ अज्ञ बखानत ।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अवरथ वानत ।।
'परमहंससंहिता' विदित टीका विसतारयौ ।
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध वेद सम्मतहिं विचार्‌यौ ।।
परमानन्द प्रसाद ते माद्यौं सुन्दर सुधार दियौ ।
श्रीधर श्रीभागौत मैं धरम निरनै कियौ ।। (छप्पय ४४०)

पूर्वोक्तश्लोकानुसारं श्रीमद्भागवतकारो व्यासः, परीक्षितं राजानं प्रति तदर्थप्रकाशकः, शुकश्च, द्वावेतौ भागवतार्थं सम्यक् जानीतः । राजा तु जानाति न वेति संशयस्थानम् । श्रीधरस्तु सर्वमेव जानाति, नास्त्यत्र संशयलेशोऽपि ।

यद्यपि श्रीधरस्वामिनः भगवत्पादशङ्कराचार्यचरणानां अद्वैतमतस्यानुयायिनः किन्तु मतवैभिन्यादपि चैतन्यसम्प्रदाये तेषां टीकायाः समादरः, अस्या महत्त्वं प्रामाण्यं च द्योतयति । चैतन्यसम्प्रदायस्याचार्याः चैतन्यमहाप्रभुपादाः स्वमतस्य कृतेऽपि 'श्रीधरीटीका' प्रमाणभूता इति मन्यन्ते स्म । अतस्तैः स्वकीया काऽपि नूतना टीका न निरमायि । चैतन्यमहाप्रभुपादानां कीदृशी आस्था अस्यां टीकायां तत्तस्यैव वचने द्रष्टुं शक्यते । ते कथयन्ति स्म—यथा स्वामिनः (स्वभर्तुः) प्रतिकूला भार्या पतिव्रता भवितुं नार्हति, तथैव स्वामिचरणानां प्रतिकूले जने भागवतस्य मर्म ज्ञातुं कदापि न पारयति ।

आचार्यचरणानां गुरोर्नाम 'परमानन्द' आसीदित्यपि अस्याः टीकाया अनुशीलनेन ज्ञायते—'तं नित्यं परमानन्दं हरिं नर नम स्मर' । 'तमहं शरणं यामि परमानन्दमाधवम्' । 'नृसिंहमद्भुतं वन्दे परमानन्दमद्भुतम्' । तेषामाज्ञया एव काश्यां निवसताऽनेन भागवतोपरि टीका विरचिता । बाह्याभ्यन्तरप्रमाणैराचार्यचरणानां समयः चतुर्दशशताब्दमध्ये प्रतीयते ।

श्रीधरीटीकायां प्रसिद्धाचार्याणां चित्सुखाचार्याणां निर्देशः तथा प्रसिद्धविदुषां वोपदेवानां सङ्केतः कृतः तथा भक्तिरत्नावल्याः प्रणेतृभिः विष्णुपुरीमहाभागैः 'स्वकान्तिमाला' इति व्याख्यायां आचार्याणां भागवततात्पर्यं पूर्णतः स्वीकृतम्—

अत्र श्रीधरसत्तमोक्तिलिखने न्यूनाधिकं यत्त्वभूत् ।
तत् क्षन्तुं सुधियोऽर्हत स्वरचनालुब्धस्य मे चापलम् ।।

(भ. र. १३/१४)

एवं हि चैतन्यसम्प्रदायस्य आचार्यैः विश्वनाथचक्रवर्तिमहाशयैः स्वकीयायां सारार्थदर्शिन्यां टीकायां स्वगुरोः, चैतन्यमहाप्रभुपादानां तथा श्रीधरस्वामिमहाभागानां च व्याख्यानानां यत् सारः दर्शित इति लिखितम् । यथा पुष्पिकायाम्—

श्रीधरस्वामिनां श्रीमत्प्रभूणां श्रीमुखाद्गुरोः ।
व्याख्यासु सारसङ्ग्रहादियं सारार्थदर्शिनी ।।

इदानीं टीकाया अन्तरङ्गमवलम्ब्य किञ्चिदुच्यते श्रीमद्भिः श्रीधरस्वामिपादैः कृता या टीका तत्रादौ प्रत्येकस्कन्धस्य तथा प्रत्येकाध्यायस्यादौ ये श्लोकाः लिखिताः तेऽतीव महत्त्वपूर्णाः । तैरेव न केवलं तेषां गुरुपरम्परा, गुरुनिष्ठा, उपास्यदेवताविषये ज्ञानं भवति, अपि तु प्रत्येकस्कन्धस्य वैशिष्ट्यमपि ज्ञायते । 'यथा देहे तथा देवे यथा देवे तथा गुरौ' इति वचनानुसारं प्रायः प्रत्येकस्कन्धस्यादौ ये श्लोकाः सन्ति, तेषु समानरूपेण यथा गुरोस्तथैव प्रभोरपि महिमा वर्णितः ।

यथा सर्वे जानन्त्येव यद् भागवते पुराणानां दशलक्षणानि स्वीकृतानि । प्रायः सर्वैराचार्यैः तृतीयस्कन्धादारभ्य द्वादशस्कन्धपर्यन्तं दशलक्षणानि वर्णितानीति स्वीकृतम् । अत्र तृतीयस्कन्धे स्वामिपादैः द्वेधा श्रीमद्भागवतसम्प्रदायप्रवृत्तिः दर्शिता, एकतः सङ्क्षेपतः श्रीनारायणब्रह्मनारदादिद्वारेण, अन्यतस्तु विस्तरतः शेषसनत्कुमार-सांख्यायनादिद्वारेण । एवं हि चतुर्थे ईश्वराधीनैर्ब्रह्ममन्वादिभिः कृतोऽयं विसर्गः । वल्लभाचार्यमहाभागैरपि ब्रह्मकृद् जगज्जीवकृतः संसार इति प्रपञ्चस्य द्वैविध्यं स्वीकृतम् । तत्र प्रथमा सामान्या द्वितीया विशेषेत्यभिधीयते । ब्रह्मसृष्टिस्तु सर्गः, पौरुषसृष्टिः विसर्गश्च । भावार्थदीपिकायां स्थानलक्षणात्मकस्य पञ्चमस्कन्धस्य वर्णने कथितमस्ति यत् षड्विंशत्याध्यायेषु प्रियव्रतपुरस्सरैः भुवि द्वीपादिमर्यादा पालिता तथा त्रिभिः ज्योतिश्चक्रादिकीर्तनं त्रिभिश्च अतलादिषु दैत्यानां पालनं एवं षष्ठे ऊतिः सप्तमे पोषणं, अष्टमे मन्वन्तराणि, नवमे ईशानुकथा वर्णिता । अस्यां टीकायामतिलङ्घितमर्याद-भक्तरक्षणं पोषणं तत्कर्मानुसारिणी वासना ऊतिः महतां कोपादनुग्रहाच्चाशुभाशुभा इति द्विधा स्वीकृता यतो हि स्वायम्भुवाद्या मनवः प्रवर्तयन्ति सद्धर्मान् पालयन्त्याचरन्ति च, अतो मन्वन्तरस्योक्तं सद्धर्म इति । सद्धर्मास्तु सत्त्वशोधकाः । सद्धर्मशुद्धसत्त्वाना-मन्तरङ्गेशसत्कथा सूर्यसोमान्वयाख्यानैः सङ्गतोच्यते ।

उपर्युक्तक्रमेण दशमस्कन्धे निरोधलक्षणं भवितुमर्हति शुद्धाद्वैताचार्यैर्वल्लभचरणैरेतत् स्वीकृतमपि किन्तु स्वामिपादा अत्र आश्रयतत्त्वं स्वीकुर्वन्ति—

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम् ।
क्रीडद्यदुकुलाम्भोदौ परानन्दमुदीर्यते ।।

अत्र दशमस्कन्धे भगवान् भक्तानुरूपं स्वानन्दमयीं लीलां प्रकाश्य जीवानां मनांसि आकर्षयति नास्त्यत्र विसंवादः । स्वात्मानं प्रति आसक्त्योत्पादनमेव तस्य लक्ष्यम् । अत्रापि सः कुत्रचिद् ध्यानाश्रयः कुत्रचित् प्रलयाश्रयश्च । अत एव केचन आचार्याः मन्यन्ते यद् सर्गविसर्गादिवर्णने स्कन्धक्रमविवक्षतो नास्ति । स्वसौन्दर्यमाधुर्ययोः प्रकाशेन भक्तमानसं बलादाकृष्य स्वात्मनि तस्य सर्वार्थावरोधनमेवं भगवत्क्रीडा वर्तते । केनाऽपि नाम्नाऽस्य सम्बोधनं स्यात्, सा तु जीवानां परमाश्रयस्वरूप एव, स एव भगवान् ध्यानाश्रयः प्रलयाश्रयश्च ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणैः 'तत्त्वार्थदीपनिबन्धे' लिखितं यत् श्रुतिगीता 'वेदस्तुतिः' भगवद्यशो गायति । किन्तु भावार्थदीपिकायां वेदान्तदर्शनरीत्या वेदस्तुतेर्व्याख्या कृता । तत्र सर्वत्र सिद्धान्ततः औपनिषदद्वैतमेव स्वीकृतम् । प्रत्येकश्रुत्युपरि श्लोकोऽपि लिखितः स्वामिपादैः । सिद्धान्तेऽद्वैतं साधने भक्तिरिति भागवतस्य स्वकीयं वैशिष्ट्यम् । भक्तौ श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां स्वतः समावेशो भवति, यतः सा भगवद्वासनातिरिक्तं अन्यद् सर्वं निवर्तयति । भजनीयस्वरूपमपि स्पष्टीकरोति । एवं श्रीधरस्वामिमहाभागैः सर्वत्र भागवते ज्ञानमाहात्म्यं सर्वथा स्वीकृतम् । उत जीवगोस्वामिभिः भागवतस्य रचना ब्रह्मसूत्राणां स्फोटस्य कृते तथा श्रीवीरराघवाचार्यैः वेदान्तार्थोपबृंहणाय स्वीकृता । मध्वसम्प्रदायाचार्या विजयध्वजतीर्थाः वेदान्तविस्तारं स्वीकुर्वन्तः एतदपि व्यलिखन् यद् ब्रह्मसूत्राणामध्ययनस्याधिकारः सर्वजनसुलभो नासीदत श्रीमद्भागवतं व्यरचि । शुद्धाद्वैत-गौडीयसम्प्रदायाचार्यैः वल्लभाधीशचरणैस्तथा आचार्यविश्वनाथचक्रवर्तिप्रभृतिभिः भक्तेः श्रेष्ठताज्ञापनाय ग्रन्थस्य रचना जाता इति स्वीकुर्वन्ति ।

श्रीधरस्वामिपादैः भागवतारम्भे स्वकीये मङ्गलाचरणे श्लोकद्वयमुपाप्तम् ।

माधवोमाधवीशौ सर्वसिद्धिविधायिनौ ।
वन्दे परस्परात्मानौ परस्परनुतिप्रियौ ।।
सम्प्रदायानुरोधेन पौर्वापर्यानुसारतः ।
श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यते ।। –देवपञ्चके ।

पुराणेषु प्रायः विशिष्टदेवं प्रतिपाद्य विशेषेण हरिहरयोर्मध्ये भेदो न कर्तव्य इति पौनःपुन्येन निरूपितम् । इयमेव सरणी स्वसम्प्रदायमवलम्ब्य स्वकीयायां भावार्थदीपिकाटीकायां स्वामिपादैः प्रदर्शिता । किन्तु अन्यटीकासु कुत्रचित्

स्वसम्प्रदायानन्यताभिप्रायादुल्लङ्घनमपि दृश्यते। यथा निश्चयेनाचार्याणां विजयध्वजतीर्थानां व्याख्या वैदुष्यपूर्णा लोकोत्तरा अपूर्वा च नास्त्यत्र सन्देहलेशः, किन्तु सम्प्रदायाकृष्टचेतसा रागद्वेषाक्रान्ततया तैः कुत्रचित् स्थलेषु प्रकरणविरुद्धमपि व्याख्यानं कृतम्—यथा चतुर्थस्कन्धे तपःकर्तुमुद्यतान् प्राचेतसान् दृष्ट्वा तत्सङ्कल्पसिद्धये भगवत्प्राप्तये च योगादेशाख्यं रुद्रगीतं तेभ्य उपदिष्टवान् भगवान् शिवः—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्।
विरिञ्चितामेति ततः परं हि माम्।।

इति पद्यस्य व्याख्यानं कुर्वद्भिः तीर्थैः प्रसङ्गात् प्राप्तमपि अस्मद् पदवाच्यं श्रीशिवमुपेक्ष्य मां श्रियमेतीति व्याख्यातम्। तस्मिन्नेव चतुर्थस्कन्धे मूर्तित्रयेण अत्रिसमक्षं प्रत्यक्षीभूय भगवता स्पष्टतया 'उक्तं 'यद्वै ध्यायति ते वयमिति'। ते वयं त्रयोऽपि तदेकं तत्त्वं नास्माकं भेदोऽस्ति। एतादृशी साम्प्रदायिकता भावार्थदीपिकायां तु सर्वथा दुर्लभा एव। अनेनैव कारणेन आचार्यवंशीधरशर्मणा अस्योपरि टिप्पणी कुर्वता स्पष्टमेव लिखितम्—अत्र तीर्थैर्यदुक्तं सार्वत्रिकाद् चारुवद् भातीति। अस्याः भावार्थदीपिकाटीकायाः पक्षपातराहित्यादेव विद्वन्मूर्धन्यैः वैष्णवाचार्यैः श्रीजीवगोस्वामिपादैरपि यथा प्रकरणं तट्टीकायाः प्रतीकान्युधृत्य स्पष्टतया भावः स्फुटीकृतः। अन्यैष्टीकाकारैरपि श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिभिः गङ्गासहायविद्यावाचस्पतिभिः वंशीधरशर्मभिः स्वामिचरणैरित्युक्त्वा महानादरः सूचितः।

अस्या भावार्थदीपिकाटीकाया एकमन्यं वैशिष्ट्यं यत् श्रीमद्भागवतस्य प्रसङ्गायातपरपक्षीयदैत्यादिकृतभगवद्भक्तनिन्दनादि अनुलक्ष्य श्रीधरस्वामिभिर्वाग्देव्याभिप्रेतार्थस्तु इत्युपक्रम्य निन्दापदान्यपि स्तुत्यर्थन्तरपराणि प्रदर्शितान्येव—यथा हिरण्याक्ष प्रसङ्गेः स भगवन्तं प्रति कथयति—'जहास चाहो वनगोचरो मृगः'। अत्र वारिचरो वराहः, इत्युक्त्वा आक्षिपति किन्तु स्वामिपादैः लिखितं यद् हिरण्याक्षेनाधिक्षेपार्थं प्रयुक्ताऽपि भारती भगवन्तं स्तौति। तथा हि वनगोचरो जले शयानः श्रीनारायणः स एव योगिभिर्मृग्यते, दुष्टान् वा हन्तुं मृगयत इति मृगः। एवं हि तत्रैवाग्रेऽपि 'अज्ञः' नास्ति ज्ञो यस्मात् सर्वज्ञेत्यर्थः सुराधमः—सुरा अधमा यस्मात् हे सुरोत्तम, अपरोक्षजितं—चौर्येण जयति। दूरतः एव स्थित्वा जयते।

पुनरग्रेऽपि दक्षप्रसङ्गे (सतीचरित्रवर्णनप्रसङ्गे) यत्र दक्षः शिवमाक्षिपति तत्राऽपि यथा केचन यशोघ्नः—परमतेजस्वित्वात् तद् यश आच्छादकः निरपत्रपः—निर्गता अप समन्तात् त्राणं रक्षणं येषां तान् अत्रपान् रक्षकहीनान् पातीति।

ततः परं शिशुपालप्रसङ्गेऽपि यत्र शिशुपालः श्रीकृष्णस्य निन्दां करोति, तत्रापि स्तुति एव—

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्या कथमर्हति ।।

गोपालः—वेंदपृथिव्यादिपालकः जितेन्द्रियः हृषीकेश एव ।

कुलपांसनः—कुत्सितं वेदविपरीतं लपन्तीति कुलपाः पाखण्डास्तान् अंसते समाघातयति इति सः, अकाकः कं च अकं च काके सुखदुःखे ते न विद्येते यस्य सः अकाकः आप्तकामः । यथा आप्तकामो देवयोग्यं केवलं पुरोडाशमात्रं नार्हति, अपि तु सर्वस्वमपि तथाऽयं श्रीकृष्णोऽपि ब्रह्मर्षियोग्यं सपर्यां कथमर्हति किन्त्वात्मसमर्पणमर्हति । वर्णाश्रमकुलोपेतः ब्रह्मत्वात्, सर्वधर्मबहिष्कृतः—स्वैरवर्ती परमेश्वरत्वात् । 'अनामगोत्रं'—श्रुतिः ।

अत्रावधेयं यथा श्रीधरस्वामिपादैः प्रतिज्ञातं—सम्प्रदायानुरोधेन पौर्वापर्यानुसारतः । श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यते ।। उपर्युक्तप्रसङ्गे श्रीधराचार्यमहाभागैः स्वटीकायां सम्प्रदायानुसारेण भागवतस्य यत् प्रतिपाद्यं अद्वैतसमन्वितभक्तियोगसंरक्षणं कृतम् । भागवतस्य सिद्धान्तपक्षस्तु अद्वैत एव किन्तु साधनपक्षस्तु भक्तिरेव ।

यथा पूर्वोक्तप्रकरणे निर्गुणनिर्विकारब्रह्मणि स्तुतिः निन्दयोर्मिथ्यात्वमेव । केवलं वाणीविलासम् । निर्गुणब्रह्म तु सर्वथा निरपेक्षमेव । अतः ज्ञानदृष्ट्या अद्वैतब्रह्मणि स्तुतिनिन्दयोर्न किमपि प्रयोजनम् । इदानीं भक्तिदृष्ट्या विचार्यते—भागवते स्पष्टमुक्तं यत्—येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् । स्नेहाद् द्वेषाद् भयात् कामाद् वा तस्योद्धारस्तु भवत्येव । स्वामिपादैरतिलङ्घितमर्यादलक्षणं पोषणमिति उक्तम् । एवं हि भागवतेऽपि 'पोषणस्तदनुग्रहः' इति परिभाषितम् । यथाऽजामिलप्रसङ्गे पुत्रव्याजेन कृतेन नारायणेति नामोच्चारेण तस्योपरि भगवदनुग्रहो जात इति सर्वे जानन्त्येव । एवं हि हिराण्याक्ष-दक्ष-शिशुपालप्रभृतीनां प्रसङ्गेऽपि स्वभूमिकानुसारं तेषां तै किमुक्तमिति नास्ति महत्त्वपूर्णम् । भक्तिशास्त्रानुसारं तु भगवत्स्वभाव एव अनुग्रहस्य । श्रद्धया हेलया वा कथमपि नामग्रहणपूर्वकं यदि भक्तः स्तौति निन्दति वा तत्र वस्तुतः भगवद्बलं प्रमेयबलं कार्यते, न तु प्रमातुः भक्तस्य वा बलम् । अतः निन्द्याक्षराण्यपि स्तुत्याक्षराणि भवन्ति, तस्य अचिन्त्यलीलस्य वाक्शक्त्या । यथा स्वामिपादा अधिक्षेपार्थं प्रयुक्ताऽपि भारती स्तौतीत्येति । यतो हि श्रीधरस्वामिनः अद्वैतवादिनः, अतो यथा मङ्गलाचरणे माधवं उमाधवं समानरूपेण स्तौति, तथैव हिरण्याक्षकृतयज्ञवाराहस्य निन्दायाः, दक्षकृतशिवनिन्दायाः, शिशुपालकृतकृष्णनिन्दाया अथवा अन्यत्रापि समानरूपेण स्वकीयां टीकायां पक्षपातरहिता विवेचना कृता ।

अत्रेत्यप्यवधेयं यत् स्वामिपादाः न केवलं पदान्यनुवदन्ति, अपि तु गूढार्थविवेचनपुरस्सरं तानि व्याख्यानमपि । न केवलं शुष्केण तर्केण, अपि तु

स्वानुभवसरण्या अप्रत्यक्षानपि पदार्थान् प्रत्यक्षीकुरुते भागवतपुराणस्यैकादशस्कन्धे द्वाविंशतितमेऽध्याये वृत्तिविवेचनावसरे श्रीधरस्वामिपादैर्या मनसो वृत्तिर्वर्णिता, सा तु केवलमनुभूतिगम्या। तेषामनुसारं मनोलिङ्गशरीरं तच्चाहङ्कारावेष्टितं सच्छ्रवणविषयगतान् चक्षुर्गोचरांश्च पदार्थान् चिन्तयति। क्रमशश्च मनसश्चिन्तनक्रियायां शैथिल्यमुपजायते। देहान्तरगतश्च मनः पूर्वजन्मानुभावान् विस्मरति तदेव मृत्योरत्रात्यान्तिकी विस्मृतिः।

अन्ते च सर्वमान्या कृतिः गुरोरनुग्रहेण तथा भगवत्कृपया विना न निर्मीयते। द्वयोरपि कृपा परस्परसापेक्षा। भगवदानुग्रहेणैव सद्गुरो प्राप्तिः गुरुप्रसादेन भगवत्साक्षात्कारो भवति। अस्यां टीकायां सर्वत्र समानरूपेण उभयत्र निष्ठा दृश्यते, यथा मङ्गलाचरणे—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।।

अत्र परमानन्दस्वरूपं माधवं अथवा परमानन्दैव माधवः तं, तं परब्रह्मरूपिणं गुरुं वन्दे। विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे परमेश्वरस्यानेकानि नामानि तत्र एका पङ्क्तिरायाति— 'अमानी मानदो मान्यः.........' एतानि तस्य गुणविशेषप्रकाशकानि नामानि। अतः आमानी निरभिमानी एव तस्य गुरोर्वा प्रियो भवितुमर्हति। यथार्थ अद्वैतानुयायी एव निरभिमानित्वाद् रागद्वेषरहितो भूत्वा मानदो भवति, येन सर्वमान्यत्वं च लभते।

अतः यथा भागवतं सम्प्रदायनिरपेक्षत्वात् सर्वेषां कृते समादरणीयं सर्वग्राह्यं सर्वोपकारकं तथैव श्रीधरस्वामिपादानां भावार्थदीपिका टीकाऽपि विष्णुवैष्णवसम्मता सर्वग्राह्या स्वस्वसम्प्रदायसिद्धान्तसंरक्षणतत्परैरपि समादृता पुराणेषु भागवतवट्टीकासु ललामभूतेति नास्ति सन्देहलेशः।

श्रीमद्भागवतेऽद्वैतपरिशीलनम्

डॉ. हरिप्रसाद अधिकारी

❋❋❋

श्रीमद्भागवतमहापुराणमष्टादशपुराणेषु मूर्धन्यं विद्यत इत्यत्र नास्ति विदुषां विमतिः। भगवान् व्यासः महाभारतादीन् ग्रन्थानितरपुराणानि विरच्यापि शान्तिं न लेभे। आह स नारदं प्रति—

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे[1]। व्यासवचांसि श्रुत्वा श्रीनारदः वासुदेवगुणानुवादयुतं श्रीमद्भागवतमहापुराणं रचयितुं तमुपदिदेश। एतत्कथया सिध्यति पुराणस्यास्यानितरसाधारणवैशिष्ट्यम्। **विद्यावतां भागवते परीक्षा** इत्याभाणकेनाप्यस्य पुराणस्य वैशिष्ट्यं सिध्यति। इदं पुराणं मुख्यतः श्रीकृष्णस्य भगवतः लीलावर्णनपरं भक्तिमयं द्वैततत्त्वप्रतिपादकं मन्यते। अत एव सर्वे द्वैताचार्याः श्रीमद्भागवतं परमप्रमाणत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति। यदा ग्रन्थेऽस्मिन्नद्वैततत्त्वान्वेषणायायं जनः प्रवृत्तः तदा महदाश्चर्यं संवृत्तम्। स्थाने स्थाने क्वचित्साक्षात्क्वचिच्च परम्परया सङ्केतरूपेण वाद्वैततत्त्वस्य निगुर्णस्य निर्विशेषब्रह्मणो वा वर्णनं प्राशस्त्येन समधिगतमभूत्। ततश्च पुराणमिदं न केवलं द्वैताचार्याणामेवापि त्वद्वैततत्त्वोपासकानाञ्च तथैव समादरणीयमिति निष्कर्षः समधिगतः। अत्र तावत् समासेनाऽद्वैतनिर्गुण-निर्विशेषत्वादिप्रतिपादकप्रसङ्गानां दिङ्निर्देशं चिकीर्षामि। प्रथमस्कन्धस्य तृतीयाध्याये निर्विशेषस्य सदसद्विलक्षणस्य मायावरणरहितस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणः सङ्केतः कृतः व्यासदेवेन। तद्यथा—

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम्[2]॥

एवञ्च वस्तुतस्तु परब्रह्म ईश्वरो वा अकर्ता अभोक्ता अजन्मा चास्ति तथापि लोकहिताय तस्य जन्मादिरहितस्यापि जन्मकर्माणि पूर्ववर्तिभिः कविभिः वर्णितानि व्यावहारिकदृष्ट्येति सूचयन्नाह व्यासदेवः—

---

१. स्कन्ध-५/अध्याय-५/श्लोक-५।
२. स्कन्ध-१/अध्याय-३/श्लोक-३३।

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते:[१] ।।

अपि च—

जन्मकर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम्[२] ।।
कचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये[३] ।

एभिः कथनैरिदं सूच्यते यत् श्रीव्यासदेवोऽपि जानीतेऽथवा मनुते यद् वस्तुतस्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्य ब्रह्मणः प्राकट्यमसम्भवम्, तत्रानिर्वचनीयमायागुणकारणादेव जगत्प्रपञ्चात्मकं द्वैतमवभासते। सः पुराणपुरुषस्तु विशेषहीनः रराज। गुणसंसर्गजन्यैव प्रपञ्चे तस्य प्रवृत्तिरिति सूचयतोक्तं बादरायणेन—

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु[४] ।।

ज्ञानिना स्वतःसिद्धस्यात्मन एवोपासनं कार्यमिति प्रतिपादयता सेव्यसेवकयोर्भेदो निराकृतः शुकदेवेनापि। एतेनापि श्रीमद्भागवतस्याद्वैतप्रतिपादनपरत्वं स्फुटं सिध्यति। तद्यथा—

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र[५] ।।

मायोपहितमात्मानं समष्टिरूपात्मनि संवेश्य जनः सेव्यसेवकरूपादिकर्मणः विरमेतेति स्पष्टं समुदीरितं तत्रैव—

आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्[६] ।
न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम्[७] ।।

एवमेव ज्ञानिन आत्मना आत्मानमेवोपयान्ति। स च समष्टिरूप आत्मा कूटस्थः सन्नपि मायाबलेन जगत्प्रपञ्चोत्पत्तिस्थितिनाशहेतुर्जायते।

---

१. स्कन्ध १ अध्याय-३/श्लोकः ३५ ।
२. स्कन्ध-१/अध्याय-८/श्लोक-३० ।
३. तत्रैव श्लोकः-३२ ।
४. स्कन्ध-१/अध्याय-१०/श्लोक-२७ ।
५. स्कन्ध-२/अध्याय-२/श्लोक-६ ।
६. तत्रैव श्लोक-१६ ।
७. तत्रैव श्लोक-१७ ।

द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मणा निरूपितमद्वैततत्त्वं मननीयं श्रीमद्भिः—

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।
शब्दो नु यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना[1] ।
तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः[2] ।।

सर्वोत्पत्तिकारणभूतोऽपि परमात्मा अज इत्युच्यते । यश्च स्वयमजः सः कथं सृष्टिकर्मणि प्रवृत्तः ? एवंविधाः प्रश्नाः अपि श्रीमद्भागवते बहुत्रोपस्थापिताः । तस्य नामरूपादिहीनस्य अजनस्य अकर्तुः ब्रह्मणः प्रवृत्तौ त्रिगुणात्मिका मायैव कारणमिति समाधिरपि तत्र प्रदर्शितः ।

भक्तिमार्गानुसारं भगवतः पर-नित्य-विभवान्तर्याम्यर्चारूपेण पञ्चविधरूपाणि भवन्ति ।

भक्ताः सर्वेषु रूपेषु भगवद्रूपेण समानां श्रद्धां धारयन्ति । तत्र मोक्षावाप्तिदशायामपि भगवतो नित्यकैङ्कर्यत्वमेव काङ्क्षितम् । तद्विपरीता श्रीमद्भागवतोक्तिरवलोकनीया श्रीमद्भिः—

आर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्[3] ।।

न केवलमेतदेवापि तु यः स्वात्म-परात्मनोर्भेदं पश्यति, तत्र पार्थक्यं पश्यति, तस्य भिन्नदृष्टियुतस्य कृते मृत्युरुल्बणं भयं जनयति । अद्वैतदर्शनयुक्तस्य तु न मृत्युभयं भवतीत्यपि स्पष्टतयोदीरितं श्रीमद्भागवते—

आत्मनश्च परस्यापि यः करोऽत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्[4] ।।

श्रीमद्भागवते परब्रह्म निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं ज्ञप्तिमात्रं भवतीति स्पष्टतयोदीरितम् । एतेनापि श्रीमद्भागवतमद्वैततत्त्वप्रतिपादनेऽपि दत्तावधानमस्तीति सिध्यति । यथोक्तं दशमस्कन्धस्थायां मुकुन्दस्तुतौ—

तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमः सत्त्वगुणानुबन्धनाः ।

---

१. स्कन्ध-२/अध्याय-७/श्लोक-४७ ।
२. तत्रैव श्लोक-४८ ।
३. स्कन्ध-३/अध्याय-२९/श्लोक-२५ ।
४. तत्रैव श्लोक-२६ ।

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्[१] ।।

कपिलोपाख्याने श्रेष्ठभागवतवर्णनप्रसङ्गे निगदितम्—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः[२] ।।

जीवमुक्तपुरुषलक्षणं प्रतिपादयता समुल्लिखितं वेदव्यासमहोदयेन—

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्[३] ।।

यथोपनिषदि मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यतीत्यादिवचनैर्द्वैत-निराकरणपूर्वकमद्वैतं व्यवस्थापितम्, तथैव श्रीमद्भागवतकारा अपि पारमार्थ्येनाद्वैतं प्रतिष्ठापयितुमीहन्त इति प्रतीयते। अवलोकनीयं श्रीमद्भागवतम्—

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च[४] ।।

श्रीमद्भागवतमहापुराणं स्ववैशिष्ट्येन वस्तुतः सर्वाण्यन्यपुराणान्यतिशेते। विषयदृष्ट्या भाषादृष्ट्या च न किमपि श्रीमद्भागवतसमतां लब्धुं प्रभवति। अन्यानि पुराणानि प्रायस्तत्तत् सम्प्रदायानुयायिभिरेव समाद्रियन्ते समाश्रियन्ते च। किन्तु श्रीमद्भागवतं न केवलं द्वैतपथानुयाभिर्वैष्णवैरेव समाश्रियतेऽपि त्वद्वैतपथपथिका अपि पुराणमिदं परमश्रद्धया समुपासते। तद्रहस्यमवलोकनीयं श्रीमद्भिः—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमनागपि ।
तदन्यकल्पनाऽपार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः[५] ।।

अपि च

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः[६] ।।

अपि च—

---

१. स्कन्ध-१०/अध्याय-५१/श्लोक-५७।
२. स्कन्ध-११/अध्याय-२/श्लोक-४५।
३. स्कन्ध-११/अध्याय-३/श्लोक-५२।
४. स्कन्ध-११/अध्याय-१८/श्लोक-३२।
५. स्कन्ध-११/अध्याय-२२/श्लोक-११।
६. स्कन्ध-११/अध्याय-२८/श्लोक-६।

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि[१] ।।

इत्थं समासेन श्रीमद्भागवतेऽद्वैतपरिशीलनमिति शीर्षकेण प्राथम्येनात्राद्वैत-सिद्धान्तोल्लेखः यत्र तत्र समुज्जृम्भत इति सप्रमाणं निरूपितम्। तच्चाद्वैततत्त्वं कुत्र कुत्र कया रीत्या कस्मिन् प्रसङ्गे निरूपितम्। ब्रह्मसूत्रदृष्ट्यात्र को भेदः ? शङ्कराद्वैतेन च किमस्य वैलक्षण्यम्। प्रातिभासिक-व्यावहारिक-पारमार्थिकसत्तानां निरूपणं विवर्तवाद-परिणामवादविवेचनमित्यादयोऽद्वैतवेदान्तविषयाः कियन्मात्रयात्र विवेचिता इति बोधार्थं कश्चन विशिष्टः प्रयत्न आवश्यकः। समुद्रे रत्नांस्तित्वबोधानन्तरमेव तत्प्राप्तये यतते लोकस्तथैवात्राप्यस्माभिः प्राथमिक-प्रयत्नेनैवाद्वैततत्त्वस्य प्रबलोल्लेखः समधिगतः। साम्प्रतमेतस्य लेखस्योपसंहार चिकीर्षामि पद्येनैकेन भागवतीयेन—

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी ।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः[२] ।।

---

१. स्कन्ध-११, अध्याय-२८ श्लोक-७।
२. स्कन्ध-१२/अध्याय-४/श्लोक-२०।

श्रीमद्भागवते षोडशकलाविशिष्टः श्रीकृष्णः

डॉ. भगवतशरणशुक्लः

❁❁❁

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ।।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे[1] ।।

भगवतो श्रीमन्नारायणस्य यद्यपि बहवोऽवताराः सन्ति । येषु केचन कलावताराः केचनांशावताराः केचन पूर्णावताराः । तत्र ऋषिमनुदेवप्रभृतयः पूर्वोक्ताः कलावताराः वराहनृसिंहकच्छपप्रभृतयः रामकृष्णभिन्नाः चतुर्विंशतिसंख्याकाः अंशावताराः सन्ति रामस्य कृष्णस्य चावतारः पूर्णावतारः भगवतः श्रीरामस्य मर्यादापुरुषोत्तमावतारो भगवतश्श्रीकृष्णस्यावतारो लीलापुरुषोत्तमरूपश्च विद्यते ।

श्रीमद्भागवतपुराणं भगवतश्श्रीन्नारायणस्य वासभूमिरस्ति । उक्तं च तथा पद्मपुराणे—

इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभाषेऽचिन्तयद्धरिः ।
भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च ।।
स्वकीयं यद्भवेत् तेजस्तच्च भागवतेऽधात् ।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ।।
तेनेयं वाङ्मयी मूर्त्तिः प्रत्यक्षा वर्त्तते हरेः ।
सेवनाच्छ्रवणात् पाठाद्दर्शनात् पापनाशिनी[2] ।।

एतस्मिन् पुराणे माधवरूपश्रीमन्नारायणचरितवर्णनसन्निधाने गङ्गायमुना-सरस्वतीस्वरूपतां ज्ञानवैराग्यभक्तीनां त्रिवेणी प्रवहन्ती विद्यते । यत्र भावुकाः रसिका अवगाहनं विधाय स्वमानवजीवनं सफलयन्ति । श्रीमन्नारायणस्य अवताराः वराहमत्स्य-

---

१. श्रीमद्भागवते १/३/२७,२८ ।
२. श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये ३/६०-६२ ।

विष्णुकूर्मप्रभृतिषु विविधेषु पुराणेषु यथा वर्णिताः, तथैव श्रीमद्भागवतेऽपि वर्णिताः, किन्तु श्रीमद्भागवते तेषामवताराणां वर्णनमर्थवादवाक्यगुम्फनविरहितं सत्यनिष्ठं विद्यते। तथैव भगवतः श्रीकृष्णस्य वैभवमपि वास्तविकत्वेनैव वर्णितम्। प्रतिजानाति च तथा स्वयं श्रीमद्भागवतकारः—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिश्शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्[1] ।।

अनेन ज्ञायते यत् श्रीमद्भागवतपुराणे यत्किमपि वर्णितं तत्सर्वं सत्यादतिरिक्तं नास्ति। श्रीमन्नारायणस्य यद्यपि सर्वेऽपि अवताराः उपास्याः भक्तजनैस्तथापि भगवति रामे भगवति कृष्णे च तेषां श्रद्धाभक्त्योरतिशयत्वमवलोक्यते। यथा शुष्कतृणपुञ्जदहने अल्पोऽप्यग्निस्तथैव समर्थः यथा दावाग्निः। किन्तु यस्य समीपे अधिकमिन्धनं भवति तस्य स्वरूपं बृहद् दृश्यते, यस्य च पार्श्वेऽल्पमिन्धनं भवति तस्य स्वरूपमपि सूक्ष्मं दृश्यते। एवमेव यस्यावतारप्रयोजनमल्पकार्यसम्पादनायासीत् तस्य लीलाः अल्पाः सञ्जाताः यस्य प्रयोजनमधिककार्यसम्पादनायासीत्, तस्य लीला अपि अधिकाः सञ्जाताः। एताः लीला एव तेषामवताराणां कलाविशेषो वक्तुं शक्यन्ते। इत्थं नास्ति यदवतारेषु सामर्थ्यभेदो विद्यते। परशुरामः रामश्च यथा एकस्यैव नारायणस्यावतारौ किन्तु रामस्यावतारस्य प्रयोजनानि बहूनि आसन् फलतस्तेषां सम्पादनाय परशुरामस्यापि योगदानं सञ्जातं तेनाल्पमतयो जनाः परशुरामाद्राममधिकं वदन्ति। किन्तु तत्त्वत उभावपि एकमेव श्रीमन्नारायणस्य तत्त्वरूपे वर्तेते। प्रयोजनानुसारेण श्रीमन्नारायणस्स्वेष्ववतारेषु कलाः प्रकटयति।

परब्रह्मणः षोडश कलाः सन्तीति सर्वे वेदादिसद्ग्रन्थाः वदन्ति। यथा यजुर्वेदे—

'यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया सः रयाराजस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'[2]। अर्थाद् यस्माद् ब्रह्मणः पूर्वं किञ्चन= किमपि न जातमेव यश्च प्रजापतिरूपः परमात्मा (परम्ब्रह्म) सर्वाणि भुवनानि समन्ताद् भावयामास। स षोडशी = षोडशावयवलिङ्गशरीरी प्रजापतिः स्वोत्पादितप्रजया सह रममाणः सूर्यचन्द्राग्निरूपाणि त्रीणि ज्योतींषि सचते = सेवते।

प्रश्नोपनिषदि ऋषिः कथयति 'षोडश कलं भारद्वाज पुरुषं वेत्य........तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन् नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति'

१. श्रीमद्भागवते १/१/२।
१. यजुर्वेदे ३२/५।

काश्च ताः इति प्रश्ने कथयति यत् 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रः कर्म लोका लोकेषु च नाम च'[१]।

अनेनात्र प्राणाः श्रद्धा आकाशं वायुः ज्योतिः, जलं पृथिवी इन्द्रियं, मनः, अन्नं वीर्यं तपः मन्त्रः, कर्म, लोकः, नाम इति षोडश कलाः फलिताः भवन्ति। एताभिः कलाभिः विशिष्टः परमात्मा अण्डजपिण्डजस्वेदजोद्भिज्जेति चतुर्विधेषु योनिषु जीवान् उत्पादयति। तत्र स्वेदजजीवाः प्राणमपकलातः विशिष्टाः मक्षिकामशकजूलीक्षा-प्रभृतयोऽन्नकोशरूपकलया स्वकर्म विदधति। तथैवाण्डजाः पक्षिसरीसृपप्रभृतयो जीवाः, अन्नप्राणाभ्यां सह मनोमयकलातो विकसितः स्वकार्यं सम्पादयन्ति एवमेमोद्भिज्जा अपि अन्नमेव (भोजनमेव) वाञ्छन्तो वृक्षलतागुल्मवनस्पतयः स्वकीयं प्रयोजनमन्नकलातः साधयन्ति। जरायुजयोनिषु प्रमुखाः पशवो मनुष्याश्च भवन्ति। तत्र पशुषु अन्नप्राणमनोभिः सह विज्ञानमयकला अतिरिक्ता भवति। तेनैतेषु वैचारिकगुणानां विकासो दृश्यते। अत एव श्वाश्वहस्तिकपिषु मानववत् कासाञ्चित् क्रियाणां स्वामिभक्तित्वादीनां विविधमनोरञ्जककलाशिक्षण-प्रगतिश्च दृश्यते। अत एव पशुभिर्बहुज्ञाः अनेकाः कलाः प्रदर्शयन्ति।

मानवोऽन्नप्राणमनोविज्ञानरूपाभिश्चतुष्कलाभिः सह आनन्दमयकलया सह अतिशायिनी, विपरिणामिनी सङ्क्रमिणी इति कलाभिरपि विशिष्टः सन् सम्पूर्णब्रह्माण्डस्य प्रतिनिधिर्भवति। इत्थं पूर्वोक्ताः अष्टौ कलाः मानवेषु चतस्रोऽन्तप्राणमनोविज्ञानमपकलाः पशुषु, तिस्रोऽन्नप्राणमनोमयकलाः अण्डजेषु पक्षिसरिसृपप्रभृतिषु, द्वेऽन्नप्राणमयकले स्वेदजमक्षिकामशकजूलीक्षाप्रभृतिषु एकान्नमयकला उद्भिज्जेषु वृक्षलतागुल्मवनस्पतिषु भवति। भगवतोऽवतारेषु चैताभिः अष्टाभिः सह अन्याः कलाः यावत्यः प्रयोजनानुसारेण भासन्ते तावद् वैशिष्ट्यमवताराणां समुपासकेषु प्रज्ञेषु दृश्यते। रामावतारे तावद् अत्यधिकप्रयोजन-साधनस्य सत्त्वाद् द्वादशकलाः कृष्णावतारे च सर्वाधिकप्रयोजनसाधनस्य सत्त्वात् तत्र षोडश कलाः आयान्ति। ताश्च षोडशकला अखिले ब्रह्मनिर्मिते ब्रह्माण्डे सन्ति ब्रह्मस्वरूपत्वाद् ब्रह्माण्डस्य। अत एव श्रीकृष्णः पूर्णं ब्रह्मणोऽवतार इति विज्ञाः वदन्ति।

षोडशकलानां विषयेऽपि विभिन्नाः प्रकारा दृश्यते। यथा प्रश्नोपनिषदि पूर्वोक्ताः अन्नप्राणमनोनभोवायुज्योतिजलपृथिवीन्द्रियवीर्यतपोमन्त्रश्रद्धाकर्मलोकनामप्रभृतयः सन्ति। एवमेव धर्मदिग्दर्शने माधवाचार्योऽन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दातिशायिनी विपरिणामिनी विकासिनी मर्यादिनी संह्लादिन्याह्लादिपरिपूर्णस्वरूपावस्थितरूपाः षोडशकलाः कथितवान्[२]। एकत्र च—

---

१. प्रश्नोपनिषदि षष्ठे प्रश्ने।

२. द्वितीयभाग पृ. ३७५।

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रतिरङ्गदा ।।
पूर्णा पूर्णामृता कान्तिदायिनी स्वरजाः कलाः ।

एषाः षोडशकलाः एवम्भूताः लिखिताः सन्ति । एवमेव जैमिनीयोपनिषदि च—

स (प्रजापतिः) षोडषधाऽऽत्मानं व्यकुरुत भद्रं च समाप्तिश्चाऽभूतिश्च सम्भूतिश्च भूतं च सर्वं च रूपं चापरिमितं च श्रीश्च यशश्च नामाग्रं च सजाताश्च पयश्च महीया च रसश्च[१] शतपथब्राह्मणेऽपि षोडशकलः प्रजापतिः' इत्युल्लिखितमस्ति[२] ।

एकत्र चैताः श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रे पूर्वोक्तनामभिः किञ्चिद्भिन्नत्वेन परिगणिता प्राप्ताः—

सिद्धिः ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीः मेधा कान्तिः स्वधा धृतिः ।
दीप्तिः पुष्टिर्मतिः कीर्तिः संस्थितिः सुगतिस्स्मृतिः ।।

सुप्रभा षोडशी कलाः[३] । एवमेव षोडशमातृकाविषयेऽपि चेद् विचारयामः तर्हि ता अपि परब्रह्मण कला इव प्रतीयन्ते । ताश्चैवम्भूताः

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ।।
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनः कुलदेवताः[४] ।।

एतासां सर्वासां समन्वयः सम्बन्धश्च कथम्भूत इत्यपि विचारणीयं भवति । यद्यपि एतासां सर्वासां समन्वयविधानमतीव कठिनं तथापि निजबुद्ध्या एतदर्थं कश्चित् प्रयासो विहितस्तत्र बुधा एव प्रमाणम् ।

अत्र मातृकाः षोडशकलानामधिदेवताः स्वीकरणीयाः । प्रश्नोपनिषदि च याः ब्रह्मणः कलाः, याश्च जैमनीयोपनिषदि प्रोक्ताः तासां नामतो भिन्नतायाः सत्त्वेऽपि तात्पर्यतः ऐक्यं भवितुमर्हति । एवमेव सातवलेकरप्रोक्ताः माधवाचार्यप्रोक्ता, अथ च मालिनीविजयोत्तरतन्त्रप्रोक्ताः कलाः याः सन्ति तासामपि तात्पर्यतः समानता स्थापयितुं शक्यते ।

---

१. शुक्लयजुर्वेदे सातवलेकरटीकायां ३२.५ इति मन्त्रे ।
२. जैमिनीयोप. १.४६.२ ।
३. श. प. ७.२.२.१७ ।
४. मालिनी वि. ।

षोडशकलाविवरणभेदाः समन्वयश्च

क्रम.	मातृका	पृथक्मत	प्रश्नोपनिषद्	मालिनीविजयोत्तरतन्त्र	माधवाचार्य	जैमनीयोपनिषद्
१	गौरी	शशिनी	आकाशम्	सिद्धि	अन्नम्	भद्रम्
२	पद्मा	अङ्गद	जल्म्	ऋद्धि	प्राणाः	समाप्तिः
३	शची	पूषा	अन्नम्	द्युतिः	मनः	आभूतिः
४	मेधा	अमृता	मनः	मेधाः	विज्ञानम्	सम्भूतिः
५	सावित्री	ज्योत्स्ना	अग्निः	लक्ष्मीः	आनन्द	यशः
६	विजया	मानद	तपः	दीप्तिः	अतिशायिनी	भूतः
७	जया	तुष्टि	इन्द्रियम्	मतिः	विपरिणामिनी	रूपम्
८	देवसेना	कान्तिः	वायुः	कान्तिः	सङ्क्रमिणी	सर्वम्
९	स्वधा	रतिः	प्राणः	स्वधा	प्रभ्वी	अपरिमिता
१०	स्वाहा	प्रीतिः	कर्म	स्मृतिः	कुण्ठिनी	सञातः
११	मातरः	चन्द्रिका	नाम	सुगतिः	विकासिनी	नाम
१२	लोकमातरः	पूर्णा	पृथिवी	संस्थितिः	मर्यादिनी	महीया
१३	धृतिः	धृतिः	वीर्यम्	धृतिः	संह्लादिनी	अन्नम्
१४	पुष्टि	पुष्टि	मन्त्रः	पुष्टि	आह्लादिनी	पयः
१५	तुष्टि	श्रीः	लोकः	कीर्तिः	परिपूर्णा	श्रीः
१६	आत्मकुलदेवता	पूर्णामृता	श्रद्धा	सुप्रभाः	स्वरूपावारिणी	रसः

भगवति श्रीकृष्णे काश्च ताः षोडशकलाः सन्ति। कासां विवेचनं श्रीमद् भागवते समागतमिति विचारणीयमस्ति। भगवति कृष्णे सर्वेषां गुणानां कलानां च पराकाष्ठा विद्यते। तमेव प्राप्य ताः कलाः कलाः भवन्ति, तथापि भगवतः श्रीकृष्णस्य याः भक्तजनमनोहारिण्यो लीलाः सन्ति ताभिः षोडशकलाः बोध्याः भवन्ति। यद्यपि कलानां षोडशधा परिगणनं पञ्चभिर्भेदैर्विहितम्। समासां स्वरूपं वैशद्येन समीक्ष्यते तर्हि ग्रन्थ एव एको भविष्यति, तथापि जैमिनीयोपनिषदो वर्णिताः याः कलास्तदाधारेण स्वरूपं वर्ण्यते।

१. भद्रम्–भद्रमित्यस्य भजनीयत्वं कल्याणकरत्वमित्यर्थः, भगवान् श्रीकृष्णो भक्तैस्सदा आराध्यते। बहुत्र च समाराधनविषये लिखितमस्ति। उदाहरणाय प्रथमस्कन्धस्य द्वितीयाध्यायस्य काश्चन पङ्क्तयो दीयन्ते—

> भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
> सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह।।
> मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
> नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः।।
> रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
> पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः[1]।।

---

१. श्रीमद्भागवते १/२/२५-२७।

एतस्याः कलायाः दशमस्कन्धेऽप्येकमुदाहरणमवलोकनीयम्,

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत् प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ।

२. समाप्तिः–सम्=सम्यक्, आप्तिः= समस्तगुणसम्पन्नता इति समाप्ति-पदस्य तात्पर्यमायाति । भगवान् श्रीकृष्णः समस्तकल्याणगुणगुणाकरो भवति । एतस्याः कलाया उदाहरणाय काश्चन पङ्क्तयो दीयन्ते—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपरा क्रियाः ।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ।।
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्या गुणो विभुः ।।
तथा विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः[१] ।।

दशमस्कन्धस्थमप्येकमुदाहरणं दर्श्यते—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिता सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका सुभाषः[२] ।।

३. आभूतिः–आ समन्ताद् भूति= जीवानां जडचेतनानां समुद्भवो यस्माद् असौ आभूतिः । जडचेतनात्मकजगतः समुत्पादनकला एव आभूतिरिति वक्तुं शक्यते । एतस्याः उदाहरणमेकमित्थं विद्यते—

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजो योनिबीजाशयाकृति[३] ।।

४. सम्भूतिः–सम्—सम्यक्, भूतिः संरक्षणं (जीवानां) यस्मादसौ कलाविशेषः सम्भूतिर्भवति । अर्थाद् भगवान् तया कलया समस्तजडचेतनात्मकं जवात् सम्पाथयति । इन्द्रकोपानलेन हि समस्तव्रजस्य रक्षणं कृष्णो गोवर्धनगिरिमुत्थाप्य कृतवान्—

---

१. श्रीमद्भागवते १.२.२८-३१ ।
२. श्रीमद्भागवते १०.१४.७ ।
३. श्रीमद्भागवते १०.१६.५७ ।

न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीश विस्मयः ।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रथमायोपकल्पते ।।
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपा ये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ।।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः[१] ।।

५. **भूतम्**—सृष्टिः भूयते उत्पद्य लीयते येन कलाविशेषेण तत् कलारूपं भूतं भवति । अनयैव कलया भगवान् श्रीकृष्णः कालरूपः सृष्टिं संहरति । भूमिभाराहरणमयमनयैव । दुष्टान् जीवान् हन्ति साधून् च परिपाति । एतस्याः कलाया उदाहरणमद्वयवलोकनीयम्—

१. आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चं ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगमवाभवौ यथा[२] ।

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ।।
चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः ।।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ।।
हनिष्यामि बलं ह्येतद् भुवि भारं समाहितम् ।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ।।
एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां बधाय च[३] ।।

६. **सर्वम्**—सर्वः परिपूर्णः यः सर्वात्मिकया कलाया खिलप्रपञ्चं स्वात्मनि दधाति तत्र चान्तःप्रविष्टः स एव सर्वोऽपि भवति यथा विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे—"सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः" इति[४] । एतस्याः कलायाः उदाहरणमेवमस्ति—

कृष्ण ! कृष्ण ! महोयोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ।।
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ।।

---

१. श्रीमद्भागवते, १०.१४.१७-१९ ।
२. तत्रैव १०.१४.२५ ।
३. तत्रैव १०.५०.५-९ ।
४. वि. स. १९ ।
५. श्रीमद्भागवते १०.१०.२९-३१ ।

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ।।

७. रूपम्–रूप्यते ज्ञायतेऽनुभूयते इन्द्रियविषयो यथा सा रूपवाच्या कला कथ्यते। अनया कलया कृष्णोऽखिलविषयाणामाधारो भवति। उदाहरणमेतस्यैवम्भूतमस्ति—

उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् ।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ।।
अनास्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः स द्विजाशिषः ।।
कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलमाददबृहद्वपुः[1] ।।

८. अपरिमितम्–न परिमीयते मनोवाणीबुद्धिभिः यः सः अपरिमितः श्रीकृष्णः अपरिमितं ब्रह्म च भवति। उदाहरणमेतस्यैवम्भूतमस्ति—

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुभूतं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माऽविरासीद् यत एष लोकः ।।
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ।।
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोऽनात्मतया गृहिताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ।।
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः[2] ।।

९. श्रीः–शोभातिशयत्वमेव श्रीः। सा च भगवतः श्रीकृष्णस्य न तथा कस्मिन्नपि। यस्य रूपमाधुरीं दृष्ट्वा सर्वेऽपि मुह्यन्ति। बहुषु स्थलेषु श्रीमद्भागवते एतस्य वर्णनमायाति। उदाहरणमित्थमस्ति गोपीगीते—

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीरमुह्यतीरधरसीधुनाऽप्यापयस्व नः ।।
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ।।

---

१. श्रीमद्भागवते १०.२४.३३-३५ ।
२. तत्रैव १०.४०.१-४ ।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ।।
चलसि पद् ब्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति[१] ।।

१०. यशः–विविधसत्कर्मविधानमेव यशोवर्धनकला । सा च वेदगोविप्रसाधु-परिरक्षणयागविधानदुष्टदलनरूपास्ति । श्रीकृष्णस्य तादृशीं स्वभावपद्धतिमवगम्य महर्षिः गुरुः सान्दीपनिरपि आशीर्वचोभिर्भूषयति—

सम्यक् सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को न युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ।।
गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्यिह परत्र च ।।

अयमाशीर्वादो भगवतः श्रीकृष्णस्य पूर्णतया फलितः । तस्य लोकपावनी कीर्तिः सर्वत्र विद्यते । सर्वेऽपि जनाः तस्य चरितं संस्मृत्य गायित्वा चात्मानं पावयन्ति ।

(११) नाम–सर्वेषां नामानि सन्ति यस्माद् असौ नाम । अर्थाद् येनैव सर्वे नाम धारिणो भवन्ति । उदाहरणमेतस्याः नाम कलाया इत्थमस्ति—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः[२] ।।

(१२) अग्रम्–सर्वासां क्रियाणां प्राथम्यं यया कलया सा अग्रनाम्नी कला भवति । सा भगवति कृष्णेऽस्ति । अत एव सः सर्वमपि श्रुत्वा ज्ञात्वा शीघ्रमेव सर्वत्र अग्रे भवति । गुरोः सान्दीपनेः आश्रमे वसन् सर्वासु विद्यासु कलासु चाग्रगामी भवति—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरे हितैः ।।
यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ।।
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।
प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः ।।
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा ।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ।।

---

१. श्रीमद्भागवते १०.३१.८-११ ।
२. तत्रैव १०.४६.४३ ।

सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ।।
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः ।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप[1] ।।

(१३) सजातः–जाताभिः शक्तिभिः सह वर्तत इति सजातः एतस्योहारण-मेवम्भूतमस्ति—

सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमः सत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बाध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ।।
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्नभिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ।।

(१४) पयः–पीयन्ते लीयन्ते पञ्च भूतानि यया कलया यस्मिन् पुरुषविशेषे सा पयः कला भवति । एतस्योदाहरणमिदमस्ति—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ।।
नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बरेतौ द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रं जठरं भुजेन्द्रः ।।
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चोधिषणा विसर्गः ।
प्रजापति हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ।।

१५. महीया–मायापतिः समस्तकर्मचक्रप्रवर्त्तको भवति यया कलया ब्रह्म सा महीया कला भवति । एतस्या उदाहरणमित्थमस्ति—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालैर्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व।।

१६. रसः–रस्यते आनन्द्यते यया स्वात्मनि यया कलया सा रस कला कथ्यते । एतस्योदाहरणं महारासो विद्यते भगवतः श्रीकृष्णस्य यत्र सः श्रुतिरूपाभिः गोपीभिः सह महारासं विहितवान्—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ।।

---

१. श्रीमद्भागवते १०.४५.३०-३६ ।

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।।

इत्थमेतासां षोडशकलानामुदाहरणानि श्रीकृष्णविषयकानि बहूनि सन्ति । एताश्च कलाः यथा श्रीकृष्णे तथैव कश्चिद् रामेऽपि स्थापिताः भवितुमर्हन्ति रामस्यापि परब्रह्मस्वरूपत्वात् । रामस्यावतारः द्वादशकलानामिति प्रवादः सूर्यस्य वंशेऽवतारग्रहणादेव । यतो हि सूर्यस्य द्वादशराशिरूपकलाः भवन्ति ताः एव आदाय रामस्य द्वादश कलावतार इति प्रवादो विद्यते । श्रीकृष्णस्य चावतारः चन्द्रवंशेऽभूत् । चन्द्रस्य षोडशकलाः सन्ति, अमातः पूर्णां यावत् । अत एव श्रीकृष्णस्य षोडशकला इति प्रवादो विद्यते । श्रीमद्भागवतकारश्चापि कृष्णस्य जन्म प्राच्यां दिशि इन्दुरिव वर्णितवान्—

निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयाः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ।।

एवम्भूतकलाविवरणं भगवतः श्रीकृष्णस्य न्यूनमेव । तस्य त्वनन्ताः कलाः सन्ति यासां विवरणविधानमसम्भवमेव, अत एवोक्तम्—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** ।

श्रीमद्भागवतबौद्धधर्मयोः कर्मवादविमर्शः

डॉ. धर्मदत्तचतुर्वेदी

❋❋❋

किमपि शास्त्रं धर्मो वा समाजे परिव्याप्तविकृतीनामुन्मूलनाय मानसिक-परिष्काराय, समतासुखशान्तिस्थापनाय, साम्प्रदायिककलहवैमत्यवारणाय सामरस्य-सदाशयसौहार्दसामञ्जस्यप्रतिष्ठापनाय मनोगततुच्छभावोत्पाटनाय विश्वमङ्गलसन्देशाय च जायते। श्रीमद्भागवतं हि सकलपुराणमौलिभूतं धर्मदर्शनसाहित्यगतविचारसारभूतं सृष्टिमारभ्य प्रलयान्तविषयप्रकाशकं त्रिलोकलोकभावकं सूक्ष्मविद्यारहस्यपरिज्ञापकं सत्यशुचितात्यागक्षमौदार्यं संस्कृतिविभावकं दानवसंस्कृतिपरिमर्दकं देवजयघोषकं सर्वविद्यागूढार्थपरिष्कारकं विद्यावतां परीक्षकं प्राच्यैतिह्यप्रकाशकं वेदोपबृंहकं श्रीकृष्णभक्तिरसायनं प्रसादगुणगुम्फितं रसपेशलं विषयवासनापवारकं परमात्मतत्त्वप्राधान्य-ख्यापकं क्रूराचरणधर्मकं दुश्चिन्तनापसारकं सामाजिकविषमतोन्मूलकं मिथ्याजीव-दम्भ कृत्रिमव्यवहारनिवर्तकं योगतपः साधनाप्रवर्तकं सांसारिकबन्धनोच्छेदकं किमपि महनीयं शास्त्रम्। बौद्धतत्त्वं (धर्मो वा) मानवसभ्यताविकासकं कारुण्याहिंसोद्भावकं जगन्मैत्रीवर्धकं समत्वादर्शज्ञापकं दण्डभयदमनकुशासनोपेक्षकं बहुजनहिताय बहुजनसुखायेति लोकयात्राकारकं जागतिकासूक्तिविधूनकं प्रज्ञापारमितया जगदन्धतमोनिवारकं बुद्धत्वपर्यवसितं चतुरार्यसत्यज्ञापकं रागद्वेषक्लेशाद्यपवारकं शीलत्यागदानधैर्यप्रवृत्तिसाधकं पूर्वबुद्धबोधिसत्त्वजन्मवृत्तप्रकाशकं मारच्छलविध्वंसकं प्रतीत्यसमुत्पादोपदेशकं निर्वाणमार्गदेशकं शून्यतायां प्रतिष्ठितमाख्यानशैलीविजृम्भितं निजभार्यासन्ततिवैभवादि-समर्पणात्मकं चित्तसन्ततिशोधकं भ्रान्त्युच्छेदकं च सद् विश्वस्मिन्नपि विश्वे प्रतिष्ठतेतराम्।

श्रीमद्भागवतं बौद्धधर्मश्चैतद्द्वयं समेत्य परिस्थित्युनुसारेण विविधकथाप्रसङ्गै-र्लोकयात्राभिश्च मानवस्य जीवस्य वा भ्रमाज्ञानवासनाप्रमादकारकं सत् तस्याभ्युदयाय निःश्रेयसे च प्रयतमानं सन्दृश्यते।

साम्प्रतं मानवव्यवहारप्रबोधनमपेक्षते। व्यवहारे कर्मणि वा प्रवृत्तौ चेतस एव मुख्यत्वम्मन्यते बौद्धधर्मे। सङ्कुचिते चेतसि सङ्कुचितप्रवृत्तयः समुदारचेतसि च समुदारवृत्तयो

लभ्यन्ते। सांसारिकविषयवासनालोभमात्सर्यसङ्कुलस्य जीवस्य मनसि नैके विकारा दूषणानि चोत्पद्यन्ते साम्प्रतम्। तस्मादेवादानसंस्कृतिः क्षीयते सामदानसंस्कृतिश्च परिवर्धते। व्यवहारे शैथिल्यं स्वार्थप्रवृत्तयः, अयुक्ता महत्त्वाकांक्षा निजोत्कर्षभावना एव विलसन्त्योऽद्य दृश्यन्ते। न परार्थः, न दाक्षिण्यम्, न च राष्ट्रसमाजसेवनं क्वचिद् दृष्टिपथमायाति। तस्मादेव महाकविक्षेमेन्द्रेणावदानकल्पलताख्ये निजकाव्ये प्रभासावदाने समुट्टङ्कितं यत् तत्रैको हस्ती प्रभासाख्यनृपेण नियन्त्रितः सुशिक्षितः सन्नपि वनविहारकाले करिणीगन्धमाघ्राय तं राजानं विहाय तामालिलिङ्ग। राजा तद्विलोक्य प्राह—

नोपदेशं न नियमं न दाक्षिण्यं न साधुताम्।
स्मरन्ति जन्तवः कामं कामस्य वशमागताः।।
केन रतिरसोत्सिक्ता विषयाभिमुखी रतिः।
अदभ्रश्वभ्रविभ्रष्टशैलकुल्येव वार्यते।।
व्यसनी पतितः सत्यं पातयत्येव दुर्जनः[१]।

ततः स द्विरदः करिणीं समालिङ्ग्य सन्तृप्य च स्वयमेव राजभवनं प्राप। तदा संयातो नृपः प्राह—

शक्या दमयितुं देव! सिंहव्याघ्रवनादयः।
न तु रागासवक्षीबविषयाभिमुखं मनः।।

बुद्धो मनश्चित्तं वा द्विपत्वेनोद्घोषितवान्। स्मृतिरज्ज्वा चित्तमतङ्गजं नियमयितुं चापि बुद्धो दिदेश। शान्तिदेवेन बोधिचर्यावतारे यथोक्तम्—

अदान्ता मातमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथाम्।
करोति यामवीच्यादौ मुक्तचित्तमतङ्गजः।।
बद्धश्चेत् चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः।
भयमस्तङ्गतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्[२]।।

उन्मत्तगजवन्मनोवशीकृत्यैव भयापकरणम्, अभ्युदयो निश्रेयसश्चावाप्तुं शक्यते, सर्वत्र कल्याणवृष्टिरपि तदा सम्पत्स्यते। चित्तस्यानियन्त्रितत्वात् संसारेऽद्य हिंसावैर-भावाशान्तयो जायन्ते। बौद्धधर्मे पुनश्चित्तं बोधौ बुद्धत्वे च समाश्रीयते। बोधिचित्ते समुत्पादिते सति बोधिसत्त्वो भूत्वा बुद्धत्वं लभते।

श्रीमद्भागवते परमात्मनि श्रीकृष्ण एव चित्तमश्रीयते। तत्रैव कर्मणि समर्प्यन्ते। वैदिकं कर्म द्विधा प्रोक्तम्।

---

१. अवदानकल्पलता प्रभासावदानम्।
२. बोधिचर्यावतारः सम्प्रजन्यरक्षणम् ५.२-३।

प्रवृत्तिरूपं निवृत्तिरूपं च। प्रथमेनात्र संसारे पौन:पुन्येनावर्तनं जन्ममृत्युसरणात्मकं द्वितीयेन चामरत्वप्राप्तिश्च कल्प्यते। अत्र श्येनयागादिकं दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुयाग-सोमयाग-वैश्वदेव-बलिहरणादीनि च प्रवृत्तिकर्माणि काम्यकर्माणि जीवं पौन:पुन्येन संसारे अवतारयन्ति, निवृत्तिकर्माणि च देवयानानुसारीणि। एतत्प्रक्रियायां इन्द्रियाणि दर्शनादिसङ्कल्पात्क्रमनसि वैचारिकं मनः परावचि परावाणीं च वर्णसमुदाये वर्णसमुदायं च ओङ्कारबिन्दौ, बिन्दुं च नादे नादं च सूत्रात्मप्राणेषु प्राणांश्च ब्रह्मणि विलीनयते जीवः। ततो ब्रह्मलोके जीवस्तत्र भोगेषु समापितेषु स्थूलोपाधिं सूक्ष्मतायां निलीय तैजसो जायते सूक्ष्मोपाधिं च कारणे निलीय प्राज्ञरूपेणावतिष्ठते, पुनश्च साक्षित्वेन कारणोपाधिं निलीय तुरीयत्वेन विपरिणमते ततः शुद्ध आत्मैवावशिष्यते। एतद्धि देवयानमुच्यते। यत्र संसारान्मुक्तिर्लभ्यते।

एतत् पितृयानं देवयानं चेति वेदनिर्मितम्—

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति[१]।।

परमात्मनि समस्तकर्मणामर्पणं क्रियाद्वैतं स्वार्थे परार्थे न किमप्यन्तरं यत्र तद्धि द्रव्याद्वैतम्—

यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते[२]।

वेदोक्तकर्मसेवनेनैव कश्चिद् भगवद्भक्तो भवितुमर्हति। तस्माद् वेदोक्त-कर्माण्येव श्रीमद्भागवतोक्तकर्माणि। यथा हि—

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यामाद् राजँस्तद् भक्तिभाङ्नरः।।

बौद्धेषु न कस्यचिददृश्यदेवस्य कल्पना तत्र बुद्धस्य महामानवत्वेन प्रतिष्ठा, न च तत्रापौरुषेयवेदवत् कस्यचिच्छास्त्रस्य कल्पनैव जायते। बुद्धस्योक्तिर्लोक-प्रामाण्यमपेक्षते, यथोक्तम्—

तापाच्छेदाच्च निकषात् स्वर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

बुद्ध आत्मनि कश्चिद् विशिष्टां प्रभुसत्तां न स्वीकुरुते स च किमपि गौरवं

---

१ (क) श्रीमद्भागवतम् ७.१५.५६।
(ख) प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रयत्नेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्। ७-१५-४७
२. श्रीमद्भागवतम् ७.१५.६५।

स्वीकर्तुं चापि न प्रयतते। स च सामाजिकपरीक्षणमपेक्षते निजवचसाम्। यथा कनकं परीक्ष्यतेऽग्नितापेन तथा तद्वचांसि परीक्ष्यैव ग्राह्यानि, न च तद्गौरवादेव।

बौद्धसिद्धान्ते कर्मचित्तयोरैक्यम्। चेतना हि कर्म, चेतनापूर्वकं क्रियमाणानि कर्माणि सचित्तानि। तस्माच्चेतना सङ्कल्पजन्यक्रियाणां कर्मत्वम्। कस्यापि कर्मणः प्रवर्तने मनसोऽग्रगामित्वम्—

चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिकीर्तितः[1]॥

चेतनाऽहं भिक्खवे कम्मं वदामि चेतयित्वा कम्मं करोति, कायेन मनसा वाचा[2] कर्मकर्तृत्वं मनसो, न च शरीरस्य। शुभाख्यब्राह्मणेन कर्मविषयके प्रश्ने कृते सति बुद्धेनोक्तम्—कर्मणो दायादत्वम्, कर्मणे योनित्वं बन्धुत्वं च। कर्मनिबन्धनेयं सत्ता। पापस्योत्तराधिकारित्वं कर्मणः। न कोऽपि जन्मना ब्राह्मणो न च वृषलः। कल्याणकर्ता कल्याणात्मकं कर्मणि पापाचारी च पापे रमते। अविद्याबद्धानां तृष्णाशृङ्खलानिगृहीतानां पुनर्भवो जायते। कर्मण एव पुनर्जन्मनि हेतुत्वम्।

बौद्धमते तृष्णा दुःखसमुदयाख्यद्वितीयार्यसत्यत्वेनोच्यते। ज्ञानेन्द्रियाणि यदा बाह्यजगद्बद्धानि तदा तृष्णां जनयन्ति। तृष्णामूलमात्मा। तृष्णापरिहारायात्मवादोत्सर्गस्यापरिहार्यत्वं बौद्धदृष्ट्या। कामं स आत्मा वैदिकदृष्ट्याऽमरत्वमविनश्वरत्वं लभताम्। तृष्णायास्त्रैविध्यम्—कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णेति। तृष्णानिरोधायार्याष्टाङ्गमार्गो बुद्धेन निरदेशि। आसनो हि मलम्, मलाच्च शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा उत्पद्यन्ते। भोगेषु चिरकालिकस्थितिमतवादिनां दृष्टिरेव भवकामनां जनयति। आसवैः नरा नरकपशुप्रेतमनुष्यदेवलोकान् लभन्ते। तस्मादासवतृष्णादीनि प्रहातव्यानि बौद्धदृष्ट्या।

श्रीमद्भागवतेऽपि तृष्णैव दुःखोद्गमे हेतुत्वं लभते। मन्दबुद्धयस्तृष्णां हातुं न क्षमन्ते। शरीरे जीर्णे जातेऽपि तृष्णा न जीर्यति। कल्याणमतिना तृष्णा नूनं हेया। यथोक्तम्—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्[3]॥

तृष्णेयं शक्तिमती निजमातरं भगिनीं चैकान्ते दृष्ट्वा कर्षति—

---

१. मध्यमकशास्त्रम्, नागार्जुनकृतम् १६.२-३।
२. अट्ठसालिनी पालि. पृ. ८२।
३. श्रीमद्भागवतम् ९.१९.१६।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।।

तृष्णाविषये ययातेरियमुक्तिः—

पूर्णं वर्षसहस्त्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत् ।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ।।
तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ।।

ययातिना तृष्णात्यागोद्घोषोऽक्रियत । साम्प्रतं धनलिप्सया नैके अपराधाः दोषाः सङ्कटानि चोपतिष्ठन्ते । शृङ्गिमुनिनाऽभिशप्तः परीक्षितस्तस्य च नाशाय तक्षको यदा प्रतस्थे तदा मार्गे समागच्छन्तं सर्पविषहरं कश्यपं वीक्ष्य तस्मै द्रव्यं समर्प्य निवर्तयामास । यथोक्तम्—

गन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम् ।
तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ।।

तृष्णैव देवमायात्वेन स्वीकृता । परं च बौद्धैर्मायापदत्वेन सा न स्वीक्रियते । श्रीमद्भागवते देवमाया स्त्रीमयी कल्पिता यस्या भ्रूविजृम्भेण दिग्विजयिनोऽपि पदाक्रान्ता भवन्ति—

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्[1] ।।

अत्र स्त्री नरकद्वारत्वेन कल्प्यते तस्मात्तासु सङ्गं न कुर्यात् । पञ्चतन्त्रेऽपि नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो, नेच्छेद् बलं स्त्रीषु विवर्धमानमित्युक्तिः । श्रीमद्भागवते यथा—

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य[2] ।।

किमेतावता तत्र स्त्री मृत्युरूपेण कल्पिता । यस्याः सङ्गतः पुरुषोऽपि स्त्रीत्वं लभते—

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम्[3] ।।

---

१. श्रीमद्भागवतम्-३.३१.३८ ।
२. श्रीमद्भागवतम्-३.३१.३९ ।
३. श्रीमद्भागवतम् ३.३१.४१ ।

वेदानां तात्पर्यावबोधे काठिन्यमपि श्रीमद्भागवतं सूचयति तस्मादेव तदर्थावबोधे सूरयो मुह्यन्ति। कर्माकर्मविकर्माख्यं त्रिविधं कर्म इति वेदवादः—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मवात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।

वेदोऽनभिज्ञेभ्यः स्वर्गप्रलोभनं दत्वा श्रेष्ठकर्मसु तान् नियुङ्क्ते—

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।

यो हि वेदविहितकर्माणि नाचरति स विकर्माधर्मं प्राप्नोति मृत्युचक्रे च निबध्यते। कर्मरहस्यं ये न जानते, तेषां स्थितिर्यथा—

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धाः मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ।।

बौद्धधर्मे श्रीमद्भागवते चोभयत्र जीवस्याहङ्कारः संसारजन्मनः कारणत्वं मन्यते। यथा श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे—

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ।। (३.३१.२०)

रत्नावल्यां नागार्जुनमतं यथा

अहङ्कारप्रसूतेयं ममकारोपसंहिता।
प्रजा प्रजाहितैकान्तवादिनाभिहिताखिला ।।

इदं मम, अहमस्मि इति परमार्थिभिर्मिथ्याज्ञानं मन्यते। यथाभूतपरिज्ञानादेव मिथ्याज्ञानं नश्यति। बौद्धमते कर्मणोऽस्तित्वं तद्विपाकश्च स्वीक्रियते। सम्पूर्णं सांसारिकजीवनं हि कर्मपरिणामितैव। कर्मानुसारी विपाको जायते। संसारस्य यथार्थमनवबुध्य मूर्खः पाये रमते पापं चैव मधुसमं मन्यते। यथा धम्मपदे—(बालवग्ग-१०)

मधुवा मञ्ञति बालो यान पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति ।।

यथा नवीनं दुग्धं द्रुतं दधि न जायते एवमेव कृतं पापकर्म द्रुतं न फलति, परं च तद् भस्मावृताग्निसमं परिदग्धं जायते तथैव पापं पापिनं न जहाति—

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति।
दुहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नोव पावको ।।

(धम्मपद-बालवग्गा १२)

यदा आर्यमौद्गल्यायनः प्रेतमेकं ददर्श तदा बुद्धेनोक्तमनेन प्रेतेन पुरा बुद्धकुटी दग्धा तस्मादेवास्य शिरो मानुषं शरीरं च सर्पवत्। रूपरसगन्धादिपञ्चगुणाः यावत् सेविष्यन्तेऽस्माभिस्तावत् तृष्णा वर्धिष्यते। तस्मात्—

तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ।।

पण्डिताः सर्वकामान् विहाय स्वचित्तमलं शोधयन्तु इति बुद्धोक्तिः। श्रीमद्भागवते दण्डव्यवस्था स्वीकृता। विनाशाय दुष्कृतामनुज्ञा तत्र भगवदवतारस्य परं बुद्धस्तु दण्डव्यवस्थाविरोधी सन् कमपि दण्डयितुं नेहते—यथोक्तम्-(धम्मपदे दण्डवग्गो १)

सब्बे तस्सन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अलानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।।

सर्वे यदा दण्डाद् बिभ्यति मृत्योश्च तस्मादेकोऽन्यं कमपि न दण्डयेत्। न च हन्यात्। अद्य जनो निजहितलाभेभ्यः घृणितकर्माणि कुरुते प्रतिष्ठायशःसम्मानप्राप्त्यै च परेषां प्रतिष्ठां दमयते स न विद्वानपि तु मूर्ख एवास्ते बौद्धदृष्ट्या। यो जनोऽदण्ड्यं निर्दोषिणं वा दण्डयति स दशस्ववस्थासु गतिमेकां लभते तीव्रवेदना, हानिः शरीराङ्गकर्तनम् महारोगः, विक्षिप्तता, राजदण्डः कठोरनिन्दा सम्बन्धिनां विनाशः सम्पत्तिनाशः परगृहदहनं चेति विविधदोषानापद्यते। श्रीमद्भागवते यज्ञवेदिकायां मूत्रविसर्जनं यज्ञपात्रभञ्जनं वेदिमेखलाभेदनं चेति घटना दक्षयज्ञविध्वंसावसरे रुद्रगणैर्विहिताः[१] परं च बौद्धधर्मे न एतासां घटनानां कृते लेशतः स्थानम्। तत्र दण्डप्रक्रिया हिंसा शरीरघातनं च शत्रूणामपि निषिद्धं दृश्यते। धम्मपदे बुद्धोक्तिर्यथा—

न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः ।। (यमकवग्गे५)

बुद्धस्योक्तिस्तर्हि यो हि एतज्जन्मनि यं हन्ति स परस्मिन् जनानि वैरभावतः तं हन्ति। एवं सत्त्वा नैकयोनिषु लब्धजन्मानः परस्परं घातयन्तः शोषयन्तो वञ्चयन्तश्चान्योन्यं सुखं शान्तिं वा लभन्ते नैव। यां दुष्प्रवृत्तिं वञ्चनां च पालयति जनस्तद्वासित एवान्यस्मिन् जन्मनि तथाऽऽचरत्येव। अतो न कोऽपि दण्डार्हः न घातनार्हः कश्चित्।

कर्मकर्ता एव दुःखसुखभोक्ता मन्यते। श्रीमद्भागवतेऽपि—

अहं क्रिया विमूढात्मा कर्ताऽस्मीत्यभिधीयते (३-२६-२)

सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः।
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम् ।।

---

१. रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकोऽग्नीननाशयन्।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद् बिभिदुर्वेदिमेखलाः ।। श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे ५.१५।

बौद्धैरात्मभावस्य संसारकारणत्वं मन्यते। मानवः क्षणप्रध्वंसिविज्ञानेषु अहमिति बुद्धिमाधत्ते। तस्मादेव सुखावाप्त्यै दुःखनिरसनाय च यतते।

नागार्जुनेन दशकुशलकर्माणि दश चाकुशलकर्माणि व्याख्यातानि यथोक्तं रत्नावल्याम्—

अहिंसाचौर्यविरतिः परदारविवर्जनम्।
मिथ्यापैशुन्यपारुष्याबद्धवादेषु संयमः।
लोभव्यापादनास्तिक्यदृष्टीनां परिवर्जनम्।
एते कर्मपथाः शुक्ला दश कृष्णा विपर्ययात्[१] ।।

श्रीमद्भागवते शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति[२]। बौद्धमते कर्मफलं नेश्वराधीनं न च पराश्रितमपि तु तच्चित्तसन्तत्यधीनमेव तत्। बुद्धोऽपि कर्मफलभोक्ता न स ईश्वरः। एकदा बुद्धो भिक्षुभिः साकं विहरन् आसीत् क्वचिन्मार्गे तस्य पादे कण्टकः प्रविष्टस्तदा पीडाहतः स एतद्रहस्यमुवाच मया पूर्वजन्मनि शूलेन एको जनो हतस्तस्यैव फलमिदम्।

बुद्धेन कायाकुशलकर्माणि प्राणातिपात-अदत्तादानकाममिथ्याचारीणि प्रतिपादितानि। मृषावाद-पैशुन्य-पारुष्याणि वाचिकानि अकुशलकर्माणि मानसिकानि च अभिध्या-व्यापाद-मिथ्यादृष्टिरूपाणि। लोभमूलकचित्तात् काममिथ्याचार-अभिध्या-मिथ्यादृष्टय उत्पद्यन्ते। नारीकामवासनया मनुष्ये लोभद्वेषभावना वर्धते। लोभद्वेषयोः सहगतत्वं स्वीकार्यम्।

बौद्धमते देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातस्य क्षणप्रध्वंसित्वम्। यः सङ्घातः कर्म कुरुते स कर्म समुत्पाद्य विनश्यति फलभोगावस्थायां परिवर्तते। बौद्धानां कर्मवादविषयिणी नीतिरियं सनातनसिद्धान्तवादिभिर्न स्वीकृता। अनात्मवादिबौद्धदर्शने विप्रतिपत्तिरियं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः समानाधिकरणनियमत्वाद् यः क्षणः प्रध्वंसी, स कर्मफले न तिष्ठति कथं कर्मवादव्यवस्थेयं प्रसज्यते। भोगक्षणस्य फलेन सह कथमैकात्म्यम्? एतत्समाधानं वाचस्पतिमिश्रेण न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामेवं प्रत्यपादि—येन कायेनोपलक्षितः कश्चित् चित्तसन्तानः स कार्यान्तरवर्त्यपि फलं भुङ्क्ते इत्यर्थः[३]।

बौद्धधर्मे श्रीमद्भागवतोक्तात्मनोऽनस्तित्वं मन्यते।

बौद्धमते तु पूर्वकृतकर्मण आगामिनि जन्मनि एकाऽप्यवस्था नावशिष्यते आत्मनोऽजरस्य तत्र का कथा? अभिधर्मकोशे वसुबन्धुनाचार्येण—कर्मणा, अविद्यादिक्लेशैश्च पञ्चस्कन्धसन्ततिः प्रवहति सततं मृतमेकं शरीरं विहाय नवशरीरं

१. रत्नावली-१.८-९।
२. श्रीमद्भागवतम्-११.२३.४३।
३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-पृ. ५००।

धत्ते। स्कन्धा हि रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानानि। स्कन्धसन्ततिरेव जन्मान्तरं याति। अभिधर्मकोशे यथा—

नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्[1]॥

यथा—अरैश्चक्रं निबद्धं तथा कर्मणा बद्धत्वं जीवस्य। मानवस्य यथा कर्माणि प्रभास्वराणि शोभनानि शीलवन्ति भविष्यन्ति तथा जीवनं तदीयं कल्प्यते। बुद्धो वक्ति—पुनर्जन्मनि जनः न स एव, न चान्यः प्रदीपस्य वर्तिकाप्रकाशो यथा प्रारम्भे, न तथा मध्ये न चान्ते तथा। एवमेव परिवर्तिनि बौद्धमते बुद्धस्य धर्मकाय एवात्मनो विकल्पत्वेन स्वीक्रियते।

श्रीमद्भागवतेऽपि बौद्धकर्मवादसमर्थनम्[2], यथा—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥१३॥
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरुप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः॥१४॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथां कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥१५॥
देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रवदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥१६॥
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्[3]॥१८॥

यथा मनसश्चित्तस्य वा बौद्धमते मुख्यहेतुत्वं तथा श्रीमद्भागवतेऽपि[4]

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥

एवं श्रीमद्भागवतं बौद्धधर्मश्च समेत्य मानवस्य आत्मशुद्ध्यै चित्तसन्ततिशुद्ध्यै च प्रयतते। बौद्धमते हिंसाया लेशतोऽपि न स्थानं तथा महाकरुणोत्पादेन हिंस्रकानां चित्तशोधनं, न तत्र शिशुपालचाणूरकंसादीनां प्राणहननस्वीकृतिर्न च रक्तपातः। दुःखनिरोधाय तृष्णां लिप्सां सांसारिकभोगं चोपेक्षत एतदुभयम्। श्रीमद्भागवतं चापि मानवं सांसारिकानैतिकविषयवासनाभ्यो निवारयितुं प्रयतते, एवं श्रीकृष्णभक्तिरेव

---

१. अभिधर्मकोशः-३.१८।
२. श्रीमद्भागवतम् १०.२५.१३—१४।
३. श्रीमद्भागवतम्-१०.२५।
४. श्रीमद्भागवतम्-११.२३.४३।

तदर्थं शरणं मन्यते। बौद्धमते बोधिचित्तमेव भक्तेर्विकल्पपरं दृश्यते" तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन सम्बोधिचित्तं यदि नाम न स्यात्'[१] इति शान्तिदेवोक्तिर्बोधिचर्यावतारे। क्षणसम्पदो दौर्लभ्यसूचिकोक्तिरपि तत्र—यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः। बुद्धो सूत्रग्रन्थानुसारेण द्वीपाद् द्वीपं, मठाद् मठं, विहाराद् विहारं, पर्वतात् पर्वतं। गच्छन् एकैकस्य मानवस्य दुःखहेतुं पश्यन् परिशोधयति तत्। इत्थं श्रीमद्भागवतस्य कर्मसिद्धान्तानामीश्वरात्मवादसिद्धान्तमन्तरेण क्वचित् साम्यं क्वचिच्च वैषम्यं समुपपद्यत एव।

अन्ते "मातृ आनन्दमयी पौराणिकवैदिकाध्ययनानुसन्धानसंस्थानेन नैमिषारण्यस्थेन समायोजितत्रिदिवसीयराष्ट्रियपुराणसङ्गोष्ठीविषये कानिचन पद्यप्रसूनानि सम्पर्यन्ते—

गोष्ठी भागवते पुराणविदिते या नैमिषारण्यके
विद्वद्भिर्विहिताऽत्र गुञ्जति पुनर्व्यासोक्तिसद्गौरवम्।
विख्यातं भुवनत्रये सुगुणिनं रागान्धकारापहं
वन्दे व्यासमुनिं कविं गुरुवरं विद्यावतां सत्प्रियम्॥१॥

माता आनन्दमयी—

विद्याशास्त्रसुदीक्षिता समभवल्लोकोपकारे रता
माताऽनन्दमयी वरा विनयिनी कारुण्यसम्भूषिता।
विष्णोर्भक्तिनिषेविका सुसरला दुःखार्तसंरक्षिका
तामेवं सुतपस्विनीं सुविदितां सच्छ्रद्धया नौम्यहम्॥२॥
मुक्तिर्यत्र हि दास्यतामधिगता भक्तेः प्रियायाः परा
विष्णौ भक्तजनाः सदा विनयिनो भूयो रमन्ते प्रियाः।
ग्रामे चापि पुरेषु यत् सुविदितं श्रीमत्पुराणं जने
यो जानाति हि तत्त्वतः प्रतिपदं जीवेत्तथा नौमि तम्॥३॥
लाभाननेकान् परिकीर्तयामि श्रीमत्पुराणाध्ययनस्य सम्यक्।
चेद् दूषितं यस्य मनः प्रलोभाद् व्यासोक्तिभिस्तत् परिशोधयेत् सः॥४॥
श्रेयः परेषां परिसाधयेत् स नैजं हितं यः समुपेक्षतेऽपि।
तज्जीवनं भागवतोक्तमेवं न द्वेषकृज्जनशोषकं नो॥५॥
यत् पाटवं क्षौद्रमिदं हि कस्मान्निजार्थसिद्ध्यै नु समागतं तत्।
आस्वाद्य शास्त्रं परिमार्जयेत्तत्सुशिक्षितं स्यादपरोऽपि कश्चित्।
साफल्यमायातु तदा सुगोष्ठी पदार्पणं यद् विदुषां हि जातम्।
दोषान् विकारांश्च हृदि स्थितांस्तान् जहातु विद्वन्! सुनिवेदयामि॥

---

१. बोधिचर्यावतारः शान्तिदेवस्य प्रथमपरिच्छेदः।

माघकाव्योपरि श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः

डॉ. सूर्यमणिरथः

❀❀❀

अस्माकं भारतीयानां वेदाः एव निःश्वाससमानाः भवन्ति। अस्माकं रक्तेषु वेदमन्त्रध्वनिः निनादितो भवति। वेदानन्तरं रामायणं महाभारतं श्रीमद्भागवतञ्च मुख्यरूपेणास्माकं पथप्रदर्शकमस्ति। भारतीय आत्मा एतदनुसारेणानुप्राणितः। महामुनिः श्रीव्यासदेवः वेद-ब्रह्मसूत्रोपनिषदादिभ्यः सारमाकृष्य आत्मतृप्तये लोकोपकाराय च श्रीमद्भागवतं रचयामास।

व्याससुतः ब्रह्मज्ञानी श्रीलशुकदेवः पितुः सकाशाद् दिव्यज्ञानबलेन श्रीमद्भागवतमधीत्य गङ्गाकूले ब्रह्मशापग्रस्तं मरणापन्नं राजानं परीक्षितं श्रावयामास। एतच्छ्रुत्वा परीक्षितो मुक्तिमवाप। श्रीमद्भागवतस्य प्रथमे स्कन्दे लिखितमस्ति यत्—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मतम्।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।। (१.३.४०)

श्रीमद्भागवतं यदा शुकदेवः परीक्षितं श्रावयामास, तदा सूतमुनिः एतत् सम्यग् बुद्ध्वा नैमिषारण्ये शौनकादिमुनिगणान् श्रावितवान्। अनेन क्रमेण श्रीभागवतस्य प्रचारः जातः।

श्रीमद्भागवते विभिन्नानि उपाख्यानानि चरित्राणि च सन्ति। परवर्तिसमये संस्कृतकवयः स्वपाण्डित्यबलेनोपजीव्यग्रन्थरूपेण स्वीकृतात् श्रीभागवताद् उपाख्यानान्यानीय मञ्जुलतरशब्दार्थयुगलप्रयोगपुरःसरं महाकाव्यादिकं रचितवन्तः। तेषां कृतिषु श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः दरीदृश्यते। अस्मिन् प्रबन्धे श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः माघकविविरचिते 'शिशुपालवधम्' इति महाकाव्ये कथं पतितः, तद्विषयये आलोच्यते।

'शिशुपालवधम्' इति महाकाव्यं श्रीमता माघकविना विरचितम्। अस्मिन् महाकाव्ये २० सर्गाः सन्ति। एषु सर्गेषु १६४५ श्लोकाः सन्ति। शिशुपालवधे श्रीकृष्णचरितं वर्णितमस्तीति २० तमसर्गस्य अन्तिमे कविवंशवर्णने स्वयं कविः लिखति। तद्यथा—

श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म-
लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तितमत्र चारु ।
तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयादः
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम् ।। (कविवंशवर्णनम्)

माघः श्रीमद्भागवतस्य १० मस्कन्धस्य ६९ तमाध्यायतः ७४ तमाध्यायान्तर्गतं विषयवस्तु मुख्यरूपेण गृहीत्वा विभिन्नानि उद्भटानि वर्णनानि योजयित्वा विभिन्नालङ्कारसन्निवेशपूर्वकं शिशुपालवधमहाकाव्यं रचितवान्। श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः तस्मिन् काव्ये कथं पतित इति अस्मिन् निबन्धे आलोचयामः ।

शिशुपालवधस्य प्रथमे सर्गे शिशुपालं विरुध्य इन्द्रः नारदद्वारा श्रीकृष्णं प्रति सन्देशं प्रेरयति। नारदोऽपि इन्द्रसन्देशमविकलं श्रीकृष्णं श्रावयति। अस्मिन्नभ्यन्तरे युधिष्ठिरेण करिष्यमाणं राजसूययज्ञं प्रति गन्तुं निमन्त्रणं श्रीकृष्णेन प्राप्तम्। परन्तु श्रीमद्भागवते यदा नारदः श्रीकृष्णस्य नगरीमागतः तदा श्रीकृष्णः पाण्डवानां वृत्तान्तं पृच्छति। तदवसरे नारदः राजसूययज्ञे योगदानाय युधिष्ठिरस्य निमन्त्रणं प्रददाति।

राजदूते ब्रुवत्यैवं देवर्षिः परमद्युतिः
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ।
न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ।।

(भाग.१०.७०.३२-३६)

नारदोऽपि एतदुत्तरयति—

यक्षति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपस्तद्भवाननुमोदताम् ।
तस्मिन् देवक्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ।।

(तत्रैव ४१-४२)

श्रीमद्भागवतानुसारेण श्रीकृष्णः उद्धवस्य परामर्शमिच्छति, अधुना किं कर्त्तव्यमिति। उद्धवोऽपि नारदसूचितपाण्डवयज्ञं प्रति प्रथमतया गन्तव्यमिति ततः जरासुतवध इति च सूचयति—

यदुक्तमृषिणा देव ! साचिव्यं यक्षतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वसेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ।।

(१०.७१.२)

शिशुपालवधानुसारेणापि उद्धवः पाण्डवानां राजसूययज्ञं प्रति गन्तुं श्रीकृष्ण-मुपदिशति। श्रीकृष्णः इन्द्रप्रस्थं गत्वा जरासन्धवधाय भीमार्जुनाभ्यां सह ब्राह्मणवेषं धृत्वा जराराजधानीं गिरिव्रजनगरीं प्रति गत इति श्रीमद्भागवतं घोषयति। तत्र ब्राह्मणवेषधारी श्रीकृष्णः जरासन्धं द्वन्द्वयुद्धं कर्तुं याचितवान्। जरापि ब्राह्मणवेषिश्रीकृष्णमर्जुनं च प्रत्यवहेलनं प्रदर्श्य भीमेन सह योद्धुं स्वकीयामिच्छां प्रकटितवान्। युद्धे कथञ्चिद् जरासन्धं विनाश्य तन्निगृहीतान् राज्ञः मोचयित्वा श्रीकृष्णः भीमः अर्जुनश्च इन्द्रप्रस्थं प्रत्यागताः। आगमनात्पूर्वं श्रीकृष्णः गिरिव्रजे जरासन्धस्य पुत्रं सहदेवं राजरूपेण अभिषिक्तवान्। श्रीमद्भागवते यथा—

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः॥
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये।

(१०.७२.४८)

अनन्तरं राजसूययज्ञे उपस्थितेषु देव-मुनि-नरपतिषु कोऽग्रपूज्यो भवेदिति विषये विचारः जातः, परन्तु नैकमत्यं जातम्। अस्यां परिस्थितौ पाण्डवः सहदेवः श्रीकृष्णं प्रति अङ्गुलिनिर्देशपूर्वकं तस्याग्रपूज्यत्वं बलिष्ठया युक्त्या समर्थयामास। श्रीमद्भागवतानुसारेण यथा—

सदस्याऽग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत्॥
अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्त्वतां पतिः।
एष वै देवताः सर्वाः देशकालधनादयः॥
यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत्।
आत्मनानात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः॥

(श्री. भाग. १०.७४.१८-२१)

शिशुपालवधानुसारेण भीष्मः एतत् सूचयति यत् श्रीकृष्णोऽग्रपूज्यः भवेदिति। अस्मिन् प्रसङ्गे माघः लिखति—

इत्थमत्र विततक्रमे क्रतौ वीक्ष्य धर्ममथ धर्मजन्मना।
अर्घ्यदानमनुचोदितो वचः सभ्यमभ्यधितशन्तनो सुतः॥

(शिशु.१४.५३)

पुनः तत्रैव ३४ श्लोकैः भीष्मः स्वयुक्तेः पुष्टिं समीचीनरूपेण करोति। अन्तिमे युधिष्ठिरः श्रीकृष्णाय अर्घ्यं समर्पितवान्। एतत् माघः प्रकाशयति, यथा—

भीष्मोक्तं तदिति वचो निशम्य सम्यक् साम्राज्यश्रियमधिगच्छता नृपेण।
दत्तेऽर्घे महति महीभृतां पुरोऽपि त्रैलोक्ये मधुभिदभूदनर्घ एव।।

(शिशु. १४.८८)

अत्र महति अर्घे दत्तेऽपि मधुभित् त्रैलोक्ये अनर्घोऽभूदिति कथनेन विरोधाभासः अलङ्कारो भवति। अनर्घशब्दस्य अमूल्यार्थकरणेन विरोधः परिहृतः भवति। हरिपूजानन्तरं तदसहमानः चेदिपतिः शिशुपालः भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति कोपं प्रकाशितवान्। श्रीमद्भागवते सहदेवः हरिपूजार्थं युक्तिं दर्शयति, परन्तु माघकाव्यानुसारेण भीष्मः एतादृशीं युक्तिं करोतीति पार्थक्यम्। पूर्णसभायां शिशुपालः उक्तवान् यत् हे सभासदः! सहदेवेन कृष्णपूजार्थं यदुक्तं तद् भवन्तः न स्वीकुर्वन्तु। असौ सहदेवः बालकः, तद् वचसा भवादृशाः ज्ञानिनः न मुह्येरन्। कुलकलङ्कः गोपालः कृष्णः कथमग्रपूज्यो भवेत्? काकः किं यज्ञीयपुरोडाशभक्षणे योग्यो भवेत्। कृष्णः न कस्यापि वर्णस्याश्रमस्य वा अन्तर्गतो भवति। कोऽपि गुणोऽस्मिन् नास्ति। एवंरूपेण बहुकटुवाक्यानि सः श्रीकृष्णमुद्दिश्य उद्गारयामास। शृगालरुतं निशम्य सिंहः यथा किञ्चिद् विचलितो न भवति तथा श्रीकृष्णः शिशुपालवचसा किञ्चिदपि न बभाषे, अथवा विचलितो जातः। श्रीमद्भागवतानुसारेण एतद्यथा—

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदम्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः।।
ईशोःदुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते।।
यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम्।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे।।
तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्पषान्।
परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान्।।
सदस्पतिनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति।।
वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति।।
एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः।
नोवाच किञ्चिद्भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम्।।

(भाग.१०.७४.३०-३८)

माघकाव्येऽपि कविः एवंरूपेण शिशुपालमुखेन श्रीकृष्णं तर्जयति। यथा—

यदराज्ञि राजवदिहार्घ्यमुपहितमिदं मुरद्विषि।
ग्राम्यमृग इव हविस्तदयं भजते ज्वलत्सु न महीशवह्निषु ।।

(शिशु १५.१५)

तव धर्मराज इति नाम कथमिदमपष्ठु पठ्यते।
भौमदिनमभिदधत्यथवा भृशमप्रशस्तमपि मङ्गलं जनाः ।।

(शिशु. १५.१७)

ननु सर्व एव समवेक्ष्य कमपि गुणमेति पूज्यताम्।
सर्वगुणविरहितस्य हरेः परिपूजया कुरुनरेन्द्र को गुणः ।।

(शिशु. १५/प्रक्षिप्त ७)

एवरूपेण शिशुपालतर्जनं निशम्याऽपि श्रीकृष्णः किञ्चिन्नोवाच। एतन्माघः वक्ष्यमाणरीत्या प्रकाशयति। यथा—

कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिमगमन्न माधवः।
सत्यनियतवचसं वचसा सुजनं जनाश्चलयितुं क ईशते ।।

(शिशु. १५.४०)

श्रीकृष्णसपक्षाः राजानोऽपि शिशुपालं प्रति कुपिताः नाभवन्। तत्र श्रीकृष्णः शिशुपालस्यापराधानां गणनामपि कृतवान्। यतो हि शिशुपालस्य शतमपराधान् मर्षयिष्यामीति तेन पूर्वं प्रतिज्ञा कृता। यथा—

न च तं तदेति शपमानमपि यदुनृपाः प्रचुक्रुधः।
शौरिसमयनिगृहीतधियः प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्तते ।।
विहितागसः मुहुरलङ्घ्य निजवचनदाससंयतः।
तस्य कतिथ इति तत्प्रथमं मनसा समाख्यपराधमच्युतः ।।

(शिशु. १५.४१-४२)

परन्तु श्रीकृष्णः तस्यापकारं गणयितुमसमर्थोऽभवत्। यतो हि उत्तमाः अधिगतगुणस्मरणाः अखिलं दोषं स्मर्तुं पटवः न भवन्ति। माघानुसारेण यथा—

स्मृतिवर्त्म तस्य न समस्तमपकृतमियाय विद्विषः।
स्मर्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः ।।

(शिशु. १५.४३)

कृष्णं प्रति शिशुपालस्य आक्षेपवचनं निशम्य पितामहः कुपितो जातः। स उच्चैरकथयद् यन्मया यदिदमच्युतार्चनं कथितं तद् यस्य कृते असोढो भवति स चापं

नमयतु। सर्वेषां राज्ञां पुरस्तात् तस्य शिरसि अयं मे चरणः कृतः। माघः एतत् स्पष्टतया स्वकाव्ये प्रकाशयति। यथा—

अथ गौरवेण परिवादपरिगणयन् तमात्मनः
प्राह मुररिपुतिरस्करणक्षुभितः स्म वाचमिति जाह्नवीसुतः।
विहितं मयाद्य सदसीदमपमृषितमच्युतार्चनं
यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम्।।

(शिशु. १५.४५-४६)

अथ भीष्मवचनं निशम्य सर्वे शिशुपालपक्षपातिनः राजानः क्षोभं गताः। शिशुपालोऽपि अतिकटुवचनैः भीष्म-कृष्ण-पाण्डवान् निर्भर्त्स्य स्वसैन्यान् युद्धाय उद्बोधितवान्। माघस्य भाषायाम्—

गुरु निःश्वसन्नथ विलोलसदवथुवपुर्वचोविषम्।
कीर्णदशनकिरणाग्निकणः फणवानिवैष विससर्ज चेदिपः।।
किमहो नृपाः सममभीभिरुपपतिसुतैर्न पञ्चभिः
वध्यमभिहत भुजिष्यममुं सह चानया स्थविराजकन्यया।।

(शिशु. १५.६२,६३)

श्रीमद्भागवतानुसारेण श्रीकृष्णस्य निन्दां श्रुत्वा सभासदः कर्णौ पिधाय चैद्यं शपन्तः बहिर्जग्मुः। पाण्डुपुत्राः मत्स्य केकयसृञ्जयाश्च शिशुपालजिघांसया उत्तस्थुः। ततः भगवान् सर्वान् निषिध्य रुषा स्वयं क्षुरान्तचक्रेण शिशुपालस्य शिरः चकर्त। शिशुपालस्य देहात् तदा निर्गतं ज्योतिरेकं भगवतः वासुदेवस्य शरीरे लीनमभवत्। जन्मत्रयमभिव्याप्य शिशुपालः भगवता सह शत्रुतामाचरितवान्। शत्रुतासम्बन्धेन सः भगवत्स्मरणं कृत्वा तन्मयतां गतः, अन्तिमे मोक्षं प्राप्तश्च। यथा—

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत् सभासदः।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा।।
ततः पाण्डुसुताः क्रुधा मत्स्यकेकयसृञ्जयाः।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया।।
तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः।।
चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खात् च्युता।।
जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
ध्यायन् तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्।।

(भाग. १०.७४.४१-४६)

अधुना शिशुपालवधं काव्यं पश्यामः। तत्र माघः कथमनुप्राणित इति आलोचयामः। शिशुपालवधमहाकाव्ये पञ्चदशसर्गाद् विंशसर्गं यावत् पाण्डवशिशुपालमध्ये वाग्युद्धं, सैन्ययुद्धं च महता आटोपेन वर्णितमस्ति। अन्तिमे विंशसर्गे श्रीकृष्णशिशुपालयोः युद्धं वर्णितमस्ति। युद्धेन श्रीकृष्णः अपराजेय इति मत्वा शिशुपालः वाक्शायकैः तं तुतोद। ततः श्रीकृष्णः कालक्षेपं न कृत्वा चक्रेण शिशुपालस्य शिरः विच्छेद। माघस्य भाषायाम्—

राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिङ्गन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित् तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः॥

(शिशु. २०.७८)

न केवलमेतत् श्रीमद्भागवतानुसारेण माघोऽपि शिशुपालशरीरान्निर्गतं धाम उपेन्द्रस्य शरीरे लीनमभवदिति लिखति। यथा—

श्रिया जुष्टं दिव्यैः सपटहरवैरन्वितं पुष्पवर्षै-
र्वपुष्टश्चैद्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय।
प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान् विक्षिपद्विस्मिताक्षै-
र्नरेन्द्रैरौपेन्द्रं वपुरथ विशद्धाम वीक्षाम्बभूवे॥

(शिशु. २०.७९)

अनेन प्रकारेण श्रीमद्भागवतेन प्रभावितः महाकविः माघः स्वरचिते 'शिशुपालवधम्' इति महाकाव्ये शिशुपालस्य चरित्रं वर्णयति।

श्रीमद्भागवते दार्शनिकचिन्तनस्यावधारणा

डॉ. रामसुमेरयादवः

❁❁❁

वेदानिव पुराणान्यपि अत्यन्तमेव विस्तृतानि आसन्। महर्षिवेदव्यासैः पुराणसाहित्यस्याष्टादशविभागाः विहिताः। वेदेषु तु किमपि परिवर्तनं नैव विहितं, परन्तु पुराणानां समासः यथेष्टपरिवर्तनञ्च विहितमेव। यतो हि कोऽपि जनः गभीरं सारतत्त्वविषयमपि सारल्येनावगन्तुं शक्नोति। महाभारतं वेदार्थं प्रतिपादयति। 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः'। श्रीमद्भागवतमहापुराणं वेदकल्पतरोः निसर्गतः निर्गलितं फलमेवास्ति। निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्। (भाग. १-१-३) पद्मपुराणे 'वेदोपनिषदां स्वराज्जाता भागवतीकथा (उत्तरखण्डकुमारनारदसंवादे-२-६७) ग्रन्थपरिसमाप्तौ पुराणमिदं सर्ववेदान्तसारत्वं भजते'।

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(भाग. १२-१३-१५)

दार्शनिकं चिन्तनं सभ्यानां जनानां स्वभावोऽस्ति। सभ्यतेतिहासे दार्शनिक-चिन्तनस्य विकासः कतिपयेषु देशेष्वेव जातः। प्राचीने यूनानभारतवर्षयोः स्थानं प्रामुख्यं भजते। भारते हि ऋग्वेदे यत्र तत्र दार्शनिकं दर्शनं दृश्यते। उपनिषद्दर्शनस्यारम्भः धार्मिकी आध्यात्मिकीजिज्ञासारूपेण परीवर्तते। बृहदारण्यकछान्दोग्योपनिषदौ प्राचीनतमे वर्तते (अष्टमीशताब्दी ई. पू.)। तत्र श्रेयप्रेयसोः परापरयोश्च विद्ययोः ज्ञानं प्रतिपादितम्। भारतीयदर्शनचिन्तनपरम्परायां ज्ञानमेव ध्येयम्, ज्ञानस्य च लक्ष्यं आत्मलाभ एव, तत एव मोक्षावाप्तिर्जायते।

पुराणसाहित्ये श्रीमद्भागवतमहापुराणं दार्शनिकतायाः पराकाष्ठाया विपुलत्वेन परिव्याप्तया धार्मिकतया सर्वोत्तमत्वमुपयाति। प्रायशः भारतीयदर्शनस्य परम्परागतानां समेषां ख्यातानां सिद्धान्तानामेकत्र समन्वयं भागवतदर्शने परिलक्ष्यते। भारते हि सदाचरणानां परिपालनं आवश्यकत्वेन प्रथमसोपानरूपेण परिगण्यते। दर्शनधर्मयोः

घनिष्ठतमो सम्बन्धः । दर्शनं विचाराणां प्रतिपादनं विदधाति । एषां विचाराणामनुकूलतया आचाराणां व्यवस्थापनं धर्मः करोति । दर्शनं हि सिद्धान्तान् प्रतिपादको नियामकश्चास्ति । धर्मस्तु व्यवहारमार्गं प्रदर्शयति । धार्मिककृत्यैः विना दर्शनं निष्फलितमेवास्ति । दार्शनिकभूमिकाभावे धर्मसत्ताप्रतिष्ठिता एव भवितुं नार्हति । धर्मस्य योगेनैव भारतीयदर्शनस्य व्यावहारिकी दृष्टिः भागवते आध्यात्मिकतायाः परिपाकः ज्ञातः ।

दर्शनशब्दस्यार्थः तावद् अवबोध्यं वर्तते । दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । तत्सिद्धिः दृशधातोः करणे 'ल्युट् चे'ति सूत्रेण ल्युटि कृते सम्पद्यते । ई. पू. षट्शताब्द्यां भारते धार्मिकं वैदिकं च सूत्रपातमभूत् । परिणामतः वैदिकतत्त्वदर्शनस्य तिस्रः धाराः सूत्रकाले षड्दर्शनेषु विनिर्मिताः । वैदिकपरम्पराधारीकृत्य विचारकैः षड्दर्शनेष्वेव विचाराः शृङ्खलाबद्धाः जाताः ।

श्रीमद्भागवतपुराणे भक्तिधर्मयोः महनीयत्वं बहुतरं प्रकाशितं, तस्मिन् साहित्यदर्शनयोः पूर्णतया सामञ्जस्यं वर्तते । भागवतकारैः समन्वयात्मकं रूपं प्रस्तुतं, प्रायशो समेषां दर्शनानां मूलतत्त्वानि महनीयेऽस्मिन् ग्रन्थे विवेचितानि वर्तन्ते । प्रामुख्येन वेदान्तदर्शनस्य प्रतीतिः बहुषु स्थलेषु जायते । मङ्गलाचरणमेव द्रष्टव्यं प्रथमं तावत्—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(भाग. १.१.१)

अर्थात् यस्माद् इदं जगत् सृष्टिं, स्थितिं, प्रलयमवाप्नोति । यतो हि सर्वेषु सद्रूपपदार्थेषु अनुगतं असत्पदार्थैः पृथगस्ति जडस्थाने चेतनत्वं भजते । नास्ति परतन्त्रं स्वयंप्रकाशं विद्यते । विपश्चितोऽपि नितरां मुह्यन्ति । तेजोमय्यासु सूर्यरश्मिषु जलस्य, जले स्थलस्य तथा च स्थले जलस्य भ्रान्तिर्जायते तथैव च त्रिगुणात्मिका सृष्टिः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिस्वरूपा मिथ्याभूतायां सति अधिष्ठानसत्यया सत् प्रतीयते । स्वज्योतिषा सर्वदा हि मायया मुक्तस्य परमात्मनः चिन्तनं विदधत् तस्यैव ध्यानं करोति भागवतकारः । सत्यरूपं वयं नितरां स्मरामः ।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परयो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।। (भाग. १.१.२)

भागवतेऽस्मिन् मोक्षपर्यन्तं कामनारहितस्य परमातिपरमधर्मस्य निरूपणं सञ्जातम् । अतः शुद्धान्तकरणानां सत्पुरुषाणां कृते ज्ञातव्यस्य वस्तुनः निरूपणं जातं यत् पापत्रयाणां विनाशं परमकल्याणप्रदायकञ्च वर्तते ।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।
(भाग.१.१.३)

अर्थात् श्रीमद्भागवतं वेदस्वरूपस्य कल्पवृक्षस्य फलं वर्तते । श्रीशुकदेव-रूपस्य शुकस्य मुखान्निसृतं परमानन्ददायकं अमृतसन्निभं रसं पीत्वा जनाः अमरत्वं यान्ति । एवमेव त्रिषु श्लोकेषु भागवतस्य प्रतिपाद्यं आत्मनः ब्रह्मणश्च एकत्वभावं यद् वेदानामपि सारभूतं गूढञ्च विद्यते—

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ।।
(भागवत. १२.१३.१२)

यत् समेषां उपनिषदां सारं ब्रह्मणः आत्मनश्च एकत्वरूपमद्वितीयं सदवस्तु तदेव श्रीमद्भागवतस्य प्रतिपाद्यं विद्यते । निर्माणमेव कैवल्याय मोक्षाय च विद्यते ।

भागवते स्थले स्थले दार्शनिकं चिन्तनं विद्यते । एकस्मिन्नेवानेकेषां भासत्वं विद्यते । दर्शनदृष्ट्या दर्शनसन्दर्भे भारतस्य प्राचीनत्वं चेत्, पश्यामः तदा तु त्वेकैव दर्शनमासीत् । यद् विश्वदर्शनं कथ्यते, परन्तु शनैः शनैः सांख्ययोगदर्शनं तस्यैव परिवर्तितं रूपमेव जातः, यत् संस्कृतसाहित्यस्य कृते वैदिकसम्पद्रूपेण प्राप्तम् । सांख्ययोगस्य प्रवर्तकः कपिलो मुनिः वर्तते । भागवते ब्रह्मणावगतमेव—

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराड् ।।
(भाग. ३-२४-१०)

भागवते अग्नेरवतारः कपिलः सांख्यशास्त्रस्य प्रवर्तकः स्वीकृतः । सांख्यशास्त्रस्योदेश्यं सम्यग् ज्ञानं वर्तते । अमरकोषे सांख्यशब्दस्यार्थः विचारणा च जाता । समन्वयमेष आदिकाले वेदैः उपनिषद्भिश्चाङ्गीकृतम् । तदैक्यभावेन भारतीयषड्दर्शनेषु गृहीतम् । वास्तविकरूपेण समेषां दर्शनानां विषयः जीव-जगत-ब्रह्म-मायादयः सन्ति गीतायामपि—'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' (श्रीमद्भगवद्गीता ५-४) अल्पज्ञानिनः सांख्यं पृथक् स्वीकुर्वन्ति । योगः सांख्यपूरकः । तत् सर्वश्रेष्ठज्ञानं कृष्णः एवास्ति । तत्कर्म कृष्णमयं हि विद्यते ।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा भावाः ।
वासुदेवपरा योगाः वासुदेवपरा क्रियाः ।। (भाग. १-२-२८)

योगकर्माणि कृष्णस्य कृते सम्पादितानि भवन्ति । भागवते अनेकेषु स्थलेषु तत्त्वानां विवेचनं विहितम् । योगदर्शनदृष्ट्या दशमस्कन्धस्य वैशिष्ट्यं विद्यते । अनाहदनाद

एव भगवतः श्रीकृष्णस्य वंशीयन्त्रस्य ध्वनिः वर्तते। नाडीसंस्थानमेव गोपिकाः वर्तन्ते। कुण्डलिनी एव राधा प्रतिभासते। तथा मस्तिष्कस्य सहस्रदलकमलं वृन्दावनमिवाभासते। यत्र आत्मनः परमात्मनश्च परमं सुखमयं मिलनं भवति। यत्र जीवात्मनः समग्राः शक्तयः ईश्वरीयविभूतिभिः सह मनोहरं नृत्यं विदधति। दशमे स्कन्धे भगवतः महायोगेश्वरत्वस्यैकं विचित्रं चित्रं दर्शनीयं विद्यते।

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥

(भाग. १०-३३-३)

समस्तानां योगानां स्वामी द्वयोः गोपिकयोः मध्ये प्रकटिता सञ्जाता। भगवतः कृष्णस्य बालक्रीडा मातुः कृते आश्चर्यं जनयति। बालसुलभचेष्टाभिः भगवता मृद्भक्षिते सति यदा जननी मुखमवलोकयति तदाश्चार्ययुता जाता।

किं स्वप्न एतदुतदेव माया किं वा मदीयो वत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्थकस्य यः कश्चनोत्पत्तिक आत्मयोगः॥

(भाग. १०.८.४०)

मातानुचिन्तयति यदीयः बालकः जन्मजातः योगी वर्तते। एवं भगवते योगदर्शनस्य दर्शनं भवति।

भारतीये वाङ्मये न्यायशब्दः विभिन्नेषु अर्थेषु प्रयुज्यते व्युत्पत्यनुसारेण नि-उपसर्गपूर्वकं इण्गतौ धातोः घञ्प्रत्यये जाते न्यायशब्दः जायते। यस्यार्थः उचितं भवति। दर्शनशास्त्रे नीयते प्राप्यते विनिश्चितार्थं सिद्धिरनेन इति न्यायः।

(न्यायभाष्यवात्स्यायन.)

न्यायदर्शनं वैशेषिकदर्शनं समानमेव तिष्ठतः। यतो हि द्वावपि परमाणुभिः जगदुत्पत्तिमङ्गीकुरुतः। ताभ्यामनुसारेण ब्रह्मस्वरूपायां सूक्ष्मावस्थानां प्रलयं यावत् सर्वासामवस्थानामुपभोगं करोति। परमेश्वरेच्छया सृष्टिविषयकेच्छयैव स्पन्दनं भवति। (भाग. ३.११-०५) द्वाभ्यां परमाणुभ्यामणुः त्रयाणामणूनां समन्वयेन त्रसरेणुर्जायते। न्यायवैशेषिकदर्शनं यथार्थतया ईश्वरवादमङ्गीकरोति। जीव-जगत्-ईश्वर इति त्रीणि सत्यानि भवन्ति। तथा सनातनस[illegible]ः प्रतिपद्यते। सत्यासत्ययोः भेदः न्यायस्य प्रमुखो विषयः। भागवते न्यायवैशेषिकस्यानेकेषां तत्त्वानां दिग्दर्शनं सौन्दर्येण सारल्येन च विहितम्।

मीमांसाशब्दः मान्धातोः जिज्ञासार्थे सन्प्रत्यये सति निष्पद्यते। तात्पर्यं यस्य ब्रह्मस्वरूपस्य व्याख्या एव। धर्मः ब्रह्म चेति मीमांसादर्शनस्य विभागद्वयं विद्यते।

ब्रह्म-आत्मा-जीवादितत्त्वानि उपनिषद्भिः सह सम्बन्धितानि। अस्मादेवोत्तरमीमांसा तथा वेदस्यान्तिमः भागत्वाद् वेदान्तमपि कथ्यते। मीमांसादर्शनं वेदान् शाश्वतं नित्यं चाङ्गीकरोति यतो महर्षिणा जैमिनीभगवता वेदानां प्रामाण्यवादत्वं निर्मितम्। कर्माकर्मधर्माधर्माणां फलस्वरूपं तदेवास्ति।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ।।(भाग. ४.२४.११)

भागवते कर्मज्ञानोपासनानां सुन्दरं समन्वयं विद्यते। अनेके प्रसङ्गाः धर्मप्रधानकर्मणः पुष्टिं कुर्वन्ति।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्।
वैद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।।(भाग. ५.७.५)

भारतीये हि दर्शने वेदान्तदर्शनं प्रसिद्धतमं वर्तते। ज्ञानमेवास्य मूलाधारः। वैदिकसाहित्येषु उपनिषत्सु आरण्यकेषु यद् ज्ञानं विकीर्णं वर्तते, तदेव वेदान्ते परिलक्ष्यते। सृष्टेः पूर्वं पश्चाद् ब्रह्म एवाभिवर्तते। एवं वेदान्तिनो भणन्ति।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत् सोऽस्म्यहम् ।।(भाग. २-९.३२)

भागवते दार्शनिकसिद्धान्तानां सरलतयोपस्थापनं जातम्। महर्षिणा वेदव्यासेन सर्वदर्शनानां मूलतत्त्वानां विवेचनं भागवते सुष्ठुतया विहितम्। क्वचित् मानवधर्मं क्वचित् कर्मयोगं कुत्रचिच्च वेदान्तमाश्रित्य दार्शनिकताधारेण भक्तिपरकतत्त्वानि प्रतिपादितानि। भागवतकारेण सर्वदर्शनानां समन्वयं विदधन् वेदान्तदर्शनस्य स्थापनं प्राधान्येन विहितम्। दार्शनिकसिद्धान्तानां रसात्मकता भागवते आप्लाविता।

समासतः निगदितुं शक्यते यद् भागवते दार्शनिकचिन्तनं बाहुल्येनोपलभ्यते। इदं हि समग्रे विश्वेस्मिन् परिपाल्यते रसास्वाद्यते चेति शम्।

भागवते भक्तिस्वरूपम्

डॉ. महेशझाः

❀❀❀

श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे परमकारुणिकेन भगवता श्रीकृष्णेन नृणां परमनिःश्रेयस्साधनीभूतास्त्रयो योगाः निरूपिताः । तद्यथा—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कश्चन[1] ।।इति ।

एतन्मध्ये कर्मयोगो न साक्षान्निःश्रेयसहेतुः, किन्तु "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादिश्रुत्या चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्त्योरुपकारकतया परम्परया एव मोक्षसाधनत्वं कर्मणः । मनो हि स्वतन्त्रम्, अस्माकं वशे न वर्तते । बलवद्भगवच्चिन्तने प्रवर्त्यमानमपि क्षणेन किमपि विषयान्तरमनुधावति । तस्मादादौ मनसो वशीकरणे यतितव्यम् । तत्रोपायः कर्मयोगः । विहितेषु कर्मसु स्ववर्णाश्रमानुगुणं किमपि परिगृह्य फलाभिसन्धिं विना भगवदाराधनतया तस्यानुष्ठानं कर्मयोग इति व्यवह्रियते । यथावदनुष्ठितेनानेन निर्मलीभूतं मनोऽस्माकं वश्यं भवति । ततः परं तेन शरीरेन्द्रियप्राणव्यतिरिक्तं चिन्मयमणुपरिमाणं भगवत्परतन्त्रं यदस्मदात्मस्वरूपम्, तद्ध्यानं कर्तव्यम् । अयमेव ज्ञानयोग इत्युच्यते । चिराभ्यस्तो ज्ञानयोगः अस्मदात्मस्वरूप-साक्षात्कारं जनयति । आत्मसाक्षात्कारे लब्धे स्वस्वरूपस्य यथावद्विशदमुपलब्धत्वाद् यस्य वयं परतन्त्राः, योऽस्माकं निरुपाधिकः स्वामी, यस्य कैङ्कर्यकरणमेवास्माकमनुत्तमः पुरुषार्थः, तस्मिन् भगवति प्रावण्यं मनसः स्वयं सम्पद्यते । ततो भक्तियोगानुष्ठाने नास्ति श्रमः ।

वस्तुतः ज्ञानयुक्तभक्तेः परममहत्त्वम् । किन्तु केवलज्ञानापेक्षया केवलभक्ति-र्गरीयसी । यतो हि ज्ञानेनाक्षरब्रह्मणः प्राप्तिः, भक्त्या तु परब्रह्मणः श्रीकृष्णेन सह रममाणः निरतिशयानन्दमनुभवति जीवः । भक्तौ प्रासादानन्दो रसपानं च फलम् । ज्ञाने दुःखाभावमात्रं फलम् । भक्तौ पूर्णानन्दानुभवः, ज्ञाने स्वरूपेण प्रकर्षतः फलम्, भक्तौ मूलत एव निरतिशयानन्दः फलम् । भक्तौ पूर्णानन्दानुभवः, ज्ञाने स्वरूपेण प्रकर्षतः फलम्, भक्तौ मूलत एव निरतिशयानन्दः, ज्ञाने प्रथमं कष्टम्, अन्ते दुःखाभावोऽगणितानन्दश्च । भक्तौ "आक्षिप्तचित्ताः प्रमदारमापतेस्तास्ताविचेष्टा

---

१. ११.२०.०६ ।

जगृहुस्तदात्मिकाः ।' (१०/३०/२) इति भागवतोक्तदिशा सकला भगवल्लीला भक्तास्तु तन्मनस्काः, तदालापाः, तद्विचेष्टाः, तदात्मका भूत्वा स्वयमेव कुर्वन्ति । ज्ञाने तु "अहं ब्रह्मास्मि" (बृहदा. १/४/१०) इत्यादिवाक्यैः केवलमक्षरभावना । ज्ञाने कामक्रोधादयः प्रतिबन्धकाः, भक्तौ तु तेऽपि सहायकाः । तदुक्तं श्रीमद्भागवते—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते[1] ।।इति ।

किञ्च—

गोप्यः कामाद् भयाद् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो[2] ।।

इत्येवं कामक्रोधादिभ्योऽपि भगवत्साम्यं प्राप्ताः । एवञ्च—"न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्येवं केवलज्ञानवैराग्यादीनामश्रेयस्करत्वं प्रदर्श्य "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः" इत्यनेन केवलभक्त्या तिरश्चामपि भगवत्प्राप्तिकथनाद् नूनं ज्ञानापेक्षया भक्तेः गरीयस्त्वं सुप्रतीतं भवति ।

भजसेवायामिति धातोर्भावे क्तिन् प्रत्ययेन भक्तिरिति पदं निष्पन्नं भवति । पितृभक्तिर्मातृभक्तिः पतिभक्तिरित्यादिकापि भक्तिरेव, किन्तु न पारमार्थिकी । तासां चापरमार्थिकं नश्वरं न्यूनमेव फलम्—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्[3] ।।

इति भगवद्वचनात् न तत्फलं परमं चरमं वा, अतस्ताः पित्रादिभक्तयो न मुख्यतो भक्तिपदेनाभिहिताः । तर्हि किं नाम भक्तिरित्याकाङ्क्षायां श्रीधरस्वामिभिः श्रीमद्भागवतीयद्वितीयपद्यव्याख्यानावसरे उक्तम्—'श्रीकृष्णस्यानुकूल्येन श्रवणादिका भक्तिर्भजनम्' इति ।

नारदपञ्चरात्रे तु—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ।

किञ्च—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ।।

एभिर्वचनैः परिलक्ष्यते यद् भगवत्यनन्यं प्रेमैव भक्तिरस्ति । यद्यपि यथाकथञ्चिद् सम्पदादिलाभेच्छया भगवद्भजनमपि भक्तिरेव, किन्तु सा सकामा एव न निष्कामा ।

---

१. १०.२९.१५; २. ७.०१.३० ।
३. गीता. ९.२५ ।

सकामा भक्तिश्च सगुणैव। सा च एकाशीतिप्रकारा श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवहूतिसंवादादवगम्यते। तत्र मोक्षकामनयापि या भक्तिः, सा हि सात्त्विकी श्रेष्ठा सगुणैव स्यान्न निर्गुणा।

एवञ्च गौणीपराभेदाद् भक्तिस्तावद् द्विविधा। गौणी पुनर्द्विधा—वैधी रागात्मिका च। तत्र वैधी पुनर्नवधा। तथाचोक्तं प्रह्लादेन—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्[1] ।। इति।

तत्र भगवद्गुणगाथायाः श्रवणं नाम श्रवणभक्तिः। श्रवणभक्तिः सर्वधर्मेभ्यः श्रेष्ठा स्वीकृताऽस्ति। तथा चोक्तं श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरमन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णो श्रवणाद्यस्य लभ्यते[2] ।।

महाराजपरीक्षितः श्रवणभक्तिप्रभावेणैव परमात्मानं प्राप्तवान्। तदुक्तं श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्धं पिबत शुकगाथाऽतुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो ? व्रजत कुपथे कुत्सितपथे।
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने[3] ।।

अजामिलोऽपि नारायणशब्दोच्चारणेनैव यमपाशाद्विमुक्तः। तदुक्तं यमेन—

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत[4] ।।

अतो श्रवणादन्यः नास्ति भगवत्प्राप्तिसाधकः कोऽपि सुगमः पन्थाः। भगवच्चरित्रकीर्तनं नाम कीर्तनभक्तिः। श्रीमद्भागवते यथा—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः[5] ।।
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शंतमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत[6] ।।

अपि च—

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।

---

१. भा. ०७.०५.२३; २. भा. ०६.७६।
३. भा. ६.१००; ४. भा. ०६.०३.२३।
५. भा. १२.१२.४७; ६. भा. ११.३१.२८।

प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्[१] ।।

कीर्तनभक्तिशिरोमणिश्रीचैतन्यमहाप्रभोः मतानुसारं भगवन्नाम एवं सङ्कीर्तनीयं येन नेत्राभ्यामश्रुधारा प्रवहेद्, वाणी गद्‌गदा भवेत् सर्वाङ्गञ्च पुलकितं स्यात्। तेन—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

इति महामन्त्रो भगवन्नामसु सर्वश्रेष्ठः स्वीकृतः ।

भगवच्चरितचरणारविन्दादिस्मरणात्मिका स्मरणभक्तिः । श्रीमद्भागवते यथा—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्[२] ।।

भगवत्पादाब्जसेवनं सेवनभक्तिः । श्रीमद्भागवते यथा—

यत्पादसेवाभिरुचिर्मनस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्[३] ।।

पाषाणादिनिर्मिताया भगवन्मूर्तेः पूजनमर्चनभक्तिः । सा च भगवतोऽतिप्रीतिकारिणी भवति । भगवतोऽर्चनेन भक्तानां हृदये प्रसन्नता जायते । एवञ्च भगवद्भावप्रीतिश्च शनैः शनैः समुदेति । तदुक्तं व्यासदेवेन श्रीमद्भागवते—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ।।

अनया भक्त्या स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिः समस्तसिद्धिलाभश्च सञ्जायते । यदुक्तम्—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसानां भुवि मानसम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ।।

श्रीकृष्णेनापि गीतायामुक्तम्—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (१८/४६)

भगवच्चरणारविन्दयोर्वन्दनं वन्दनभक्तिरुच्यते । तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्[४] ।।

अन्यत्रापि वन्दनभक्तेर्माहात्म्यमाह—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।

---

१. भा. १२.१३.२३; २. भा. १२.१२.५४ ।
३. भा. ०४.२१.३१; ४. भा. ११.५.३३ ।

दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।।

इत्थं वन्दनभक्त्या भक्तेष्वहङ्कारापनयनद्वारा भगवद्भावस्योदयो भवति । दासवत् सर्वतोभावेन भगवद्भक्तिसम्पादनं नाम दास्यभक्तिः । दास्यभक्त्या भगवत्सेवाभ्यासद्वारा भक्तहृदयतः सर्वथाऽभिमानापनयनं भवति । भगवन्तमेव सर्वस्वं मनुते भक्तः । तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

न वासुदेवात् परमस्ति मङ्गलं न वासुदेवात् परमस्ति पावनम् ।
न वासुदेवात् परमस्ति दैवतं तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति ।।

भगवन्तं सखायं मत्वा तदनुकूलाचरणं सख्यभक्तिः । अत्र भगवत्सखिरूपेण भक्तहृदये मधुरमयस्य प्रेम्णः विकासो जायते । सख्यभक्तिप्राप्तौ भगवत्प्रेमिभिः सखिभिः सह सङ्गः, तेषां चरित्रस्याध्ययनमावश्यकं भवति । तदुक्तं श्रीमद्भागवते—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्[1] ।।

एवमेव सख्युः सुदाम्नः सेवापरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यावस्थां श्रीमद्भागवते इत्थं समुपवर्णितः दृश्यते—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ।।
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ।।
अग्रहीच्छिरसा राजन् ! भगवांल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः[2] ।।

भगवत्यात्मसर्वस्वसमर्पणमात्मनिवेदनभक्तिरुच्यते । स्वात्मनिवेदनद्वारा भक्तानां सकला शारीरिकी-वाचनिकी-मानसिकी च चेष्टा भगवद्भावमयी भवति । भक्त आत्मनः सर्वं वस्तु भगवदर्थमेव मनुते । इत्थमात्मनिवेदनभक्त्या भक्तानां हृदये भगवद्विषयेऽपूर्व-दिव्यरागस्योदयो जायते । तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते ।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरोहृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रयारतिः[3] ।।

---

१. भा. १०.१४.३२; २. भा. १०.८०.१९-२१ ।
३. भा. ९.४.१८-२० ।

नवधा वैधीभक्तिवर्णनप्रसङ्गे श्रीरूपगोस्वामिना नवानामपि भक्तीनामेकैकमुदाहरणं प्रदाय तत्फलञ्च श्रीकृष्णपादारविन्दप्राप्तिरेव प्रतिपादितम्। तथा हि—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवादने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

एवञ्च नवविधास्वासु वैधीभक्तिष्वेकविधयाऽपि भक्त्या भगवन्तं साक्षात्कृत्य भक्तोऽनायासेन संसारसागरादुत्तर्तुं शक्नोति। किं पुनः प्रह्लाद इव यत्र नवधा भक्तिर्भवेत्।

इत्थं गुरूपदेशात् विधिनिषेधानुकूलं साधनं कुर्वतो भक्तस्य हृदये प्रथमं वैधी भक्तिरुदेति। ततो निरन्तरं भगवच्चरणाविन्दविषयिणी रागात्मिका भक्तिराविर्भवति, यया भक्तहृदये आनन्दातिरेकः सञ्जायते। वंशीनिनादमाकर्ण्य स्वान्तिकमुपगता गोप्यो यदा कृष्णेनोक्ता यत्—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिलनीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥
तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत[1]।

तदा रागात्मिका भक्तिरसाभिप्लुता एव ता भगवन्तं श्रीकृष्णमेवमुक्तवत्यः—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्[2]॥

अपि च—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा[3]॥

वस्तुतः रागात्मिकायां भक्तौ भक्तः भगवत्प्रेमविह्वलः सन् उन्मत्तवत् नृत्यति गायति रोदिति हसति च। तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

१. भा. १०.२९.१८-२२; २. भा. १०.२९.३१।
३. भा. १०.२९.३४।

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः[1] ।।

भगवान् श्रीकृष्णोऽपि उद्धवं प्रति रागात्मिकायामवस्थायां स्थितस्य भक्तस्य दशामेवं वर्णयति—

वाग्गद्गदाद्रवत्यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति[2] ।।

एवञ्च गुरुवाक्यशास्त्रवचनाज्ञानुसारं वैधीभक्तिमभ्यस्यतो भक्तस्य हृदये सा रागात्मिका भक्तिरुदेति, यस्यां भक्तहृदयं सांसारिकविषयेभ्य उपरतं भूत्वा भगवति लीनं भवति। इत्येवंरूपाभक्तिर्योगशब्दघटनेन भक्तियोग इत्युच्यते। इयं भक्तिरहरहरभ्यस्यमाना तथा परिपक्वा भवति यथा तदर्हे काले दर्शनसमानाकारता तस्याः सम्पद्यते। अनुसन्धानं स्वयं स्मृतिरूपमपि वैशद्यातिशयात् साक्षात्कार इव भवति। इयं दर्शनसमानाकारता। इमां दशां प्राप्ता भक्तिरेव 'पराभक्तिः' इत्युच्यते। यस्यामहङ्कारदेहात्मभावौ नश्यतः सर्वात्मदृष्टिश्च सञ्जायते। उक्तञ्च जगद्गुरुशङ्कराचार्यचरणैः—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रिया ।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगुरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ।।

भक्तेः के गुणा इति जिज्ञासायां प्राह भगवान् वादरायणः—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ।।

स्कन्दपुराणे च—

अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिः तपःशान्त्यादयस्तथा ।
अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाभिकामिनम् ।।

वस्तुतः भगवद्भक्तौ रूपस्यायुषश्च न वा सदाचारस्य सद्गुणस्य च प्राधान्यमस्ति। न वा भक्तौ विद्याया धनस्य जातेर्बलस्य चोत्कर्षोऽप्यपेक्ष्यते, किन्त्वनन्यप्रेमरूपा भक्तिरेव प्रतीक्षते भगवान्। तथा चोक्तं भक्तिसामृतसिन्धौ जीवगोस्वामिना—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्यां तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।।

---

१. भा. ११.३.३२; २. भा. ११.१४.२४ ।

किञ्च श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये नारदेनोक्तं भक्तिं प्रति—

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ।। (२/३)

प्रगाढ्या भक्त्या प्रसन्नो सर्वशक्तिसम्पन्नो कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वथा समर्थो भगवान् सर्वमपि कार्यं परित्यज्य भक्तस्य कृतेऽलौकिकं कर्म करोति। भक्तस्य सर्वविधां विपदं वारयति, मनोरथं च सर्वं पूरयति। तदुक्तं भागवते—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्[१] ।।

भगवद्भक्तिसमासक्तो भक्तः गोपदमिव संसारसागरमुत्तीर्य परमं पदं लभते— यथा श्रीमद्भागवते—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्[२] ।।

वस्तुतः भक्तिर्भगवतः प्राणतोऽप्यधिका प्रियाऽस्ति। भक्तस्तद्भक्तिं लब्ध्वा न पुनः जन्म-मरणचक्रचङ्क्रमितो भवति। तथा हि ब्रह्मादयो देवा देवकीगर्भगतं भगवन्तं स्तुवन्ति—

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते[३] ।

तस्मादात्मकल्याणकामभिः पुरुषैर्भगवत्स्वरूपसाक्षात्कारात्मकमुक्तिप्राप्तये तत्साधनत्वेनोपयोगिनीं भगवद्भक्तिरवश्यमनुष्ठेया, ययाऽन्तेऽवश्यं कल्याणं भवेत्। अत एव श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भगवद्भक्तानामेवं प्राशस्त्यमुक्तम्—

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः[४] ।।इति।

उपसंहारः–

ब्रह्मसूत्रभाष्यभूतस्य सर्वेष्वपि पुराणेषु श्रेष्ठस्य श्रीमद्भागवतस्य तात्पर्यं परात्परस्य परमेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य साक्षात्कार एव। स च साक्षात्कारः तस्यैवानन्यभक्तितो जायते। तदाह—श्रीकृष्णः उद्धवं प्रति—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।

---

१. भा. ७.८.१८; २. भा. १०.१४.५८।
३. भा. १०.२.३७; ४. भा. ०३.७३।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः......................इति[१]।

तथा च कलौ भक्तिरेव साधनम्। सा द्विविधा गौणीपराभेदात्। गौणी पुनर्द्विधा वैधी रागात्मिका च। वैधी अपि श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-संख्यात्मनिवेदनरूपेण पुनर्नवधा विभज्यते। तत्र गुरूपदेशाद् विधिनिषेधानुकूलं साधनं कुर्वतो भक्तस्य हृदये प्रथमं या भक्तिरुदेति सा वैधी भक्तिरुच्यते। पुनः शास्त्रवचनानुसारं भक्तिमभ्यस्यतो भक्तस्य हृदये रागात्मिका भक्तिरुदेति, यस्यां भक्तहृदयं सांसारिकविषयेभ्य उपरतं भूत्वा भगवति लीनं भवति। एतत्परिपक्वदशायाः परिणाम एव पराभक्तिरित्युच्यते। यस्यामहङ्कारदेहात्मभावौ नश्यतः सर्वात्मदृष्टिश्च जायते। तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

मुद्रणस्तुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्[२]॥इति।

इयमेव साक्षान्मोक्षसाधनभूता भक्तिः। वस्तुतस्तु भक्ता भक्तिं पञ्चमपुरुषार्थ-रूपेणाङ्गीकुर्वन्ति। भगवता साक्षाद्दीयमानमपि मोक्षं नेच्छन्ति। तदुक्तं भगवता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः[३]॥

इत्थमस्याः भक्तेः स्वरूपं, प्रकाराः, तासां प्राप्तिसाधनान्यपि श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे एकादशस्कन्धे च विस्तरेण प्रोक्तानीति शम्॥

●

---

१. भा. ११.१४. २०-२१; २. भा. ३.२९.११-१२।
३. भा. ३.२९.१३।

श्रीमद्भागवतमहापुराणस्योत्कलीयं स्वरूपम्

डॉ. प्रमोदिनी पण्डा

❊❊❊

'पुरा नवं भवतीति पुराणमिति' यास्कमतं श्रीमद्भागवतेऽविकलतया प्रतिपादितमस्ति । यतो हि पुरा भूत्वाऽपीदानीं येन केनापि प्रकारेण नवनवीनतया लोकेषु जीवति भागवतपुराणमिति न कस्यापि सन्देहलेशः । यथा वेदानां प्रामाण्यं सिद्धमस्ति तथैव पुराणानां प्रामाण्यं वर्तत इति । वेदादधिकं पुराणस्य प्रामाण्यमस्ति इति पुराणस्योद्घोषः ।

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।।

यथा वेदः अपौरुषेयस्तथैव पुराणमपौरुषेयमिति मन्यन्ते केचन । परन्तु व्यासोक्तं सर्वपुराणमिति निर्विवादोऽयं प्रसङ्गः । केचन आधुनिकाः परम्परामतमविगण्य पुराणानां कालगणनां चक्रुस्तेषु डॉ. आर. सी. हाजरामहोदयानां कार्यं ख्यातिमलभत । तन्मतेन भागवतस्य रचना ईशवीय ५०० वर्षतः १००० मध्ये कृताऽस्ति । अस्तु, पुराणानां सनातनत्वं पुरुषकर्तृत्वं वा भवतु, तेषु पुराणतिलकं वैष्णवानां धनं साहित्यिकानां रत्नं श्रीमद्भागवते सर्वश्रेष्ठमिति निर्विवादोऽयं विषयः ।

महापुराणानामनन्तरं लिखितानि सन्ति बहूनि पुराणानि यानि उपपुराण-औपपुराण-उपौपपुराण-स्थलपुराणनाम्ना प्रथितानि सन्ति । एतानि विहाय विभिन्नेषु प्रान्तेषु प्रान्तीयभाषायां लिखितानि सन्ति पुराणानि, यानि खलु महापुराणानां सम्पोषकानि सन्ति । एतेषु प्रान्तेषूत्कलं भवति प्रमुखतमं स्थानं यत्र संस्कृतेन उत्कलभाषया चोपलब्धानि सन्ति पुराणानि । संस्कृतभाषया एकाम्रपुराणं पुरुषोत्तममाहात्म्यं कवित्वसंहिता, मुक्तिचिन्तामणिः नीलाद्रीमहोदयः प्राचीमाहात्म्यं च वर्तन्ते प्रसिद्धानि । उत्कलभाषया सारलादासप्रणीतं महाभारतं बलरामदासप्रणीतं रामायणं विहाय भागवतपुराणं प्रतिजनं प्रसिद्धिं प्राप्य इदानीमपि पुरपल्लीषु जीवितमस्ति ।

कविपरिचयः

इतिहासस्यालोडनेन ज्ञायते यद् उत्कले खिष्टीयचतुर्थ-शतकादारभ्य द्वादशशतकं यावत् शैववैष्णवाख्ये द्वे धारे प्रवहतः स्म। परन्तु द्वादशशतकात्परं रामानुज-विष्णुस्वामि-निम्बार्क-मध्व-वैष्णवाचार्याणां प्रभावेण उत्कले वैष्णवधर्मस्य प्रवर्तनं सञ्जातम्। पुर्यां विष्णुस्वामिनः मठत्रयमस्ति, यत्र वैष्णवधर्मस्य प्रचारः प्रसारश्चाभूताम्। अस्मिन्नैव क्रमे श्रीजगन्नाथदासस्य जनिर्बभूव। तत्समसामयिक-(Contemporary) पद्मपादसुधानिधिदाढ्यताभक्ति-जगन्नाथचरितामृतपुस्तकेषूपलब्धतथ्यानुसारं जगन्नाथदासस्य प्रादुर्भावकालः १४८७ ईशवीयो वर्तते। तदनुसारमसौ षष्ठिवर्षं यावज्जीवित आसीत् स्वपितृसंस्कारवशात् संस्कृतवाङ्मयेऽस्य महानधिकारः समजनि। असौ प्रतिदिनं श्रीजगन्नाथमन्दिरे पुराणपाठं करोति स्म। कृष्णप्रेम्णा प्रेरितः सन् मूलभागवते काठिन्यमनुभूय सरलतरलतया उत्कलभाषया कोमलललितपद्यबन्धेनानेन भागवतं व्यरचि। उत्कलभागवतं विहाय शैवागमभागवतं—दूतीबोधतुलाभिणा-अर्थकोलि-हरि-उषापरिणय-नीलगिरिध्यान-गजनिस्तारण-उद्धवजणाण-नित्यनीलाद्रिविलासकाव्यानि कवेः सन्ति रचनान्यन्यानि।

उत्कलभागवतस्य सूक्तयः

अस्मिन् ग्रन्थे बहवः सूक्तयः सन्ति प्रसङ्गक्रमेषु सङ्कलिताः। कतिपयसूक्तीनाम-विकलसंस्कृतानुवादो निम्नानुसारं प्रदत्तोऽस्ति।

उत्कलभागवते सूक्तयः	संस्कृतानुवादः
१. दण्डिवा शक्ति याट थाइ। से पुणि क्षमा आचरइ॥	१. यस्यास्ति दण्डसामर्थ्यं क्षमा तस्य विभूषणम्।
२. महते याहा आचरिवे। इतरे ताहा हि करिवे॥	२. यद् यदाचरते श्रेष्ठः लोकस्तदनु वर्तते।
३. ये प्राणी परे हिंसा करे। देवता पूजि से न तरे॥	३. यः प्राणी परं तु हिंसति। देवतां पूजन् तरति॥
४. सर्पकु क्षीर ये पिआन्ति। सर्पर घाते से मरन्ति॥	४. सर्पं यः क्षीरं पाययति सर्पघातेन मृत्युं याति।
५. सत्य उपरे धर्म नाहिं ए कथा शास्त्रे अछि कहि।	५. सत्यं विहाय धर्मो नास्ति। एतत्तु शास्त्रस्य भणितिः॥
६. अमृत विनय वचन। कहि तोषिव प्राणी मन।	६. अमृतविनयवचनम्। उक्त्वा तोषय जनमनः॥
७. दुःखे सञ्चित येते धन से सुखे नुहें प्रयोजन॥	७. दुःखे सञ्चितं यावद्धनम्। सुखे तन्नास्ति प्रयोजनम्॥

८. आहारे भल मन्द नाहि।
ये स्थाने येमन्त मिलइ॥
९. मर्त्यमण्डले जन्म होइ।
देवता होइले मरइ।
१०. आपणा हस्ते जिह्वा छेदि
के अछि तार प्रतिवादि

८. आहारे उच्चावचं नास्ति।
यत्स्थाने यथा तु मिलति॥
९. मर्त्यमण्डले जन्म नीत्वा।
देवता भूत्वापि स गन्ता॥
१०. स्वहस्ते स्वजिह्वाविच्छेदी।
कं पुनः तस्य प्रतिवादी॥

उत्कलीयभागवतस्यापूर्वता

इदं भागवतं मूलसंस्कृतभागवतस्याविकलानुवादो नास्ति, अपि तु विस्तरेण पद्यानुवादः सरलया भाषया वर्तते। दृष्टान्तरूपेण श्रीमद्भागवतस्य प्रथमश्लोकस्य सुविस्तरोऽनुवादः प्रदीयते।

मूलभागवतश्लोकः

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

(भाग. १/१/१)

उत्कलभावानुवादः

न मईं नृसिंह चरण। अनादि परम कारण।
या विनु आदि मध्य अन्त। विचारे न घटे जगत॥
इन्द्रिय अर्थ से जाणइ। सुतेजे नित्य प्रकाशइ॥
आनन्द मने वेदसार। ब्रह्मारे ये कला विस्तार॥
याहार रूप हृदे चिन्ति। वेदपुरुष न जाणन्ति॥
मृत्तिका विकार येमन्त। जलरे हुअई कल्पित॥
जले उपल वृद्धि करि। मृगतृष्णारे येन्हे वारि॥
रूप अरूप, स्थिति तिनि। याहा गोचरे अनुमानि॥
स्वभावे नोहे से तेमन्त। ए सांख्य योगीङ्कर मत॥
आत्मप्रकाशे सदा थाइ। निरस्त कुहुक बोलाइ॥
सत्य परमानन्द हरि। या भावे भव सत्य करि॥
एमन्त सत्य रूप यार। ता पादे मोर नमस्कार॥
तांक चरणे नित्य ध्यान। करि तरन्ति साधु जन॥
से कृष्ण पाद हृदे धरि। प्रवधे गीत नाद करि॥
अशेष जनङ्कर हित। कहइ दास जगन्नाथे॥

श्रीमद्भागवतस्य क्लिष्टक्लान्तपदावली कथमुत्कलभाषया कोमलकान्तपदावलीं भावशबलतां च धत्ते तदनेनानुवादेन स्पष्टमनुमीयते। श्रीजगन्नाथदासस्य सृजनशीला चिन्तनधारा नितरामनवद्या। भागवतस्यास्य प्रतिचरणं नवाक्षरयुतम्। उत्कलभाषया रागः (गेयशैली) गुज्जरी वर्तते।

शैली

मधुरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनोहरन्ती भागवतस्येयं वाणी वैदर्भीरीति-विजृम्भितेति निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते। वैदर्भीरीतिर्यथा—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते[१]॥

अस्याः रीतेरेकमुदाहरणं दिङ्मात्रमुदाह्रियते येन ज्ञातुं शक्यते यत्कथं सारल्यं व्यञ्जकवर्णयुतं लालित्यभरितं रसपेशलत्वं वर्तत अस्याः वाणीषु। प्रसङ्गो वर्तते बाणासुरस्य वीरतावर्णनम्।

उत्कलभागवतम्

बलिर पुत्र बाणासुर। दुर्जय दुष्ट दुराचार॥
तार सहस्र भुजबले। दुर्जय महीमण्डले॥
ईश्वर वरे भुज वहि। ताहाकु रणे वीर नाहिं॥
देखि उरन्ति सर्वजने। अजय ए तिनि भुवने॥

अस्य काव्यस्यापरं वैशिष्ट्यमस्ति प्रसादगुणः[२]। यथा शुष्केन्धनेष्वग्निः सहजतया व्याप्नोति तथैव सहृदयहृदयमसावाप्लावयति।

अलङ्कारयोजना

यद्यपि उपमारूपकादयः प्रमुखाः अलङ्काराः जगन्नाथदासस्य कवित्वमलङ्कुर्वन्ति, परन्तु वर्तत असौ अनुप्राससरसिकः, यतिपातः (तुकबन्दी) अस्य रहस्यम्। यथा

भागवतम्
गोविन्द गोविन्द गोविन्द।
पदु गलुछि मकरन्द॥
से मकरन्द पान करि।
हेले तरिले व्रजनारी॥
से व्रजनारीङ्क पयरे।
मन मो थाउ निरन्तरे॥

भावानुवादः
गोविन्द गोविन्द गोविन्द
पद्भ्यां गलति मकरन्दः।
तन्मकरन्दं पायं पायं
व्रजन्ति गोप्यः गायं गायम्।
(इत्यादयः)

---
१. साहित्यदर्पणः ९.२।
२. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्, सा. द. १०.३।

मन मो निरन्तरे थाउ
हा कृष्ण बोलि जीव पाउ।
अत्र ('न्द न्द') (रि, री) (रे, रे), (उ उ) इत्यादिनामनुप्रासो वर्तते।

उपसंहारः

यथा तुलसीदासस्य रामचरितमानसकाव्यं, तमिलभाषया विरचितं 'तिरूकुरल्ल' कम्बकृत्तिवासरामायणंस्वस्वप्रान्ते प्रसिद्धिमवापुस्तथैव जगन्नाथदासनाम्ना प्रसिद्धं प्रणीतं भागवतमुत्कले शिक्षिताशिक्षितेषु साक्षरनिरक्षरेषु धनिषु निर्धनेषु च लोकप्रियतां भजति। इदानीमपि प्रतिग्रामं (भागवतहुंगी) भागवतवाचनालयो वर्तते यत्र तस्य ग्रामस्य पुराणपण्डा प्रतिदिनं सायं भागवतस्य वाचनं कथां च कृत्वा लोकान् आध्यात्मिकमार्गे प्रवर्तयति। उत्कले प्रतिगृहं पूजामन्दिरे "भागवतगादि" भागवतमहापुराणस्य ताडपत्रपाण्डुलिपयः कार्पासवेष्टनेषु सुरक्षिताः सन्त्यः श्रीकृष्णस्य प्रतिनिधिरूपेण पूज्यन्ते सर्वेषां मुखे भागवतस्य पद्यानि नृत्यन्ति। कथोपकथनप्रसङ्गे भागवतस्य पद्यानि दृष्टान्तानि चोदाहरणरूपेण प्रदीयन्ते। मृत्युकाले स्वर्गतस्य आत्मनः शान्त्यर्थं सद्गत्यर्थं श्रीमद्भगवद्गीतया सह उत्कलीयभागवतस्य पाठः क्रियते। पुराणस्य सारल्यं समासरहितत्वमूल्यसन्धित्वं भावसम्पोषकत्वं साधारणीकरणीयत्वं लोकप्रियतायाः प्रमुखं कारणमस्ति। अतः निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यद् उत्कलीयं भागवतं व्यासप्रणीतभागवत-महापुराणस्य सम्पोषकं सरलव्याख्यात्मकमनवद्यं मुक्तिदं चतुर्वर्गफलप्रदं चास्ति।

●

---

२. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्तं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥ सा. द. ८.७।

श्रीमद्भागवते पर्यावरणम्

डॉ.मखलेशकुमारः

❀❀❀

अस्माकं संस्कृतिः वेदमूला अस्ति। वेदवर्णितं विज्ञानं सर्वविधचिन्तनपूर्णञ्चास्ति। तथा च वेदविज्ञानस्योपरि आधारिता अस्माकं भारतीया संस्कृतिरपि सर्वाङ्गपूर्णा वर्तते। वेदस्य भाषा प्राञ्जला, दुरूहा, परोक्षा च भवति, अत एव महर्षिवेदव्यासः सर्वजनकल्याणाय सौलभ्याय च वेदवर्णितस्य विषयस्य प्रतिपादनं पुराणेषु सरलाख्यानोपाख्यानैः कृतवान्। इदानीं स्पष्टं यत् पुराणेषु वैदिकविषयस्य एव समुपबृंहणमिति।

प्रस्तुतेऽस्मिन् शोधपत्रे श्रीमद्भागवतस्थं पर्यावरणं विचार्यते। स्वकीयैः गुणगणैः शिरोरत्नभूतं श्रीमद्भागवतं पुराणवाङ्मये तिलकस्थानं भजते। महर्षिवेदव्यासः महाभारतसप्तदशपुराणब्रह्मसूत्ररचनान्ते एवं श्रीमद्भागवतं विरचितवान्। सः भगवतः लीलाचरितं समाधिपूर्वकं ध्यानरतो भूत्वा अपश्यत्। अत एवास्य पुराणस्य भाषा महर्षिव्यासदेवस्य समाधिभाषा कथ्यते।

नैमिषारण्यमिति तपोवनस्य वर्णनेन श्रीमद्भागवतं प्रारभ्यते। एतत् तपोवनं विष्णुक्षेत्रमपि कथ्यते। अस्यारण्यप्रदेशस्य सूक्ष्मतया विश्लेषणेन ज्ञायते यत्र तस्मिन् अरण्ये वर्तमानकालिकपर्यावरणसम्बद्धसमस्तानि वस्तूनि जल-वायु-भूमि-मानव-पशु-वनस्पति-वृक्ष-लतादीनि संरक्षितानि आसन्। भागवतधर्मानुयायिनः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति धिया सर्वं जगद् विष्णुमयं पश्यन्ति। पर्यावरणस्य कृते एषा दृष्टिः अनुकूला एव दृश्यते। यथा—भागवते

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमाद्रीन्।।
सरित्समुद्राश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः।।

श्रीमद्भागवते प्राचीनकालिकपर्यावरणस्य कीदृशी अवधारणा विद्यते, इति जिज्ञासा जायमाने सति आवरणशब्द[illegible] श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य कथनमेतद्विचार्यते।

---

१. श्रीमद्भागवते-१.२.४१।

अत्र भगवतः विराटस्थूलरूपं अष्टावरणैः परिवृत्तमिति विज्ञापितम्। यथा भागवते—

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम्[१] ।।

अत्र श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य प्रसङ्गानुसारं पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-अहङ्कार-महत्तत्त्व-प्रकृतय इति सन्ति अष्टावरणानि। अष्टावरणयुता प्रकृतिः पुराणमतेन नारायणस्यान्यतमं स्वरूपं भवति। भगवतः स्थूलरूपैर्वर्णितेष्वष्टावरणेषु आदितः पञ्चावरणानि वर्तमानपर्यावरणसम्बद्धानि भवन्ति।

भागवतमहापुराणस्यानुशीलनेन ज्ञायते यद् यदा सात्त्विकशक्तिप्रतिनिधिभूतस्य जनस्य प्राकट्यं भवति तदा इमानि आवरणानि प्रकृत्या एव संरक्षितानि भवन्ति, तथा च तामसीशक्तियुतस्य प्रादुर्भावे स्वयमेव मलिनतां प्राप्नुवन्ति। हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपू भोगवादी तामसीसंस्कृतेः प्रतिनिधी स्तः। एतयोः लोभप्रवृतिः न केवलं प्रदूषणकारिणी, अपितु प्राकृतिकोत्पातानां जननी च। वेनोऽपि अस्याः संस्कृतेः प्रतिनिधिः, यस्य जन्मना एव प्रकृतिः प्रकोपं प्रक्रमते। एतस्मिन् प्रसङ्गे सात्त्विकशक्तिप्रतिनिधिभूतानां वामन-पृथु-कृष्णादीनां प्राकट्ये न केवलमनुकूलता, अपि तु पर्यावरणेषु सन्तुलनं सहजमेव प्रदृश्यते।

साम्प्रतं द्रुतगत्या जायमानेन अरण्यप्रदेशस्य विनाशेन वन्यजीवजन्तूनां पशुपक्षीणां दुर्लभवनस्पतीनाञ्च सर्वनाशः दृश्यते, तथा च भूयो भूयः धरणीकम्पनस्य, जलपूरणस्य दुर्भिक्षस्य च समस्या प्रादुर्भवति। एतादृशानां प्रकृतिजन्योत्पातानां मूले जनसंख्यावृद्धिः प्रामुख्यं स्थानमादधति। यद्यपि सृष्टिवर्णनं सृष्टेः विस्तारश्च पुराणानां प्रथमलक्षणं भवति, तथापि सृष्टिनियन्त्रणमपि प्रदृश्यते पुराणवाङ्मये। देवर्षिनारदः ब्रह्मणः पुत्रः इति स प्राचीनकालस्य अत्यधिकः जागरूकः लोकप्रतिनिधिरूपेण प्रदृश्यते। सर्गवर्णनसन्दर्भे यदा प्रजापति दक्षः सहस्रपुत्रानुत्पाद्य अग्रेऽपि तद्वत् सृष्टिकार्यार्थं प्रेरयति तदा पितुराज्ञां स्वीकृत्य ते दक्षपुत्राः पृथिव्याः परिमाणं संसाधनानि चानवलोक्य सृष्टिकार्ये संलग्नाः भवन्ति। सृष्टिकार्ये संलग्नान् जागरूकः लोकप्रतिनिधिः देवर्षिनारदः दक्षस्य कोपभाजनौ भूत्वाऽपि सृष्टिकार्यात् दक्षपुत्रान् निवारयति। यथा भागवते—

तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः।
प्रजाविवृद्धये यत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्श ह ।।
उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा वत पालकाः[२] ।।

---

१. श्रीमद्भागवते-०२.१०.३३; १. श्रीमद्भागवते—०६.०५.५,६।

अविवेकमाधारीकृत्य जायमाना निरुपयोगिनी सृष्टिः पर्यावरणस्य कृते नाशाय एव जायते। तथा चासमानवितरणस्य समस्या न चोत्पादयति। पुराणवाङ्मये प्रतिपादितं यन्मन्योः उत्पन्नेन रुद्रेण कृता सृष्टिः पर्यावरणस्य कृते प्रतिकूला इति। अत एव ब्रह्मणादिष्टः रुद्रः यदा सृष्टिं कर्तुं प्रवृत्तः तदा सः तमोमयीं सृष्टिं करोति। तस्मिन् समये रुद्रकृता भूतप्रेतादीनां तामसीं सृष्टिं विलोक्य ब्रह्मा रुद्रं सृष्टिकार्याद् वारयति। यथा भागवते—

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जयत्।
निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत॥
अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्वणैः[१]॥

जनसंख्यानियन्त्रणस्यान्यदुदाहरणमस्ति यदुकुलस्योपसंहारमपि। तस्य कुलस्य बहु विस्तारो जातः। गर्विताः यदुवंशजाः निरापदं तपोवनस्थं पर्यावरणं प्रदूषिताः, मुनीन् अवमानितं मुसलं चूर्णयित्वा सागरे प्रक्षिप्तं येन सागरस्थं पर्यावरणं दोषयुक्तं सञ्जातम्। पुनः प्रदूषणवशात् सागरोत्पन्नेन ऐरकेण ते सर्वे कालकवलिताः[२]। प्रसङ्गस्यास्य परिशीलनेन ज्ञायते यत् परिवारस्य अधिकः विस्तारोऽपि विभिन्नानां समस्यानां जनक इति।

"भुवो भारजिहीर्षया" इति भागवतवचनानुसारं ज्ञायते' यत् पृथिव्याः भरं हर्तुमेव भगवतः अवतारोऽभवत्। अत एव जरासन्धेन सह भगवता स्वयमेव कृतयुद्धस्य पाण्डवान् निमित्तीकृतमहाभारतयुद्धस्योद्देश्यमपि जनसंख्या नियन्त्रणमेव इति प्रतीयते। वस्तुतः जरासन्ध-कंस-कालयवन-दुर्योधनादयः प्रायः सर्वे आततायिनः आसन्। एते सर्वे स्वमहत्त्वाकाङ्क्षासिद्धये सततं धन-बल-सामर्थ्याभिवृद्धये संलग्नाः भवन्ति स्म। अत एव आततायिनः भूत्वा एते स्वानुचरद्भिः तपोवनानि विनष्टानि शस्त्रास्त्राणां प्रयोगेण पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशेति पञ्चावरणान्यपि दूषितानि।

महाभारतादियुद्धमाध्यमेन कृतजनसंख्यानियन्त्रणस्य नायमभिप्रायः यद् युद्धेनैव जनसंख्यानियन्त्रणं सम्भाव्यते। भागवते वर्णितध्रुवोपाख्यानस्य आलोचनेन ज्ञायते यत् सत्पुरुषैः विवेकरहितं जनसंहारकार्यं सर्वदा निषेधितमिति। तत्र स्वभ्रातुः उत्तमस्य प्रतिशोधं गृहीतुं ध्रुवः यदा युद्धे संलग्नः तदा तस्य पितामहः स्वायम्भुवः मनुः तत्रागत्य तं वारयति तथा च भगवद्भक्तानां पूर्वजानां प्राणिकल्याणमयीं स्वकुलस्य परम्परामपि स्मारयति[३]।

---

१. श्रीमद्भागवते-०३.१२.१६.१७; २. भागवते. ११-३०-१४,२५।
३. भागवते. ०४-११-७ तः ९।

पृथिवीस्थ पर्यावरणस्य संरक्षणेन मानवसभ्यतायाः संरक्षणं भवति। एतदर्थमेव अनुमीयते यत् प्राचीनकाले राष्ट्रयोर्मध्ये तपोवनानां स्थितिः भवति स्म। तपोवनेषु ऋषीणां सार्वभौमिकसत्ता भवति स्म। अत एव पर्यावरणविनाशस्य भयं तत्र नासीत्। क्षुधातृषातुरः परिश्रान्तः परीक्षिद् महर्षेः शमीकस्य आश्रमे आतिथ्यमनवाप्य ऋषेः उरसि मृतसर्पं निधाय यदा निर्गच्छति तदा महर्षिपुत्रः शृङ्गी राज्ञः कृतापराधं विलोक्य राजानं शपति। केनापि प्रतिरोधेन विना परीक्षिता शापस्वीकरणं तपोवनानां स्वातन्त्र्यमेव दर्शयति[१]।

शर्यात्युपाख्यानमपि तपोवनानां सार्वभौमिकीं सत्तां सूचयति। तत्र राजा शर्यातिः स्वपुत्र्या सह एकबारं वनप्रदेशमगात्। तदा शर्यातिपुत्री सुकन्या वल्मीकान्तर्गता ज्योतिषी कण्टकेन भेदयति। सुकन्याकृत्कर्मणा महर्षिच्यवनः पीडितः भवति तथा च समाधिस्थेन तेन ऋषिणा शर्यातिसैनिकाः शप्ताः भवन्ति। शापस्य प्रभावात् समेषां मलमूत्रावरोधं अभवन्। तदा भयभीतः राजा शर्यातिः स्वसैनिकान् पृच्छति यत् केनापि अस्याश्रमस्य मर्यादायाः उल्लङ्घनं तु न कृतम्, तत्रैव सुकन्यया स्वापराधस्य स्वीकरणं मुनेरिच्छया तया सह विवाहकरणं च तपोवनस्थव्यवस्थायाः स्वातन्त्र्यमेव दर्शयति। यथा भागवते—

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानां च तत्क्षणात्।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत्॥
अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम्।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम्[२]॥

पुराणवाङ्मये वर्णितं यत् प्राचीनकाले एतादृशान्यरण्यानि भवन्ति स्म, यस्मिन् साधारणजनानां प्रवेशः प्रायः न भवन्ति स्म। तादृशेषु वनप्रदेशेषु व्याधवृत्तिजीविनः यायावरीयः च गच्छन्ति स्म। श्रीमद्भागवते एव देवर्षिनारदस्य पूर्वजन्मवृत्तान्तवर्णनप्रसङ्गे वर्णितं यत् सर्पदंशात् मातुः मरणादनन्तरं सः बालकः यदृच्छया यस्मिन् वने गच्छति तत्तु निर्मनुजारण्यमेव व्यालोलूकशिवादीनामजिरं निर्बाधगत्या विचरणस्थानमासीत्[३]।

निर्मनुजारण्यसदृशानि वनानि नरसञ्चारनिषेधात् एव प्रायः विविध-वृक्ष-वन्यप्राणिभिः समृद्धयुक्तानि भवन्ति। एवं प्रकारेण प्रतिपादितोदाहरणैः स्पष्टं प्रतिभाति यत् तपोवनेषु पूर्णस्वातन्त्र्यं सर्वथा निषिद्धं आसीत्। अत एव तत्रस्थं पर्यावरणं प्रायः सुरक्षितं भवति स्म।

---

१. भागवते—०१-१९-३,४; २. भागवते—०९-०३-५,६।
३. भागवते—०१-०६-१४ तः १६

प्राचीनकालादेव वृक्षेष्वपि जीवनं वर्तत इति जानन्ति स्म अस्मन्महर्षयः। सर्गवर्णनप्रसङ्गे देवमनुष्याणां पशुपक्षीणां वृक्षलतादीनामपि च भेदप्रभेदवर्णनपुरस्सरं सृष्टिः वर्णिता विद्यते। वृक्षलतादीनां सृष्टिः तमोगुणयुक्ता भवति। इमे अन्तर्वेदिनः उर्ध्वस्रोतसः च परिलक्ष्यन्ते। भारतस्य महत्ता वैज्ञानिकेन जगदीशचन्द्रवसुना स्वप्रयोगेण वृक्षेष्वपि जीवनं भवतीति यत् प्रतिपादितं तस्य मूलेऽपि इयं पौराणिकी अवधारणा आसीत्।

भागवतमहापुराणे एतादृशानि आख्यानानि अपि उपलभ्यन्ते यस्मिन् वृक्ष-पशु-पक्षीसहितेदृशानां जीवानां प्रति संवेदनशीलतां अकारिता। प्राचीनबर्हिपुत्राः प्राचेतसाः तपः कृत्वा जलाद् बहिः समागत्य वृक्षैः आच्छादितां धरां विलोक्य स्वतपोबलेन तान् वृक्षान् दग्धुमारभन्ते। तदा वनस्पत्यौषधीनां राजा चन्द्रः तत्रागत्य वृक्षाणां नाशेन तान् निवारयति, तथा वृक्षाणां मानवजीवनेन सह कीदृशोऽयं सनातनसम्बन्धः, सभ्यतायाः कृते कीदृशी तेषामुपयोगिता चापि ज्ञापयति। यथा भागवते—

अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः।
वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः॥
ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये॥
भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः।
आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः[1]॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणस्यानुशीलनक्रमे कृष्णलीलासु अनेका घटनाः अस्मान् प्रकृतिं प्रति नयन्ति। यथा गोकुले जायमानानुत्पातान् विलोक्य वृन्दावनम्प्रति गोपगोपीनां गमनप्रसङ्गे संरक्षितपर्यावरणस्य दर्शनं भवति। तत्र कृष्णेन नित्यगोचारणं विभिन्नानां वन्यजीवानामनुकरणं बालमित्रैः सह वनभोजनमित्यादयः एतादृश्यः घटनाः याः बाल्यकालादेव प्रकृतिसंरक्षणं प्रदाय पर्यावरणसंरक्षणमहत्त्वस्य साक्षात्कारमपि कारयन्ति।

गोपानामपहरणानन्तरं स्वपराभवं विलोक्य शरणागतेन ब्रह्मणा "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय" इत्यादिभिः श्लोकैः श्रीकृष्णस्य स्तुतौ यादृशं सौन्दर्यं प्रकल्पितं तत्तु सर्वथा प्राकृतिकमेव। अनेनैव प्रकारेण वेणुगीत-गोपीगीत-युग्मगीत-भ्रमरगीतादिप्रसङ्गेषु यमुना-मृगी-गवादीनां चिन्तनकल्पना, विरहपीडितानां गोपिकानां कृष्णस्य विषये वृक्ष-गुल्म-लताः प्रति संवादः, उद्धवस्य वृन्दावने वृक्ष-लतादिरूपेण जन्मग्रहणस्य कामना चेत्यादयः प्रसङ्गाः प्रकृतिम्प्रति प्रेमोत्पादकानि सन्ति। गां चारयन् सहाग्रजः श्रीकृष्णः वृन्दावनाद् दूरं गतः सन् निदाघार्कातपे आतपत्रायितान् द्रुमान् वीक्ष्य व्रजौकसः आह—

---

१. श्रीमद्भागवते—०४.३०.४४ तः ४६।

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान् ।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ।।
अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ।
पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते[१] ।।

वृक्षाणां विषये गोपबालान् प्रति श्रीकृष्णस्य समुद्बोधनमेतद् पर्यावरणसंरक्षकमिति साक्षात्प्रतीयते। प्रसङ्गस्यास्य विश्लेषणेन ज्ञायते यद् वृक्षाः कथमस्मान् प्रति परोपकारिणः भवन्ति।

सप्तावरणेषु जलमपि महत्त्वपूर्णमावरणमिति। यमलार्जुनोद्धार-चीरहरणप्रसङ्गाभ्यां ज्ञायते यत् जलाकरेषु नग्नस्नानं निषेधितमिति। निषेधस्य प्रमुखं कारणमत्र जलदूषणस्य निवारणमिति प्रतिभाति। वृन्दावने यमुनायां कालियह्रदोऽपि जलदूषणस्य महान् आकरः आसीत्। कालियस्य विषेण तद् ह्रदं तावद् दूषितं यावद् न केवलं तद् जलमनुपयोगिमात्रं सञ्जातमपि तु तस्योपरि पक्षीणां भ्रमणं तदन्तिके पशूनामागममपि रुद्धम्। कालियनागेन दूषितं ह्रदं विलोक्य भगवान् श्रीकृष्णः सपरिवारं नागं समुद्रे प्रेष्य तद् ह्रदं सर्वजनोपयोगाय सुलभं चाकरोत्। यथा भागवते—

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी[२] ।।

"जीवो जीवस्य जीवनमिति" व्यवस्था प्राकृतिकं सन्तुलनं न क्षोभयति परन्तु येन केनापि कारणेन यदा एषा व्यवस्था अप्राकृतिकी भवति तदा प्रकृतौ दोषमागच्छति। प्रकृतौ समेषां प्राणिनां जीव-जन्तूनाञ्च समुपयोगिता विद्यते। अत एव परीक्षितः मरणानन्तरं तस्य पुत्रेण जनमेजयेन रुषा अशेषसर्पजातिविनाशाय सङ्कल्पपूर्वकं यज्ञं समारब्धम्। जनमेजयकृतसर्पसत्रं विलोक्य भगवान् बृहस्पतिः तं अस्मात् कार्याद् वारयति तथा च पर्यावरणविनाशविषयेऽपि तस्य ध्यानाकर्षणं करोति। यथा भागवते—

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप ।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भङ्क्त आरब्धकर्म तत् ।।
तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम् ।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ।।

---

१. श्रीमद्भागवते—१०.२२.३२ तः ३४;   १. श्रीमद्भागवते—१०.१६.६० ।

अनेन प्रकारेण तेज-वायु-आकाशादीनामपि आवरणानां दूषणं श्रीमद्भागवत दिशा ज्ञातुं सम्भाव्यते। यथा तृणावर्तोपाख्याने वायुदूषणस्य अश्वत्थामार्जुनाभ्यां कृतब्रह्मास्त्रस्य प्रयोगेण तेजदूषणस्य उभयप्रसङ्गे आकाशदूषणस्यापि दर्शनं जायते।

पर्यावरणं कथं विकृतिं याति कथं च प्रकृतिं गच्छति एतत्तु वेनपृथुचरित्रे युगपद् द्रष्टुं शक्यते। अतीव महत्त्वाङ्काक्षिणः वेनस्य शासने प्रकृतौ महद् असन्तुलनं च दृश्यते परन्तु वेनमपहाय महर्षयः यदा राजपदे वैन्यं विभूषयन्ति तदा प्रकृतौ पुनः सर्वविधं सन्तुलनं दृश्यते। महाराजपृथुः स्वादर्शं प्रदर्श्य प्राकृतिक-पर्यावरणविशेषज्ञानां साहाय्येन प्राकृतिकं सन्तुलनं पुनः स्थापितवान्। यथा भागवते—

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः॥
चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः[1]॥

अस्माकं भारतीया संस्कृतिः चर्षिभिः परिवर्तित्वाद् एषा ऋषि संस्कृतिः तपोवनतः प्रवर्तिता भवति स्म। तपोवनानि तु धर्मत्यागविवेकादिगुणयुक्तैः ऋषिवर्यैः नियन्त्रिताः भवन्ति स्म। येन तेषु तपोवनेषु आमनुष्यं सर्वे प्राणिनः सुरक्षिताः भवन्ति स्म। प्राणिनां संरक्षणात् पर्यावरणमपि सुरक्षितं भवति स्म।

उपर्युक्तविवेचनेन सुस्पष्टं यत् श्रीमद्भागवते पर्यावरणसम्बद्धाः बहवः प्रसङ्गा समुपलब्धाः भवन्ति। एतेषु प्रसङ्गेषु न केवलं पर्यावरणस्यावधारणा, अपि तु पर्यावरणसंरक्षणोपायाश्चापि निबद्धाः। अतः एतस्मिन् विषये विशेषानुसन्धानस्य चिन्तनस्यावश्यकता च प्रतीयत इति।

१. श्रीमद्भागवते ०४.१८.२८—२९।

श्रीमद्भागवते साधारणधर्मः

डॉ. विश्वनाथस्वाइँ

❁❁❁

प्रणम्य श्रीजगन्नाथं वेदव्यासं गुरुं तथा ।
वक्ष्ये साधारणं धर्मं भागवतविधानतः ।।

विहितकर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिकारणं धर्मः । अनेन मनुष्य इतरप्राणिभ्यः श्रेष्ठो विविच्यते । धर्मोऽयं प्रवृत्तनिवृत्तभेदेन द्विविधः । प्रवृत्तधर्मः षड्विधः । एतेषु साधारणधर्मो ह्यन्यतमः । वर्णजातिसम्प्रदायानिर्विशेषेण आचरणीयो धर्मः साधारणधर्म इति कथ्यते । धर्मस्थानेषु पुराणमन्यतमम् । तत्र श्रीमद्भागवतमतीव महत्त्वपूर्णम् । यद्यपि धर्मप्रतिपादनाय धर्मशास्त्रं प्रधानं तथापि तत्सहायकत्वेन प्रोक्तानां वेदातिरिक्तानां शास्त्रान्तराणां ग्रहणीयता वर्त्तते । एवं रूपेण श्रीमद्भागवतं धर्मोपदेशकम् । चातुर्वर्ण्यविभक्तस्य समाजस्य समन्वयसंस्थापनाय इदमेव महापुराणं परं वैशिष्ट्यपूर्णम् । भक्तिरसप्रवणेऽस्मिन् श्रीमद्भागवतमहापुराणे सनातनधर्ममिमं ज्ञातुं युधिष्ठिरेण श्रीनारदमहर्षिः पृष्टः । श्रीनारदमहर्षिप्रदत्तमुत्तरमत्र समीक्षणीयो विषयः ।

श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्ध एकादशेऽध्याये श्रीनारदमुनिना मनुष्यमात्र-साधारणधर्म उच्यते 'सत्यमिति' पञ्चभिः श्लोकैः[१] । अत्रायं धर्मस्त्रिंशल्लक्षणवान् भवति । एतानि त्रिंशद्विधधर्मस्वरूपाणि यथा—सत्यं, दया, तपः, शौचं, तितिक्षा, ईक्षा, शमः, दमः, अहिंसा, ब्रह्मचर्यं, त्यागः, स्वाध्यायः, आर्जवं, सन्तोषः, समदृक्सेवा, ग्राम्येहोपरमः, विपर्ययेहेक्षा, मौनम्, आत्मविमर्शनम्, भूतेभ्योऽन्नादिसंविभागः, भूतेषु आत्मदेवताबुद्धिः, परमेश्वरश्रीकृष्णनामगुणादीनां श्रवणं, कीर्त्तनं, स्मरणं, परमेश्वरसेवा, पूजनम्, अवनतिः, दास्यं, सख्यम्, आत्मनिवेदनञ्चेति । सदेव परमेश्वरो ब्रह्म, तस्मै हितं सत्यम् । सर्वेषु भूतेषु परमात्मनो दर्शनं हि सत्यं कथ्यते 'सत्यं च समदर्शनमिति भागवते (११/१९/३७) स्वयं श्रीकृष्णभगवदुक्तेः । मनूक्तदशलक्षणकेषु[२] अग्रेऽपि—याज्ञवल्क्योक्तलक्षणकेषु[३] च साधारणधर्मेषु एतदन्यतमम् । भूतहिताय यथार्थ-प्रियवचनं

---

१. श्रीमद्भागवते-७.११.८-१२ ।
२. मनुस्मृतौ-६.१२ ।
३. याज्ञवल्क्यस्मृतौ-१.१२२ ।

सत्यार्थबोधकं 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तमिति' व्यासस्मरणात्[१]। देशकालादिविज्ञानात् स्वधर्मस्य अविरोधतः यद्वचनं सद्भिः प्रोच्यते तत् सत्यं हि कथ्यते[२]। सत्यमेव नित्यं धर्मरूपम्। अत एव श्रूयते बृहदारण्यके (१/४/१४)—'यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदभयं भवति' इति। परमेश्वरो भगवान् हि सत्यस्वरूपः सत्यप्रियश्च। तद्यथा स्मर्यते श्रीमद्भागवते (१/१/१) आदौ—'सत्यं परं धीमहि' इति। देवादिकृतस्तुतिः (१०/२/२६) अपि—सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं............सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नः ॥ इति।

दया सहानुभूतिरनुकम्पा। प्राणिमात्रविपत्प्रतिकारेच्छा दया इति कथ्यते[३]। बन्धुर्भवतु शत्रुर्वा आत्मवद्भावनया तस्य यथाकालं क्लेशं हर्तुं या इच्छा हृदि जायते सा दयेति[४] परिकीर्त्यते। 'दया भूतहितैषित्वमिति'[५] शास्त्रप्रमाणम्। धर्मिष्ठाः साधवो गुणहीनेष्वपि भूतेषु दयां कुर्वन्त्येतत्परिलक्ष्यते।

तपः कृच्छ्राद्याचरणम्। व्रतोपवासनियमैः शरीरशोषणं तप इति[६] कथ्यते। 'तपः स्वधर्मवर्त्तित्वम्' इति महाभारते[७] व्यासवचनाद् आश्रमविहितं कर्म हि 'तपः' इति बोध्यते। 'कामत्यागस्तपः स्मृतम्' इत्यपि श्रीमद्भागवते (११/१९/३७) उद्धवाय श्रीकृष्णस्योपदेशवचनम्।

शौचं पवित्रता स्वच्छता। मनुष्य इन्द्रियादिषु अतिप्रसक्तो भूत्वा अशुद्धो भवति। अभक्ष्यपरिहारः, अनिन्दितैः सह संसर्गः, जगत्कल्याणार्थेषु आचारेषु व्यवस्थानञ्च[८] शौचं भवति। अत एव 'शौचं सङ्करवर्जितम्'[९] इत्युपदिश्यते। एतच्च शौचं द्रव्यशौचं, मनःशौचं, वचःशौचं, कायशौचञ्चेति[१०] चतुर्विधम्। यद्यपि मृज्जलादिभिः शौचं जायते तथापि तन्न प्रकृष्टं शौचम्। अन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यद्धनेहा तदेव परमं

---

१. स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारकाण्डे-पृ. १४।
२. बृहन्नारदीयपुराणे-१५/२५।
३. आपन्नरक्षणं दया। इति याज्ञवल्क्यमिताक्षराकारो विज्ञानेश्वरः-१/१२२।
४. अत्रिसंहितायाम्-४१, पाद्मे क्रियायोगसारे च।
५. स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारकाण्डे पृ. १४ व्यासवचनम्।
६. परिभाषाप्रकाशे पृ. ३४ देवलवचनं द्रष्टव्यम्।
७. तत्रैव।
८. अत्रिसंहितायाम्-३५।
९. परिभाषाप्रकाशे पृ० ३४ स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारकाण्डे पृ. १४ च व्यासवचनम्।
१०. गौतमधर्मसूत्रविवृत्तौ हरदत्तः।
११. मनुस्मृतौ-५/१०६।

शौचम्। यश्च अर्थे शुद्धः स शुद्ध एव[११]। 'कर्मस्वसङ्गमः शौचमिति च भागवते (११/१९/३८)। तितिक्षा क्षमा सहिष्णुता। परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं 'क्षमा' इति कथ्यते। 'क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वम्' इति ऋषयः प्राहुः[१]। क्षमादाता क्षमाग्रहीता चेत्युभौ जगत्यस्मिन् भाग्यवन्तौ। ईक्षा युक्तायुक्तविवेकः शुभाशुभपर्यालोचनमनेनैव अग्रेऽपि जायते। एतद्गुणयोगेन मनुष्यः इतरजीवेभ्यः श्रेष्ठो भवितुमर्हति।

शमो मनसः संयमः। मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणं भवति मनः। विषयासक्तं मनः संसारबन्धनाय, निर्विषयं मनश्च संसाराद् उद्धारप्राप्त्यर्थमेव। अत एव 'शमश्चित्तप्रशान्तता' इति[२] शमलक्षणं फलितम्। 'शमो यन्निष्ठता बुद्धेः' इति च भागवते (११/१९/३६) श्रीकृष्णवचनम्।

बाह्येन्द्रियनिरोधो दमः। अयमात्मगुणविशेषः अनुद्धतता बोध्यते। बाह्यमाध्यात्मिकं वा दुःखं परैरुत्पादितमपि यदि न कोपो न वा जिघांसा तर्हि स[३] दमो भवति। विशेषतो विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः 'मनसो दमनं दमः' इति सनन्दनवचनात्[४]। बाह्यवृत्तीनां निरोधो दमः कथ्यत इत्यपि भगवद्गीतादि[५]शास्त्रं प्रमाणम्[६]। यमगुणेषु चैतदन्यतमम्।

मरणानुकूलो व्यापारो हिंसा। सा च[७] दशविधा—उद्वेगजननं, सन्तापजननं, रुजाकरणं, शोणितोत्पादनं, पैशुन्यकरणं, सुखापकरणम्, अतिक्रमः, संरोधः, हितप्रतिषेधः, वधश्चेति। एतासां सर्वासां सर्वतोभावेन विपर्ययः अहिंसा कथ्यते। निषिद्धहिंसावर्जनं न केवलमैहिकं फलमपि तु श्रीसर्वेश्वरात्यन्तिकलयलक्षणरूपं सर्वोत्तमं फलं[८] ददाति। यमगुणेषु चाहिंसा अन्यतमा।

ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारिव्रतं वीर्यधारणं व्रतविशेषश्च कथ्यते। व्रतविशेषरूपं ब्रह्मचर्यं नाम दिव्यमानुषीणां तथा चित्रकाष्ठपात्रस्थमृण्मयादीनामपि अप्रार्थनमसङ्कल्पनम्, अनभिप्रेक्षणम् असङ्कीर्त्तनम् अनभिगमनम् असन्दर्शनम् असङ्गमश्चासाम्। एतच्च

---

१. स्मृतिचन्द्रिकायां संस्कारकाण्डे पृ. १४ महाभारतीयं व्यासवचनम्।
२. तत्रैव।
३. अत्रिसंहितायाम्-३९।
४. मनुस्मृतेः मन्वर्थमुक्तावल्याम्-६/१२।
५. श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-१०/४, विष्णुधर्मोत्तरपुराणे च।
६. याज्ञवल्क्यस्मृतौ-३/३१२।
७. कृत्यकल्पतरौ गार्हस्थ्यकाण्डे पृ. ३०४ देवलः।
८. मनुस्मृतौ-६/७५।
९. नित्याचारप्रदीपे द्वितीयखण्डे पृ. ४२४।

ब्रह्मचर्यं[1] चतुर्विधम्—कृष्णं, रक्तं, शुक्लं, विमलञ्चेति। परदारवर्जनपूर्वकं स्वदारसेवनं कृष्णम्। पर्ववर्जननियमो रक्तम्। ऋतुकालाभिगमनं शुक्लम्। ऊर्ध्वरेतस्त्वं विमलं ब्रह्मचर्यमिति। यमगुणेषु एतदन्यतमम्। स्वशाखान्तर्गतशास्त्राध्ययनं परमेश्वरनामजपश्च स्वाध्यायः। त्यागो दानम्। निःस्वेभ्यो धर्मभिक्षुकेभ्यः स्नातकेभ्यश्च विद्याविशेषतो यथाशक्ति दानं[1] कर्त्तव्यम्। यमगुणेषु चैतदन्यतमम्। 'त्यागः संन्यास उच्यते' इत्यपि भागवते (११/१९/३८) उपदिष्टम्। आर्जवं सरलता। यमान्तर्गतमेतत् धर्मशास्त्रकारैरुपदिष्टम्।

दैवलब्धेनालंबुद्धिः सन्तोषः। यथासम्भवभृत्यात्मप्राणधारणावश्यक-पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितधनानधिका स्पृहा सन्तोषः कथ्यते। सुखं सन्तोषहेतुकम्[2]। असन्तोषस्तु दुःखस्य मूलं भवति।

सर्वाणि भूतानि समभावेन ये पश्यन्ति ते समदृशः। तेषां समदृशां महतां सेवा समदृक्सेवा कथ्यते।

प्रवृत्तकर्मभ्यो निवृत्तिः ग्राम्येहोपरमः।

कर्म कदाचिदपि निष्फलं न कर्त्तव्यम्। यदि वा कदाचित् तन्निष्फलं जातं तत्क[illegible]ं विपर्ययेहेक्षा कथ्यते।

[illegible]न वृथालापनिवृत्तिः। आत्मविमर्शनं देहादिव्यतिरिक्तात्मानुसन्धानम्। 'अयमात्मा ब्रह्म' इति विषये चिन्तनमात्मविशर्मनम्।

भूतेभ्योऽन्नादीनां यथायोग्यं विभाजनं मनुष्यमात्रस्य कर्त्तव्यं भवति 'संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः' इति स्मृतेः।

भूतेषु विशेषतो मनुष्येषु आत्मेति इष्टदेवतेति च बुद्धिः आत्मदेवताबुद्धिरिति कथ्यते।

साधुजनपरमाश्रयस्य सर्वेश्वरस्य नामगुणलीलादीनां श्रवणं, कीर्त्तनं, स्मरणं, तस्य पादसेवनं, षोडशोपचारपूजनं, तं प्रति साष्टाङ्गनमस्कारः, दास्यं सख्यम्, आत्मसमर्पणञ्चेति मनुष्यमात्रधर्मः। चातुर्वर्ण्यविभक्तस्य समाजस्य समन्वयसंस्थापनार्थं परमेश्वरभक्तिरेव परं साधनम्। एतत् तत्त्वं सूक्ष्मदृशा निरीक्ष्य महर्षिः वेदव्यासः श्रीब्रह्मसूत्रभाष्यरूपं भक्तिरसप्रवणं श्रीमद्भागवतमहापुराणं कुरुते। भक्तिरेव परमपुरुषार्थः। निवृत्तधर्मेऽप्यस्य तत्त्वस्य प्रतिफलनं जायते। भक्तिमाश्रित्य निकृष्टवर्गो हीनजातिरपि

---

१. मनुस्मृतौ-११/१-२, ४/३२।
२. तत्रैव-४/१२।

श्रीसर्वेश्वरसान्निध्यं प्राप्तुं क्षमते। परमैश्वर्यभाजो देवाश्चापि भक्तिबलेन परं ब्रह्म श्रीहरिं प्राप्तुं प्रभवन्ति। श्रीमद्भागवते प्रोक्तेऽस्मिन् श्लोकपञ्चके सत्याद्या एकविंशतिर्भक्त्युपकरणीभूताः, श्रवणाद्या नव तु साक्षाद्भक्तिरेव। भक्तिरेव परमो धर्मः। भक्त्या सत्यपवित्रतादयाशरणागतवत्सलताप्रभृतयो भगवदाश्रिताः[१] सत्त्वगुणा आसादयितुं शक्यन्ते। भक्तिबलेन मनुष्यः सर्वभूतेषु आत्मानमात्मनि च सर्वभूतानि समं पश्यन् संसारसागराद्विमुक्तो[२] भवति। प्रवृत्तनिवृत्तरूपधर्मस्य संसिद्धिः श्रीहरितोषणेन भवति 'स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्' इति श्रीमद्भागवतवचनं[३] प्रमाणम्। धर्मस्य सुमहद्वैशिष्ट्यं[४] श्रूयते—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' इति। श्रीमद्भागवते एतद्वैशिष्ट्यपूर्णो धर्मः समाचरणार्थं भगवता वेदव्यासेन यथाविधि प्रोक्तः। वस्तुतस्तु धर्मशास्त्रदृष्ट्या एतस्य श्रीमद्भगवतमहापुराणस्य महत्त्वं चापि तेनोररीकृतं[५] मङ्गलाचरणपद्ये—'धर्म प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः' इति।

---

१. श्रीमद्भागवते १/१६/२६-२८।
२. ईशावास्योपनिषदि-७ मनुस्मृतौ-१२/९।
३. श्रीमद्भागवते-१/२/१३।
४. तैत्तिरीयारण्यके-१०/६३।
५. श्रीमद्भागवते १/१/२।

श्रीमद्भागवते शिवतत्त्वम्

डॉ. ददन उपाध्यायः

❁❁❁

वन्दे साम्बं शिवं नित्यं दयासागरमीश्वरम् ।
भक्त्या यः सुलभः साक्षाद् आत्मरूपो विमोक्षदः ।।

स्वान्तःसुखाय भगवतः भूतभावनविश्वेश्वरस्य भवानीपतेः जगत उत्पत्ति-स्थितिलयहेतुभूतस्य शिवस्य माहात्म्यं तस्य स्वरूपस्य चिन्तनं शोधनिबन्धेऽस्मिन् क्रियते ।

भगवतः शङ्करस्य महिमा, तस्य विभूतीनां वर्णनं तु शेषशारदेऽपि नैव कर्तुं शक्येते । मनसः वाण्या अगोचरस्य शिवतत्त्वस्य वर्णनमशक्यम् । अत एवोक्तं श्रीपुष्पदन्ताचार्यैः शिवमहिम्नस्तोत्रे—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।।

आत्मानं पवित्रयितुमेव शिवस्य माहात्म्यं यथामति गीयते ।

शिवशब्दार्थः–शेतेऽस्मिन् सर्वमिति शिवः । शीङ्शयने इति धातोः वन् प्रत्यये कृते, निपातनात् शेः ईकारस्य ह्रस्वे जाते शिवशब्दः निष्पद्यते । शेरते प्राणिनो यत्र स शिव इत्यनया व्युत्पत्त्या अनन्तपापतापैरुद्विग्नाः जीवाः विश्रामाय यत्र शेरते, स एव सर्वाधिष्ठानभूतः सर्वाश्रयः शिव इति । यद्यपि **'शान्तं शिवं चतुर्थमद्वैतं मन्यते'** इत्यादिश्रुतिभिः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थात्रयरहितः सर्वदृश्यविवर्जितः स्वप्रकाशः सच्चिदानन्दघनः परब्रह्म एव शिवतत्त्वम्, तथापि तदेव परमतत्त्वं स्वकीयदिव्यशक्त्या संयुज्यानन्तब्रह्माण्डानामुत्पादनं पालनं संहारं च कुर्वन् ब्रह्मा-विष्णु-शिव-शङ्कर-हर-रुद्र-महादेवादि-संज्ञां धारयति । शिव एव जगतः उपादानकारणं निमित्तकारणञ्चास्ति । जगतः निःश्रेयसस्सम्पादनाच्छङ्कर इति कथ्यते । स्वयम्भूतः,

सिद्धः, नित्योऽनादिश्च सः, तस्माच्छम्भु इति । अविकारी-निश्चल-सर्वविक्रिया-शून्यत्वात् स्थाणुरिति, समस्तजगतः लयस्थानत्वात् शर्वः, मृडः, रुद्रः कथ्यते । महान् चासावीश्वरः देवो वा, तस्मात् महेश्वरः, महेशः, महादेव इति । समस्तचराचरभूतस्य स्रष्टृ-पालयित्रधिष्ठातृत्वाद् भूतेशः, भूतपतिरित्यभिधीयते । समस्तपशूनां जीवानां पतिरस्ति, तस्मात्पशुपतिरिति विज्ञायते । समस्तशक्तीनां विक्षेपावरणयोः गतीनां क्रियाणां कलानाञ्चैकमात्रमधिष्ठातृत्वाद् भवानीपतिः, उमापतिः, मायाधीशः, मायी, अर्द्धनारीश्वरप्रभृतिनामभिः संस्तूयते । अनेन प्रकारेणानन्तनामभिः तस्यानन्तगुणानां प्रकटनं भवति ।

तत्त्वमेकं नामान्यनेकानि–शिवतत्त्वन्तु एकमेव—**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म** (छा०उ०६-३-१) । तदद्वयतत्त्वातिरिक्तं नास्ति किञ्चित्—**एकमेव सत्** । **नेह नानास्ति किञ्चन** (बृ० उ० ४-४-११) । किन्तु तस्याद्वयतत्त्वस्यानेकानि नामानि सन्ति—**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति** (ऋ० १-१६४-४६) ।

नामानीव तस्याद्वयतत्त्वस्य रूपाण्यप्यनेकानि । ऋग्वेदः पुरुरूपः (२-१२-९) इत्युक्त्वा तथ्यमिदं स्पष्टीकृतः । अन्या श्रुति उदाहरणस्य माध्यमेन प्रतिपादिता यद् यथा प्रत्येकस्मिन् कणे अनुस्यूताग्निः एक एव, किन्तु रूपेष्वनेकेष्वस्माकं समक्षमायाति, तथैव भगवान् शिवस्तु एकः सन्नप्यनेकेषु रूपेषु दृग्गोचरायते । लोककल्याणाय सद्योजात-वामदेव-तत्पुरुष-अघोर-ईशानप्रभृत्यनेकेष्ववतारेष्ववतरति । तत्र जिज्ञास्यते यदि शिव एक एव तदानेकनामसु रूपेषु च कथमभिज्ञायते । तत्र रुद्रहृदयोपनिषच्छ्रुतिः उत्तरयति—

प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा कृता ।

(रुद्रहृदय, उप० १५)

श्रीमद्भागवतमहापुराणमपि पुष्णाति तथ्यमिदम् । एकदा ब्रह्मणा सृष्टिकरणाया-ज्ञप्तोऽत्रिः शतं वर्षं यावत्तपः चचार । तस्यासीत् सङ्कल्पः यद् यः संसारस्याधीश्वरोऽस्ति तस्यैव शरणोऽहम् । स मह्यं स्वसदृशं पुत्रं ददातु । यथोक्तम्—

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ।।

(भा० पु० ४.१.२०)

परन्तु तत्तपसा सन्तुष्टान् त्रिदेवान् समुपस्थितान् समक्षमवलोक्य सोऽपृच्छत्—

एको मयेह भगवान् विबुधप्रधानै श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद् ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ।।

(भा० पु० ४.१.२८)

अत्रिमुनेः वचः श्रुत्वा विबुधर्षभास्त्रयो देवाः प्रहस्य श्लक्ष्णया गिरा तमृषिं प्रत्याहुः—हे ब्रह्मन् ! सत्यसङ्कल्पो भवान् यदक्षरं ब्रह्म ध्यायति, तद् वयं त्रय एक एव । नास्ति भेदोऽस्मासु ।

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति[1] ते वयम् ।।

(भा० पु० ४.१.३०)

अतोऽस्मदंशाः ते लोकविश्रुतास्त्रयः आत्मजाः भवितारः, तव यशः ते विस्रप्स्यन्ति, तव भद्रमस्तु । ततः ब्रह्मणोंऽशेन चन्द्रोऽभूत्, विष्णोरंशेन योगविद् दत्तात्रेयः, शङ्करस्यांशेन दुर्वासाः च समजायताम् ।

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ।।

(भा० पु० ४.१.३३)

अनेकनामरूपस्य हेतुः–विचारणीयमस्ति यत्केन प्रयोजनेन तदद्वयतत्त्वं नैकानि नामानि रूपाणि च गृह्णाति । तस्य समाधानं ब्रह्मसूत्रे प्राप्यते । तत्रोच्यते लीलातिरिक्तमस्याः सृष्टेः विविधतायाः नास्ति कमप्यन्यं प्रयोजनम्—**लोकवत्त् लीलाकैवल्यम्** (ब्रह्मसूत्रे २-१-३३) । तदद्वयतत्त्वं सृष्टिरूपे दृग्गोचरीभवति, तस्य प्रयोजनमेकमात्रं लीला क्रीडेत्यर्थः । तत्र जिज्ञास्यते ईश्वरस्तु आप्तकामः । तस्य सर्वाः कामनाः पूर्णाः । पुनः सः क्रीडाया अपि कामना कथं करोति ? ईश्वरस्य आप्तकामता पुनः तस्मिन् कस्याश्चिदपि कामनायाः कथनं व्याहतम् । जिज्ञासेयं महात्मानं विदुरमपि विकलयति । सः मैत्रेयं पृच्छति श्रीमद्भागवते—

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ।।
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ।।

(भा० पु० ३.७.२–३)

शङ्कामिमां मैत्रेयः समाधत्ते—यः परमात्मा सर्वेषां स्वामी, सर्वथा मुक्तस्वरूपः, स एव दैन्यं बन्धनं च प्राप्येत्, एतत्तु युक्तिविरुद्धं प्रतीयते । किन्तु एतदेव भगवतः माया। यथा स्वप्नद्रष्टुः पुरुषस्य स्वशिरश्छेदनादिकः व्यापारोऽसन्नप्य-ज्ञानवशात् सत्यवद्भासते। तथैव जीवस्य बन्धनमसन्नपि अज्ञानवशात् प्रतीयते । भवतु नाम जीवे, परन्तु ईश्वरे कथमेतादृशी प्रतीतिः, तत्रोच्यते—यथा जले

---

1. ध्यायसि पाठान्तरमपि प्राप्यते ।

कम्पनादिक्रिया तत्र दृश्यमानस्य चन्द्रमसः प्रतिबिम्बेऽसन्नपि भासते। न तु आकाशस्थे चन्द्रमसि। तथैव देहाभिमानिनि जीवे एव देहस्य मिथ्याधर्माणां प्रतीतिः, न तु परमात्मनि। यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥

(भा०पु० ३.७.११)

मिथ्याधर्माणां प्रतीतिस्तु निष्कामभावेन धर्माणामाचरणे कृते भगवत्कृपया प्राप्तस्य भक्तियोगस्य माध्यमेन शनैः शनैः निवृत्ता भवति। यदा समस्तानीन्द्रियाणि विषयात्पराङ्मुखीभूय साक्षिणि परमात्मनि शिवे निश्चलभावेन स्थीयन्ते, तदा संसुप्तस्य पुरुषस्येव सर्वे रागादिक्लेशाः कृत्स्नशः विलीयन्ते। परमात्मनः शिवस्य गुणानुवादश्रवणमशेषक्लेशं शमं विधत्ते। पुनः यदि अस्माकं हृदये तच्चरणारविन्द-परागसेवारतिः जागृता चेत्, तत्र का वार्ता—

अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं शिवस्य[1]।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्द-परागसेवारतिरात्मलब्धा॥

(भा०पु० ३.७.१४)

शिव एव ब्रह्म—श्वेताश्वतरोपनिषदः प्रारम्भे ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासा कृताऽस्ति। तत्र पृच्छ्यते—जगतः कारणं यद्ब्रह्म, तत्किमस्ति—**किं कारणं ब्रह्म** (१.१)। श्रुत्या अग्रेऽस्य ब्रह्मशब्दस्य स्थाने रुद्रः शिवश्च प्रयुज्येते।

यथा—**एको हि रुद्रः** (३.२) **स........शिवः** (३.११)

तत्र समाधाने प्रतिपादितमस्ति जगतः कारणं स्वभावादि न, अपि तु भगवान् शिव एवास्याभिन्नं निमित्तोपादानकारणमस्ति। यथोक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ (श्वेता०उ० ३.२)

अनेन प्रकारेण शिवो रुद्रश्च ब्रह्मणः पर्यायरूपेण तिष्ठतः। शिवो रुद्रः कथ्यते, यतो हि रुद्रः स्वोपासकानां समक्षं स्वकीयं रूपं शीघ्रमेव प्रकटयति। यथोक्तमथर्वशिरोपनिषदि—

---

1. मुरारेः इति पाठान्तरं कृतम्।

कस्मादुच्यते रुद्रः ? यस्मादृषिभिः......... द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते (अथर्वशिर० उप० ४)।

अनेनापि कारणेन शिवो रुद्रः कथ्यते, यतो हि अयं रुत्=दुःखं विनाशयति, रुत्=दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्र इति व्युत्पत्त्या भगवतः शङ्करस्य दुःखनाशकः स्वभावोऽस्त्येव । यतो हि यदा देवासुरवरूथपैः सिन्धोर्मथ्यमानात् सुधा नाजायत, तदा भगवानजितः स्वयं निर्ममन्थ, तेन मथ्यमाने समुद्रात् सर्वप्रथमं महोल्बणं हालाहलं विषं समजायत, तस्मादरक्ष्यमाणाः परमभीताः प्रजाः प्रजापतयश्च सदाशिवं शरणं गताः । देववरं भगवन्तं शङ्करं सत्या सह कैलासे विराजमानं त्रिलोक्याः कल्याणायापवर्गहेतोस्तयोर्जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः प्रजापतयः ऊचुश्च— हे देवदेव ! महादेव ! भूतात्मन् ! भूतभावन ! शरणापन्नान् अस्मान् त्रैलोक्यदहनाद् विषात् पाहि । यतो हि त्वमेकः सर्वजगतः बन्धमोक्षयोः ईश्वरः प्रपन्नानामार्तिहरः जगद्गुरुरसि । यथोक्तं भागवते—

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ।। (भा०पु० ८.७.२२)

भवान् अनन्त एकरसः सन्नपि ब्रह्मविष्णुशिवाभिधां धत्ते ।

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान् विभो ।
धत्से सदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ।।

(भा०पु० ८.७.२३)

शिवशङ्करस्य सर्वव्यापकं विराजं स्वरूपं वर्णयन्तस्ते प्रोचुः—

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ।।
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ।।

(भा०पु० ८.७.२६–२७)

अस्य कारणकार्यरूपस्य जगतः परा माया, मायातोऽपि परतरं भवान् अस्ति। हे प्रभो ! भवतोऽनन्तस्वरूपं ज्ञातुं ब्रह्मादयोऽपि न समर्थाः । वयं स्वसामर्थ्यानुसारं भवतः किञ्चिद्गुणगानं कृतवन्तः । हे महेश्वर ! वयं तु लोकस्य क्रीडनाय धृतं तव व्यक्तं रूपमेव पश्यामः । यथोक्तं भागवते—

एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ।
मृणनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ।।

(भा०पु० ८.७.३५)

प्रजायाः एतादृशं सङ्कटं दृष्ट्वा समस्तप्राणिनामकारणबन्धोः देवाधिदेवस्य शङ्करस्य हृदयं विव्याथ, प्रियां सतीमुवाच—हे भवानि ! प्रजानामेतत्क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितं वैशसं (दुःखं) पश्य । आसां प्राणपरीप्सूनामभयं मे विधेयम् । यतो हि एतावान् हि प्रभोः प्रयोजनम्, यद् दुःखार्त्तानां परिपालनं कुर्यात् । यथोक्तं भागवते—

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ।
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम् ।।
(भा०पु० ८.७.३८)

एवं भवानीमामन्त्र्य विश्वभावनो महादेवः सर्वत्र व्यापि हालाहलं विषं करतलीकृत्य कृपया अभक्षयत्, तत्रापि जलकल्मषं विषं स्ववीर्यं दर्शयामास, तेन तस्य कण्ठः नीलोऽभवत्, परन्तु तस्य जगत्कल्याणकरस्य शङ्करस्य विभूषणमजायत । एवं भगवान् रुद्रः नीलकण्ठोऽभवत् । परोपकारिणः सज्जनाः प्रायः प्रजानां दुःखनाशाय दुःखं सहन्ते । परन्तु नास्ति दुःखमेतत्, अपि तु सर्वहृदयेषु विराजमानस्य भगवदाराधनमेव । यथोक्तं भागवते—

तप्यन्ते लोकतापेन[1] साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषास्याखिलात्मनः ।। (भा०पु० ८.७.४४)

एतेन सृष्टिस्थितिप्रलयान् कर्तुं समर्थस्य रुद्रस्य दुःखनाशकत्वं सिद्ध्यति ।

स तु रोदनशीलोऽप्यस्ति । बालकस्वभाववत् स्वयं रोदितीति रुद्रः । एकस्मिन् कल्पे वेदगर्भो ब्रह्मा सृष्टिं चिकीर्षुः सर्वप्रथमं ज्ञानस्य पञ्च वृत्ती तमः (अविद्यां), मोहं (अस्मितां), महामोहं (रागम्), तामिस्रं (द्वेषम्) अन्धतामिस्रञ्च (अभिनिवेशञ्च) ससर्ज । परन्तु पापीयसीं सृष्टिं दृष्ट्वा नात्मानं बह्वमन्यत । ततो भगवद्ध्यानपूतेन मनसा अन्यां सृष्टिमसृजत् । तत्र सनकः, सनन्दनः, सनातनः, सनत्कुमारश्चाजायन्त । ते ऊर्ध्वरेतसः आसन् । स्वयम्भूः भगवान् ब्रह्मा तान् प्रजाः स्रष्टुमादिदेश, परन्तु मोक्षधर्माणः वासुदेवपरायणाः ते सनकादयः ब्रह्मणः वचनं नामन्यन्त । सुतैः प्रत्याख्यातानुशासनस्य ब्रह्मणः क्रोधोऽजायत । यद्यपि विधाता जातं दुर्विषहं क्रोधं नियन्तुमुपचक्रमे, तथापि बुद्ध्या निगृह्यमाणेऽपि क्रोधे प्रजापतेः भ्रुवोर्मध्यात् तन्मन्युः नीललोहितकुमाररूपेण सद्योऽजायत । स रुरोद, स तु देवानां पूर्वजः भगवान् भव एव । स बालक इवाकथयद्—हे धातः ! मम नामानि स्थानानि च निर्धारय । तस्य वचः श्रुत्वा पाद्मो भगवान् ब्रह्मा अभ्यधात्,

1. मूले लोभतापेन इति पाठः प्राप्यते ।

मा रोदीः, तव नामानि स्थानानि च करोमि । हे सुरश्रेष्ठ ! त्वं सोद्वेगः बालक इव यदरोदीः, तस्मात् प्रजाः त्वां रुद्र इति नाम्ना अभिधास्यन्ति । यथोक्तं भागवते—

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ।। (भा०पु० ३.१२.१०)

ब्रह्मणा तस्य स्थानानि, नामानि स्त्रियश्च निश्चित्योक्तम्—एभिः बह्वीः प्रजाः सृज, यतो हि भवान् प्रजानां पतिरस्ति । इत्यादिष्टो भगवान् नीललोहितः सत्त्वाकृतिस्वभावेनात्मसमाः प्रजाः ससर्ज । रुद्रसृष्टानां रुद्राणां समन्ताद् जगद्ग्रस्ततां निशम्य प्रजापतिरुवाच—हे सुरोत्तम ! ईदृशीभिः सृष्टाभिः प्रजाभिरलम्, यतो ह्येते मया सह जगन्ति दिशश्चोल्बणैः चक्षुभिः दहन्ति । अतस्ते भद्रमस्तु, सर्वभूतसुखावहं तप आतिष्ठ । यतो हि भवान् तपसा पूर्वमपि इदं विश्वमसृजत् । यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथापूर्वं स्त्रष्टा विश्वमिदं भवान् ।। (भा०पु० ३.१२.१८)

एतेन रुद्रस्य जगत्स्रष्टृत्वमपि सिद्ध्यति । एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः रुद्रः तपसे वनं जगाम—**विवेश तपसे वनम्** (भा०पु० ३.१२.२०) ।

अत्राशङ्कन्ते जनाः, यदि भगवान् रुद्र अविनाशी चेत्, प्रलयकाले वृक्षसमूहादीनामभावत्वात् तत्र तस्य स्थितिः कथं सम्भवेत् । तत्रोच्यते—**'जीवनं भुवनं वनम्'** इति कोशानुसारेणात्र वनस्य जलमित्यर्थः । तत्र वाराहपुराणस्य वचनं प्रमाणम्—

रुद्र प्रजाः सृजस्वेति ब्रह्मणा नोदितो मुहुः ।
असमर्थ इति प्रोच्य जले रुद्रोऽन्यमज्जत ।।

रुद्रस्यान्या व्युत्पत्तिः–दुष्टान् (नास्तिकान्) रोदयतीति रुद्र इत्यपि व्युत्पत्तिः कर्तुं शक्यते । भगवान् शिवो नास्तिकान् दुष्टजनान् निगृह्य सन्मार्गे स्थापयति । यदा दक्षप्रजापतिः नास्तिक इवाचरन् यज्ञे शिवं नापूजयत्, तदा तस्य निग्रहणं कृतवान् ।

यदा परमेष्ठिना ब्रह्मणा दक्षः सर्वेषां प्रजापतीनामाधिपत्येऽभिषिक्तः, तदा तस्मै स्मयोऽभवत् । क्रतूत्तमं बृहस्पतिसवं समारेभे । तस्मिन् यज्ञे ब्रह्मनिष्ठान् शङ्करप्रभृतीन् तिरस्कृतवान् । शङ्करेण निषिद्धाऽपि अनाहूता तत्र गत्वा सर्वलोकेश्वरी देवी सती तमध्वरमरुद्रभागमवेक्ष्य रुषा लोकान् भक्षयतीव चुकोप । तया सहागतान् दक्षवधोद्यतान् गणान् निरुद्ध्य सती अवोचद् दक्षम् ।

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ।।
(भा०पु० ४.४.१४)

हे दक्ष ! त्वदन्ये केऽपि शिवाख्यमशिवं न जानन्ति । यतो हि यः भगवान् शिवः श्मशानभूमिवासी, नरमुण्डमालाधारी, चिताभस्माङ्गः, भूतपिशाच-सहचरोऽस्ति, तस्य चरणावशिष्टं निर्माल्यं ब्रह्मादयः देवाः मूर्धभिः धारयन्ति । ब्रह्मणि शिवे प्रवृत्तिनिवृत्युभयकर्मणि कस्यापि नावश्यकता । यतो हि—

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ।।
(भा०पु० ४.४.२०)

एवं दक्षमुक्त्वा महादेवस्य प्रिया दक्षाङ्गजं कुणपं देहं जहौ । तदनन्तरं रुद्रगणैः सर्वे देवगणाः पराजिताः । वीरभद्रः यजमानपशोः दक्षस्य कायाच्छिरं हृत्वा तस्मिन् यज्ञाग्नौ जुहाव कैलासं जगाम च ।

ततः भयभीताः देवाः ऋत्विजैः सहिताः ब्रह्माणमुपजग्मुः, तस्मै प्रणम्य सर्वं वृत्तान्तं कात्स्न्येन न्यवेदयन् । तस्मिन् यज्ञे अब्जसम्भवः ब्रह्मा नारायणश्च न जग्मतुः । यतो हि तौ भाविसमुत्पातं जानतः । ब्रह्मा देवान् उवाच—यूयं शिवाय भागमदत्वा अन्यायं कृतवन्तः, तस्मिन् कुपिते तु ब्रह्माण्डस्य नाशं भविष्यति, यज्ञस्य का कथा । अतः तत्रैव गत्वा यूयं तं प्रसादयत । देवैः सह ब्रह्मा कैलाशं गत्वा मनूनामाद्यं मनुं शिवं प्राञ्जलयः प्रणेमुः । यथोक्तं भागवते—

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं व्युपाश्रितं गिरिशं[1] योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनुनामाद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ।।
(भा०पु० ४.६.३९)

मनूनामाद्यः मनुरिति कथनेन रुद्रस्य स्त्राष्ट्रित्वं सिद्ध्यति । ततः शिवेन दत्ते आसने उपविश्य ब्रह्मा शिवमुवाच—भगवन् ! भवान् समस्तजगतः स्वामी । यतो हि विश्वस्य योनेः प्रकृतेः, तस्य बीजभूतात् पुरुषात् परे यः एकरसः परब्रह्म, स भवान् एव । यथोक्तं भागवते—

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ।। (भा०पु० ४.६.४२)

भवान् एव शिवशक्त्योः रूपे क्रीडन् ऊर्णनाभिर्यथा विश्वं सृजति, पालयति, अन्ते संहरति च । यथा भागवतेऽप्युक्तम्—

1. योगसमाधिकक्षाम् इति पाठान्तरम् ।

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ।।(भा०पु०४.६.४३)

भवान् एव धर्मार्थदुघाभिपत्तये दक्षं निमित्तीकृत्य वेदानां रक्षार्थं यज्ञं सृष्टवान्। त्वयैव निर्मिताः धर्ममर्यादाः सन्ति, यासां पालनं धर्मनिष्ठाः जनाः कुर्वन्ति । शुभकर्मकर्तॄणां स्वर्गमोक्षप्रदाता भवान् एव । दक्षसदृशानां जनानामुपरि भवद्भिः दया करणीया । यज्ञस्य फलदाता भवान् एव । अतो भवतः यज्ञीयसर्वोत्कृष्टो भागोऽस्ति, तं गृहीत्वा यज्ञं पूर्णं करोतु ।

एष ते यज्ञभागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ।। (भा०पु० ४.६.५३)

अत्रोच्छिष्टः स्विष्टकृद्भागः 'यदग्नये स्विष्टकृते समवद्यति भागधेयेनैव तद् रुद्रं समर्धयति' इत्यादिश्रुतेः । उत्कृष्टः शिष्ट उच्छिष्टः, न तु भुक्तावशिष्ट इत्यर्थः । अत एव महाभारतेऽनुशासनपर्वणि सूक्तम्—

रुद्रस्य विक्रमं दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः ।
रुद्रस्य भागं यज्ञे च विशिष्टं ते त्वकल्पयन् ।।

उच्छिष्टस्य सर्वोत्कृष्टत्वादेव देवैः स महादेवस्य भागः कल्पितोऽन्यथा सर्वदेवगुरोस्तद्दानं न सङ्गच्छते । स्विष्टकृत्संज्ञाहुतिरेव उच्छिष्टपदवाच्या तां विना न यागपूर्तिरस्तीति, किन्तु यज्ञशालागतमनुपहतं यत्स्थितं तदपि रुद्रभाग एव ।

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सृष्टेरुत्पत्तिः भिन्नभिन्नप्रकारेण वर्णिताऽस्ति । महर्षिव्यास-रचितेष्वप्यष्टादशपुराणेषु सृष्ट्युत्पत्तिवर्णने विभिन्नता प्राप्यते । शैवपुराणेषु शिवेन, वैष्णवपुराणेषु विष्णुना, कृष्णेन, रामेण वा, शाक्तपुराणेषु देव्या सृष्टिरुत्पत्तिः प्रतिपादितेति प्रतिभाति। परं सर्वव्यापी, निराकारः, सगुणब्रह्म एव महेश्वरः, सृष्ट्युत्पत्तिकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णुः, संहारकर्त्ता च रुद्रः, एते पञ्च शिवस्यैव रूपाणि । यथोक्तं शिवपुराणे ज्ञानखण्डे (४-५०-५१) विष्णुः भगवता महेश्वरेण—

अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत् ।।
तथापीह मदीयं वै शिवरूपं सनातनम् ।
मूलभूतं सदा प्रोक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ।।

अष्टादशपुराणेषु श्रीमद्भागवतमहापुराणं पञ्चमस्थानीयम् । पुराणमेतद् वैष्णवमिति मन्यन्ते जनाः । परन्तु तत्रापि विभिन्नप्रसङ्गेषु शिवतत्त्वस्य माहात्म्यं प्रतिपादितं वर्तते, तद्दिग्दर्शनमपि मया कृतम् ।

येन ब्रह्मनिष्ठेन मानसिकपूजनपरायणेन प्रेमावेशाभिभूतेन मार्कण्डेयेनाद्भुतं मायावैभवमप्यनुभूतम् । तेनापि शिवः स्तुतः । तेनोक्तम्—भगवन् ! तव त्रिगुणातीतं सदाशिवस्वरूपं सत्त्वगुणयुक्तं शान्तस्वरूपं नमामि । तव रजोगुणयुक्तं सर्वप्रवर्तकस्वरूपं तमोगुणयुक्तमघोरस्वरूपमपि नमस्करोमि । यदुक्तं भागवते—

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च ।
रजोजुषेऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ।। (भा०पु० १२.१०.१७)

एतेन सत्त्वरजस्तमोगुणस्वभावस्य तस्य सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वं सिद्ध्यति ।

महामुनिना मार्कण्डेयेन स्तुतः भगवानादिदेवः सतां गतिः शिवः परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत—वयं त्रयः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः वरदातॄणां स्वामी । अस्माभिरेव मरणधर्माणां जीवानाममृतत्वस्य प्राप्तिः । अस्मासु त्रिष्वण्वपि भेदं नास्ति । ये जनाः मय्यच्युतेऽजे आत्मसु अन्येष्वपि जनेषु अण्वपि भेदं न मन्यन्ते, तान् वयं सेवामहे । यथोक्तं श्रीमद्भागवते—

अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ।
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते ।
नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि ।।
(भा०पु० १२.१०.२१-२२)

अमृतमयं शिवस्य वचनं श्रुत्वा ध्वस्तक्लेशपुञ्जः मार्कण्डेयः सम्यगुवाच—

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम् ।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ।। (भा०पु० १२.१०.२८)

एतेन शिवस्य लीलाकैवल्यत्वसिद्धिः । हे भगवन् ! स्वप्नद्रष्टा इव भवता मनसा विश्वमिदं सृष्टम्, तस्मिन् स्वयं प्रविश्य कर्त्ता असन्नपि कुर्वद्भिः गुणैः कर्त्तेव भवान् भाति । अतः भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने केवलायाद्वितीयाय विश्वगुरवे ब्रह्ममूर्त्तये तुभ्यं नमः—

सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः ।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्त्तेव स्वप्नदृग् यथा ।।
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्त्तये ।। (भा०पु० १२.१०.३१-३२)

भवांस्तु पूर्ण एव, भक्तानामपि कामनां पूरयति स्वयं भवान् । त्वद्दर्शनादेव सत्यकामः पुमान् पूर्णकामो भवति । अथापि कामाभिवर्षणात् पूर्णाद् भवत एकं वरं वृणे । येन भगवत्यच्युतेऽजे ब्रह्मणि त्वयि शरणागतभक्तेषु च भेदबुद्धिः मा भवेत् । त्वयि अचला भक्तिः सर्वदा भवेत् । यथोक्तं भागवते—

यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत् ।
वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात् ।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ।।

(भा०पु० १२.१०.३३-३४)

मायादर्शनेच्छोः मुनेः मार्कण्डेयस्य प्रार्थनया भगवता प्रलयस्य दृश्यमप्युपस्थापितम् । यदि तेनापि शिवतत्त्वं सम्यक् प्रतिपाद्य तस्मिन् भक्तिर्याचिता, तदास्माभिरपि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थे सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणि शिवेऽऽभेदबुद्धिपूर्वकं सदाऽविचला भक्तिः करणीयेति सञ्चिन्त्य शिवं प्रार्थ्य च विरमामि—

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति ।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः ।।

श्रीमद्भागवते क्रीडाप्रसङ्गाः

श्री-अशोककुमारपाण्डेयः

सर्वशास्त्रस्वरूपिणि श्रीमद्भागवते प्रायः न्यूनाधिकरूपेण बहवो विषयाश्चर्चिता अभूवन्। भागवतमहापुराणस्यानुशीलनेन इदं परिज्ञायते यदत्र चर्चितविषयेषु क्रीडाप्रसङ्गा अपि बाहुल्येन चर्चिताः विद्यन्ते।

मनस्तु सङ्कल्पविकल्पात्मकं भवति,[१] तस्मात् कस्मिन्नपि कार्ये सातत्येन तस्य संलग्नता न कथञ्चिदपि सम्भाव्यते। समुद्विग्नमनसः कृते मनोविनोदस्य आवश्यकता जायते। प्रायशो मनोविनोदाः क्रीडामूलका एव। सन्ति च ता क्रीडाश्चतुर्विधाः—

१. व्यायामादिभिः शरीरचेष्टामूला क्रीडा

२. कन्दुकादिभिः सम्पाद्यमाना उपकरणक्रीडा

३. सूक्तिश्रवणमधुरालापादिरूपा वाक्क्रीडा

४. बौद्धिकव्यायामरूपिणी द्यूतक्रीडा

एताश्चतुर्विधा एव क्रीडाः श्रीमद्भागवते यथास्थलं निरूपिताः प्रेक्ष्यन्ते, तस्मात्तात्कालिकसामाजिकैरभीप्सितानामेतासां परिचयो भवति।

मानवजीवनस्य अतीव महत्त्वं वर्तते। महत्त्वमापन्नस्य तस्य च स्वस्थशरीरेणैव सार्थकत्वं भवितुमर्हति। एतद्भौतिकशरीरमेव चतुर्वर्गसाधनीभूतं प्रतिपादितं शास्त्रचिन्तकैः। महाकविना कालिदासेनापि कुमारसम्भवे धर्ममुपलक्षणीकृत्येदमेव तथ्यं शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमित्यादिनोपपादितम्। शरीरमाद्यं परमं सुदुर्लभमित्यादिना पुराणेष्वपि तदेवोपपादितं तथ्यम्। अत एव शरीरसंरक्षणार्थं स्वास्थ्यवर्धनार्थञ्चापि व्यायामादिभिः शरीरजाश्चेष्टाः सम्पाद्यन्ते। स्वस्थशरीरेणैव मानसिकं स्वास्थ्यमपि भवति। अत एवैतादृश्यः शारीरिकाश्चेष्टाः मानवानां कृते नितरामपेक्षिताः भवन्ति। याभिः शारीरिकस्वास्थ्येन सह मनोविनोदोऽपि स्यात्। मानवस्तु सामाजिकः प्राणी भवत्यत एव तदीयस्वास्थ्यं स्वस्थं समाजमपि परिकल्पयति। स्वस्थसमाजेनैव स्वस्थराष्ट्रस्यापि निर्माणं भवति। एतदर्थं परस्परं

---

१. उभयात्मकमत्र मनः सकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्। सांख्यकारिका-२७।

सहयोगभावनायाः, प्रेमभावस्य, सौहार्दस्य, उत्साहस्य, कौशलस्य चापि आवश्यकता भवति । एतत्साधनार्थं क्रीडा सर्वोत्तमा मन्यते ।

बालकेषु तु क्रीडायाः प्रवृत्तिः बाल्यादेव संदृश्यते । सा प्रवृत्तिः शैशवपरिप्रेक्ष्य श्रीमद्भागवतेऽपि दृष्टुं सहजतया शक्यते । कृष्णस्तु क्रीडायां मित्रैः सह मग्नीभूय एतादृशममन्दमानन्दमनुभवति स्म, यदसौ भोजनादिकमपि न सस्मार । शोधपत्रेऽस्मिन् चतुर्विधां क्रीडामधिकृत्य किञ्चिद् विवेच्यते ।

१. व्यायामादिभिः शरीरजाश्चेष्टाः

एकदा यमुनातटमापन्नं बालकैः सह क्रीडन्तं श्रीकृष्णं रामञ्च रोहिणी बारं बारमाजुहाव, परं तौ क्रीडाव्यासङ्गप्रभावात् नोपेयाताम्[१] । तदा रोहिण्या प्रेषिता प्रेरिता च नन्दपत्नी यशोदा पुत्रवात्सल्यसिक्ता तां भोजनार्थमाहूतवती । परिश्रान्तौ बुभुक्षितौ च बालकौ दृष्ट्वा सा व्याकुलापि प्रेक्ष्यते । यशोदया मुहुर्मुहुराह्वाने कृतेऽपि तौ न झटिति समागच्छतः, येन क्रीडायां कीदृशं मानसिकमानन्दमनुभवन्ति बाला इत्यपि दृश्यते । तथा हि श्रीमद्भागवतेऽपि विषयेऽस्मिन्—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष ! तात ! एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽपि पुत्रक ।।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति[२] ।।

यदि सामाजिके जने बाल्यादेव सामूहिकी भावना जागर्ति प्रकृत्या सह सम्पर्कश्च भवति तदा प्रकृतेरुपकारत्वेनापि सः परिचितो भवति । अनेन च पर्यावरणस्यापि संरक्षणेऽसौ सन्नद्धो भवितुं शक्नोति । अस्यापि दर्शनं श्रीमद्भागवते सम्यक्तया कर्तुं शक्यते ।

प्रातरेव वत्सान् गृहित्वा कृष्णादिभिः सामूहिकरूपेण गोचारणार्थं वनं प्रति गम्यते । वस्तुतस्तु प्रकृतिरियमस्माकं मातेव हितसम्पादिका । येन प्रकारेण मातरमवलोक्य बालः अमन्दमानन्दमनुभवति तथैवास्यानुभूतिः प्रकृतेरीक्षणेनापि । यथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुना पुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप[३] ।।

मानवे शिक्षाग्रहणस्य कस्यापि वैचित्र्यस्यानुकरणस्य च स्वाभाविकीप्रवृतिर्भवति । मानवः पशुपक्ष्यादीनां व्यवहारं दृष्ट्वापि किञ्चिद् गृह्णात्येव । सङ्गीतनृत्यादिभिः मनस्याह्लादो

---

१. श्रीमद्भा० १०/११/१२ ।
२. श्रीमद्भा० १०/११/१५-१६ ।
३. श्रीमद्भा० १०/११/३६ ।

जायते । तत्प्रयुक्तैरङ्गसञ्चालनादिभिः शरीरे स्फूर्तिः गतिशीलता च भवतः । एतदर्थं स्वाभविक्यः प्राकृतिकाः क्रीडा अपेक्षन्ते । गोपदारकैः सह कृष्ण-क्रीडायामेतत् सर्वमवलोक्यते ।

तद्यथा श्रीमद्भागवते कृष्णादीनां क्रीडावर्णनानि निरूपितानि —

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदैः ।।
क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ।।
वृषायमाणौ नर्दन्तो युयुधाते परस्परम् ।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूँश्चेरतुः प्राकृतौ यथा[१] ।।

एतस्मिन् वर्णने शारीरिकचेष्टानां क्रीडारूपेणोपयोगस्तथा वन्यपशूनां स्वाभाविक्यश्चेष्टा अपि बालकैः क्रीडारूपेणादत्ताः निरूपिताः सन्ति । एतदतिरिच्यापि बहव क्रीडाप्रसङ्गास्तथाविधाः प्रतिपादिताः ।

२. उपकरणक्रीडा

उपकरणक्रीडासु कन्दुकक्रीडायाः प्राधान्यं दृश्यते । कन्दुकक्रीडा प्रायेण स्त्रीजनानां मध्ये लोकप्रिया आसित् । श्रीमद्भागवते विविधाः प्रसङ्गाः स्त्रीणां कन्दुकक्रीणाप्रियत्वं द्योतयन्ति । तृतीये स्कन्धे यथा कर्दमप्रिया देवहूतिः कन्दुकेन क्रीडति स्म । मनुकन्यायाः देवहूतेः कन्दुकक्रीडा विलास एवमुपवर्णितस्तद्यथा—

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत् स्वाद्विमानात्
विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः[२] ।।

एवमेव चतुर्थस्कन्धेऽपि यदा रुष्टा दक्षकन्या सती दक्षयज्ञं द्रष्टुं गच्छति, तदा तया सह मनोरञ्जनार्थं या सामग्री शिवेन प्रहिता, तस्या कन्दुकस्यापि स्थितिश्चर्चिता जाता । तद्यथा श्रीमद्भागवते —

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजश्वेतातपत्रव्यजनस्त्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किताः ययुः[३] ।।

ततः परञ्चाप्यष्टमस्कन्धे यदा शिवेन मोहिनीरूपं पुनर्दर्शयितुं प्रार्थितो विष्णुः,

---

१. श्रीमद्भा० १०/११/३८,३९,४० ।
२. श्रीमद्भा० ३/२२/१७ ।
३. श्रीमद्भा० ३/२२/१७ ।

तदा तेन मोहिनीरूपिणा नारायणेन कन्दुकक्रीडया एव शिवः मोहितः । अत्र पञ्चश्लोकेषु श्रीमद्भागवतकारस्तस्य कन्दुकक्रीडामुपवर्णयामास । तेष्वन्यतममेकमत्र प्रस्तौमि—

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलयालसद्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम्[1] ।।

एवमेव पुराणान्तरे गोपदारकैः सह यामुने तटे कृष्णस्यापि कन्दुकक्रीडा निरूपितास्ति । क्वचित्तु कृष्णस्य कालियदमनेऽपि हेतुभूता कन्दुकक्रीडैवासीदित्यपि शास्त्रीयसङ्केतः ।

३. सूक्तिश्रवणवाक्क्रीडा

श्रीमद्भागवते श्रीकृष्णस्य बलरामं प्रति तथा रुक्मिणीं प्रति बहूनि वचनानि मनोविनोदरूपाणि प्राप्यन्ते, येषु वाक्क्रीडायाः स्पष्टरूपेण ध्वनिः प्रतीयते । रुक्मिणीकृष्णयोः दाम्पत्यानुरागमूलकवचनानि 'नर्म'शब्देन कथितानि । उक्तञ्च श्रीमद्भागवते श्रीकृष्णेन—

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
यन्नर्मैः नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि[2] ।।

एवमतिरिच्य ग्रन्थान्तरे चापि राधाकृष्णयोः नर्मविनोदप्रसङ्गाः वाक्क्रीडां प्रमाणयन्ति ।

४. द्यूतक्रीडा

एषा क्रीडा अभिजातजनानां मध्ये सर्वाधिकप्रसिद्धिमुपगतासीत् । प्रायेण सर्वे सामाजिका अस्यां रुचिं दधति स्म । प्राचीनकाले यदि कश्चिद् द्यूतार्थं युद्धार्थं वा कञ्चिदाह्वयति स्म, तदा आहूतो जनस्तं सहजतया स्वीचकार । भागवतस्य दशमस्कन्धे रुक्मिण्या सह बलरामस्य द्यूतक्रीडा प्रसङ्गायितास्ति । यद्यपि द्यूतक्रीडा विनाशकारिणी क्रीडासीत् । किमधिकं सकलमेव महाभारतीयं युद्धं द्यूतक्रीडायाः दुष्परिणामान् व्यनक्तीति मे विश्वासः । एवम्प्रकारेण सुप्रथिताश्चतुर्विधाः क्रीडाः श्रीमद्भागवतालोके समुपस्थापिताः । सानन्दं विश्रामकालयापनार्थं क्रीडाविनोदाः श्रेष्ठसाधनरूपेण समीहिताः । तेषु क्रीडा विनोदेषु केचन स्वरूपाणि अतीव प्रशस्यानि सन्ति । ते यथा—वनविहार-जलविहार-मल्लयुद्ध-मृगयाप्रभृति सन्ति । एते स्वास्थ्यसंवर्धनबलवर्धनादिलाभान् प्रददति । एवं हि काचित् क्रीडा कलाविकासाय, काचिद् कालक्षेपणाय, काचिद् नागरिकतायाः विकासाय, काचिद् बुद्धिवर्धनायापि भवति । श्रीमद्भागवतस्य विविधप्रसङ्गानाश्रित्य क्रीडायाः विविधप्रकाराणां विवेचनस्य प्रयत्नः कृतः स्वकीये ह्यस्मिन् शोधप्रपत्र इति शम् ।

---

१. श्रीमद्भा० ४.१२.१८ ।
२. श्रीमद्भा० १०.६०.३१ ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्शः

ब्रह्मचारिणी गीता बनर्जी

❀❀❀

श्रीश्रीमातुः असीमानुकम्पया नैमिषे पौराणिकवैदिकाध्ययानुसन्धानसंस्थानं संस्थापितम्। अत्र विदुषां सभायां समागत्य आत्मानमहं धन्यां मन्ये। श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्श इति विषयमधिकृत्य किञ्चिद् वक्तुकामा अहं भवत्समक्षम्।

भगवत्पादेनादिशङ्कराचार्येण त्रयाणां दुर्लभत्वं प्रोक्तम्—

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय इति।

इदानीन्तने काले मानुषोऽप्यमानुषवत् समाचरति। तेषु मनुष्यतादया-प्रेम-करुणा-सहिष्णुताप्रभृतिमानवीयगुणानां सर्वथा अभावो दृश्यते। मुमुक्षुत्वं तु विरलतमं सञ्जातं मानवेषु। महापुरुषसंश्रयत्वं तु दूरमेव। नेदानीं यथार्थमहापुरुषाः दरीदृश्यन्ते, येन तेषां संश्रयं गच्छेयुः मानवाः। अतः मानवाः कुतः मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयञ्च लभेरन्? एवं च त्रितापसन्तप्ताः इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा भूय इतस्तो भ्रमन्ति मानवाः।

ईदृग् घोरतमे सङ्कटपूर्णसमये श्रीमद्भागवतमहापुराणमेव यथार्थं जीवन-मरणस्य च महनीयतां प्रतिपादयति मानवान् प्रति। कलिकल्मषघ्नमार्तिहरं भवरोगनिदानं हरिकथामृतं पाययित्वा मानवेभ्योऽमृतत्वममरत्वं प्रयच्छति श्रीमद्भागवतम्।

अत एव महाभागवतेन सूतेन श्रीमद्भागवते कथितम्—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्याविमुच्येन्नरः[१]॥

अहो! कीदृशं दयार्द्रहृदयं श्रीमद्भागवतस्य। तत्रोच्यते—

---

१ श्रीभागवते १२.१३.१८।

पतितं स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्[1] ।।

अत एव मोक्षशास्त्रं कथ्यते श्रीमद्भागवतमहापुराणम् । परमभागवतेन उद्धवेन लीलापुरुषोत्तमो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः प्रार्थितः—हे भगवन् ! हे भुवनमङ्गल ! भक्तानां कार्यं विधाय अन्तर्हितो भविष्यति भवान् । ततश्च भवतो मधुरमनोहरलीलायाः भवत्प्रतिपादितधर्मस्य च दर्शनं कुत्र भविष्यति ? तदा भगवान् निजगाद—हे उद्धव ! पूर्वमहं सदा स्वकार्यं विधाय वैकुण्ठमव्रजम् । परमिदानीमहं तिरोधाय भागवतार्णवे चिरं स्थास्यामि, अतः—

तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ।
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षं वर्तते हरेः ।।

अर्थाद् भगवान् तिरोभूय श्रीमद्भागवतार्णवे प्रविवेश । अतः श्रीमद्भागवत-महापुराणं भगवतः वाङ्मयी मूर्तिः । श्रीकृष्णावतारसमये भगवतः नयनानन्दकरी लीलां विलोक्य यादृक् ब्रह्मानन्दरससागरे निमज्जिताः भवन्ति स्म जनाः, तादृगेव श्रीमद्भागवतस्य हरिकथामृतश्रवणेनाद्यापि निरवद्यं सुखमनुभूय मधुरलीलामृतरसा-स्वादनतत्पराः जनाः परमानन्दसन्दोहे निमग्नाः भवन्ति ।

तत्रादौ श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे मानवानां धर्मः क इति जिज्ञासायां डिण्डिमघोषेण उत्तरं निगदितम् ।

स वै पुंसां धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति[2] ।।

उक्तं च टीकायां धर्मो द्विविधः । प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च । तत्र यः स्वर्गाद्यर्थः प्रवृत्तिलक्षणः सोऽपरः । यतस्तु धर्मात् श्रवणादिलक्षणा भक्तिर्भवति स परो धर्मः स एवैकान्तिकं श्रेय इति । कथंभूता भक्तिः ? अहैतुकी—हेतु=फलानुसन्धानं तद्रहिता । अप्रतिहता = विघ्नैरनभिभूता भक्तिरिति । अर्थात् स एव परो धर्मो येन वासुदेवे परा भक्तिर्भवेत् । वासुदेवे पराभक्तिर्ज्ञानं वैराग्यं च जनयति । तदेवं हरिभक्तिद्वारा तदितरवैराग्यात्मज्ञानपर्यन्तः परो धर्म इत्युक्तम् । धर्मस्य किं प्रयोजनम् ? तदुच्यते—तन्मोक्षाय । न त्वर्थाय अन्ये तु मन्यन्ते धर्मस्य अर्थः फलम्, अर्थस्य कामः फलं, तस्य चेन्द्रियप्रीतिः, तत्प्रीतेश्च पुनरपि धर्मार्थादिपरम्परेति तन्निराकरोति । धर्मस्य फलमपवर्ग एव, न तु अर्थः । अर्थस्यापि प्रयोजनं धर्माचरणमेव, न तु कामः । कामस्य च नेन्द्रियप्रीतिर्फलं भवति, किन्तु यावता जीवेत तावानेव कामस्य लाभः । जीवनपर्याप्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः ।

---

१. श्रीभागवते १२.१२.९; २. तत्रैव १.२.६ ।

तदुक्तं श्रीमद्भागवते—

धर्मस्य ह्यपवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।१.२.९-१० ।

जीवानां जीवनस्य किं प्रयोजनम्? तत्राह जीवानां जीवनस्य प्रयोजनं तत्त्वजिज्ञासैव। कर्मभिर्य इह प्रसिद्धः सोऽर्थो न भवति। तच्च भणितं श्रीमद्भागवत-महापुराणे—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

अर्थात् तत्त्वविदस्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति, यज्ज्ञानमद्वयं द्वैतरहितम्। तदेव औपनिषदैर्ब्रह्मेति, हैरण्यगर्भैः परमात्मेति, सात्वतैर्भगवानित्यभिधीयते। एतदेव श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य तत्त्वं प्राणस्वरूपं प्रधानप्रतिपाद्यविषयश्च। तस्यैव विमर्शः नानायुक्तिभिः प्रस्तूयतेऽत्र विचारणपरैः विद्वद्वरैः।

तत्त्वविमर्शने प्रथमस्कन्धस्य मङ्गलाचरणस्य प्रथमः श्लोक एव प्रमाणम्—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।१.१.१ ।

अर्थाद् भागवतस्य प्रतिपाद्यविषयः भगवानेव। तमेव स्वरूपतटस्थलक्षणा-भ्यामुपलक्षयति। तत्र स्वरूपलक्षणं सत्यमिति। सत्यत्वे हेतुः—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि त्रयाणां मायागुणानां तमोरजःसत्त्वानां सर्गो भूतेन्द्रियदेवतारूपोऽमृषा सत्यः। यत्सत्यतया मिथ्यासर्गोऽपि सत्यवत्प्रतीयते। तं परं सत्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः—तेजोवारिमृदां यथा विनिमय इति। विनिमयो व्यत्ययोऽन्यस्मिन्नन्यावभासः। स यथाऽधिष्ठानसत्तया सद्वत्प्रतीयत इत्यर्थः, तत्र तेजसि वारिबुद्धिर्मरीचितोये प्रसिद्धा। मृदिकाचादौ वारिबुद्धिर्वारिणि च काचादिबुद्धिरित्यादि यथायथमूह्यम्। यद्वा तस्यैव परमार्थसत्यत्वप्रतिपादनाय तदितरस्य मिथ्यात्वमुक्तम्। यत्र मृषैवायं त्रिसर्गो न वस्तुतः सन्निति यत्रेत्यनेन प्रतीतमुपाधिसम्बन्धं वारयति। स्वेनैव धाम्ना महसा निरस्तं कुहकं कपटं मायालक्षणं यस्मिंस्तम्।

तटस्थलक्षणमाह—अस्य विश्वस्य जन्मस्थितिभङ्गा यतो भवन्ति तं धीमहीति बहुवचनं शिष्याभिप्रायम्। तत्र हेतुः—अर्थेषु आकाशादिकार्येषु परमेश्वरसद्रूपेणा-

न्वयादितरतश्च अकार्येभ्यश्च खपुष्पादिभ्यस्तद् व्यतिरेकात्। यद्वा अन्वयशब्देनानुवृत्तिः, इतरशब्देन व्यावृत्तिः, अनुवृत्तत्वात्सद्रूपं ब्रह्मकारणं मृत्सुवर्णादिवत्। व्यावृत्तत्वाद् विश्वं कार्यं घटकुण्डलादिवद् इत्यर्थः। यद्वा सावयवत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां यदस्य जन्मादि तद्यतो भवतीति सम्बन्धः। तर्हि किं प्रधानं = प्रकृतिर्ध्येया ? न यश्चेतनः न तु जडः योऽभिज्ञः सर्वज्ञः तर्हि किं हिरण्यगर्भो ब्रह्मा ध्येयः ? न अपि तु स्वराट् स्वेनैव राजते यस्तं स्वतः सिद्धं ज्ञानमित्यर्थः परतन्त्रो न, अपि तु स्वयंप्रकाशः आदिकवये ब्रह्मणेऽपि ब्रह्म वेदं यस्तेने प्रकाशितवान्, ननु ब्रह्मणोऽन्यतो वेदाध्ययनमप्रसिद्धम्। सत्यम्, तत्तु हृदा मनसैव तेने विस्तृतवान्। यस्मिन् ब्रह्मणि वेदज्ञाने सूरयोऽपि मुह्यन्ति तस्माद् ब्रह्मणः पितामहस्यापि पराधीनज्ञानत्वात् स्वतः-सिद्धज्ञानः परमेश्वर एव जगत्कारणम्। एवंभूतं सत्यस्वरूपं परमात्मानं धीमहि।

द्वितीयश्लोकः—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तुशिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥१.१.२।

अर्थात् महामुनिव्यासेन विरचिते श्रीमद्भागवते अत्र कपटरहितः फलकामनारहितः परमः धर्मो वर्णितः। परोत्कर्षासहनं मत्सरः तद्रहितानां निर्मत्सराणां शुद्धचित्तानां शिवदं वास्तवं वस्तु वेद्यं तापत्रयोन्मूलनं तादृशः परमात्मा निरूपितः। अतोऽन्यैः शास्त्रैः किं प्रयोजनम् ? यतः सुकृतिनां श्रवणस्येच्छयैव सद्यो भगवान् हृदि अवरुध्यते।

तृतीयः श्लोकः—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहोरसिका भुवि भावुकाः॥

—१.१.३।

अर्थाद् भागवतरसरसिकाः भुवि भावुकाः जनाः! वेदकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखाद् मधुरतरममृतद्रवसंयुतमिदं भागवतं नाम फलं मुहुः पिबत।

इत्थं श्लोकत्रयेऽत्र अनुबन्धचतुष्टयं वर्णितम्। प्रथमश्लोके भागवतस्य प्रतिपाद्यविषयः। द्वितीये सम्बन्धः प्रयोजनं च, तृतीये भागवतस्याधिकारी वर्णितः।

भगवत्प्राप्तेरुपायोऽत्र विशदेन वर्णितः। श्रीमद्भागवते दिव्यप्रेमपराभक्तिश्च। श्रीमद्भागवते गोपीप्रेम एव प्रेमपराकाष्ठायाः निदर्शनं दृश्यते। दामोदरलीलायां यशोदाया वात्सल्यस्य संस्तुतिर्भगवता शुकाचार्येण एवं विधीयते—

नेमं विरिञ्चो भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।। १०.९.२० ।

ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मीरपि तादृशीं करुणां कृपां च न लेभिरे यादृशीं माता यशोदा अलभत् । अत एव ब्रह्मा स्वयमेव स्तौति—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ।।१०.१४.३४ ।

गोप्यश्च मधुरमनोहरकान्तभावेनैव परमात्मनि भगवति लीनतां प्राप्ताः । गोपीगीते तासां दिव्यप्रेमरसाप्लुतं मधुरमुद्गायनं कस्य चित्तं न हरति ?

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ।।
—१०.३१.९ ।

अन्ते च रासलीलायां भगवान् स्वयमेव स्वीकृतवान्—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां
स्वसाधु कृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना । १०.३२.२२ ।

अर्थात् हे गोपिकाः । यूयं मम प्रेमवशात् मत्कृते लोक-परलोक-स्वार्थ-स्वजन-स्वसर्वस्वमत्यजत, अतः प्रेमपाशबद्धोऽहं सदैव युष्मान्नृणी । अतः जन्मशत-कोटिभिरपि आत्मानमनृण्यं विधातुं न पारयिष्यामि ।

भगवान् स्वप्रियसुहृद् उद्धवं कथयति—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः
ये त्यक्तलोकधर्मांश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।।
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।। १०.४६.४-६ ।

गोपीभिः सह उद्धवस्य संवादानन्तरमुद्धवोऽपि कथयति—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।। १०.४७.६१ ।
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।। १०.४०.६३ ।

धन्यां व्रजगोपिकाः यासां दिव्यप्रेमगाथां स्वयं भगवानपि प्रशंसति । श्रीमद्भागवते भक्तिश्च द्विविधा प्रोक्ता साधना भक्तिः साध्या भक्तिश्च । साधना भक्तिर्नवधा वर्णिता—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।७.५.२३

साध्या भक्तिरेव परा भक्तिः दिव्यप्रेम इत्यभिधीयते, भगवता कथितम्—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।९.४.६३ ।

एकादशस्कन्धे भक्तिभक्तयोर्महिमा दृश्यते—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यार्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ।। ११.१४.१४ ।

अन्यच्च—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।११.१४.१६।

अर्थाद् भक्तवत्सलो भगवान् वदति—अहं भक्तान् अनुव्रजामि येन तेषां पदरेणुभिरहं पवित्रं भवेयम् ।

यन्नामकीर्तनेन यन्नामश्रवणेन जगत् पवित्रं भवति स एव भगवान् परमपावनः भक्तपदरेणुभिरात्मानं पवित्रं मन्यते । अहो ! परमभागवतानां भक्तानां महिमा । महत्पादरजोऽभिषेकेनैव जीवानां कल्याणं भवितुमर्हति इत्येव दर्शितमत्र ।

तदेव पवित्रं यस्य स्मरणमात्रेण अपवित्रोऽपि पवित्रः स्यात्, पतितोऽपि

पावनः स्यात्, स्खलितोऽप्यग्रतो गच्छेत्, पराभूतोऽप्युन्नतः स्यात्। अत एव गीतम्—

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।२.४.१८।

इत्थम्भूतो गुणे हरिः, अतः भागवतस्य अन्ते महाभागवतेन सूतेन कीर्तितम्—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ।।
नामसकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ।।१२.१३.२२-२३।

एवञ्च श्रीमद्भागवते आनन्दकन्दभगवतः श्रीकृष्णचन्द्रस्य लीलावर्णनं प्रधानतया दिव्यप्रेमपराभक्तिर्दृश्यते। अतः श्रीमद्भागवतं भक्तिशास्त्रं मोक्षशास्त्रं च गीयते भक्तिरसास्वादनतत्परैः। यतः सुनिर्मलज्ञानानन्तरमेव पराभक्तिर्भवति। ततश्च भगवता सह महामिलनं सम्भवति। एतदेव जीवस्य परमं लक्ष्यं परमपुरुषार्थश्च। ओम् शान्तिः।

कल्पवृक्ष से टपका हुआ मधुर फल

प्रो. ओम प्रकाश पाण्डेय

❁❁❁

भारतीय साहित्य के इतिहास में पुराण-आन्दोलन से बड़ा कोई साहित्यिक आन्दोलन नहीं हुआ। नीमसार (नैमिषारण्य) से प्रारम्भ हुए इस वैचारिक अश्वमेध ने सम्पूर्ण देश को सांस्कृतिक-सामाजिक एकता के महासूत्र में सुदृढ़ता से निबद्ध कर दिया। वेदों के दुर्बोध हो जाने और उनके वास्तविक अभिप्राय को समझने में जनसामान्य की असमर्थता को परिलक्षित कर देश की तत्कालीन आर्ष मनीषा ने पुराणों के रूप में वेदों और उपनिषदों के ही तत्त्वज्ञान को इतने सरस और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया कि वह सर्वग्राह्य और सर्वगम्य हो गया। पद्मपुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्य में इस तथ्य का प्रकटीकरण सुस्पष्ट है—

श्रीमद्भागवतालापात् तत्कथं बोधमेष्यति ।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ।।
वेदोपनिषदा साराज्जाता भागवती कथा ।
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न ज्ञानायोपकल्पते ।
पृथग्भूतं हि तद् गव्यं देवानां रसवर्धनम्[1] ।।

अभिप्राय यह कि भागवत की कथाओं में वेदों का ही तात्पर्य सन्निहित है, उसी का सार समाहित है। जैसे घी जब तक दूध में मिला रहता है, तब तक उसका स्वाद नहीं मिलता, लेकिन वही घी जब अलग निकाल लिया जाता है, तो वह लौकिक प्रयोजन के अतिरिक्त देवों को भी रसास्वादन करा देती है। यही स्थिति भागवत की भी है, जिसे वेदरूपी कल्पवृक्ष का अपने-आप टपका हुआ अत्यन्त मधुर फल कहा गया है, जिसकी रसालुता से रसिक और भावुक जन आप्यायित हो जाते हैं—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः[2] ।।

और इस अमृत का पान करने के लिए सभी रसलोभी अपने आप दौड़ पड़े—

श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः । धावन्तोऽप्याययुः सर्वे[3] ।

---

१. पद्मपुराणोक्तभागवत-माहात्म्य २.६५,६७,६९   २. श्रीमद्भागवत १.३ ।
३. भागवत-माहात्म्य ३.१२ ।

कुछ स्वार्थी और अल्पज्ञ व्यक्तियों ने वैदिक तत्त्वज्ञान के द्वार जिन स्त्रियों और अन्त्यजों तथा उच्चवर्ण के भी कम पढ़े-लिखे लोगों (व्रात्यों) के लिए बन्द कर दिये थे, महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास और उनके परमहंस पुत्र शुकदेव ने उनके लिए भी धर्म को सुलभ बना दिया। वेदों के प्रचारकों की पैलादि-परम्परा में ही सूत और शौनकाचार्य की परम्परा भी प्रवर्तित हुई। रोमहर्षण सूत का नाम भी उसी क्रम में है, जिसे इतिहास-पुराण-परम्परा को आगे बढ़ाने का दायित्व मिला। अभिजात और अनभिजात सभी वर्ण इसमें सम्मिलित थे। सूतजी की ब्राह्मणेत्तरवर्णता तो सर्वविदित ही है, लेकिन स्वयं महर्षि व्यास का बचपन भी तो निषादकुल में ही बीता था, जो उनके सान्निध्य से अब 'धीवर' (महाबुद्धिमान्) मान लिया गया था। वभ्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतवण, वैशम्पायन और हारीत के रूप में तत्त्वचिन्तकों और प्रवक्ताओं की पुराणों में एक नयी परम्परा ही उभरकर सामने आयी। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिए शुकशास्त्र (भागवत) की कथाओं से दीप्तिमान ज्ञान का महायज्ञ सम्पूर्ण समाज के मन के परिष्कार के निमित्त प्रायोजित था, जिसमें न कोई उँचा था और न कोई नीच। भागवत ने जिस धर्म को पुरोवर्तित किया, उसमें छल-कपट का अंश भी नहीं था, माया-मोह और मत्सर (डाह) का नाम भी नहीं था, न्यूनाधिकता के कारण पारस्परिक ईर्ष्या की भी कोई सम्भावना नहीं थी—धर्म के रूप जो कुछ भी था, वह मात्र कल्याणकारी और मन की सर्वविध अशान्ति को दूर करने वाला था—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां,
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्[१] ।।

श्रौतयज्ञों का अनुष्ठान बहुव्यय एवं बहुजनसाध्य हो चला था, उसकी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता भी धूमिल हो गयी थी, उसमें पशु-हिंसा जैसे कुछ परवर्ती दोष भी आने लगे थे। यहाँ तक कि सौत्रामणी संज्ञक एक यज्ञ में मद्य-प्रेमियों ने मद्य-पान का विधान भी सम्मिलित करा दिया था। इनका भागवतकार ने दृढ़तापूर्वक निषेध किया—

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति[२] ।।

तत्त्वज्ञान और सदाचार से रहित मात्र निष्प्राण कर्मकाण्ड अब जनमानस में सद्भाव का संचार करने में विफल सिद्ध हो रहा था, इसलिए उस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। भगवन्निष्ठा के बिना इन सबको भागवतकार ने अग्राह्य ही माना है—

धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रजं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे[३] ।।

---

१. भागवत १.२; २. तदेव १०.२३.८ ।
३. तदेव १०.२३.३९ ।

भागवत के विश्रुत व्याख्याकार श्रीधरस्वामी ने भगवान् से विमुख लोगों के लिए कहा है कि वे कितना ही पञ्चाग्नि तप कर लें, पहाड़ों पर कूद-फाँद कर लें, तीर्थों में भ्रमण कर लें और वाद-विवाद कितने ही ग्रन्थ क्यों न पढ़ लें, लेकिन भगवान् की कृपा के बिना उनका उद्धार नहीं हो सकता—

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् ।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति[1] ।।

अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप भागवत ने धर्म का जो सरस सरल और सुग्राह्य रूप प्रस्तुत किया, उसके आधार थे ओङ्कार, वेदमाता गायत्री, पुरुषसूक्त, तुलसी-सिञ्चन, गोसेवा, भागवत का पाठ और 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय' का सुबोध द्वादशाक्षर मन्त्र—

वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च ।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च[2] ।।

बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान तो धनी-मानी व्यक्ति ही कर सकते थे, लेकिन ओङ्कार और गायत्री के जप में तो एक छद्म भी खर्च करने की जरूरत नहीं थी। भगवान् वासुदेव की आराधना सर्वोपरि घोषित की गयी। सारी धार्मिक क्रियाओं, ज्ञान और तप के केन्द्रबिन्दु के रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा हो गयी—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः[3] ।।

प्रजापति के स्थान पर भगवान् विष्णु ही यज्ञेश्वर हो गये।

स्वर्ग में तो पुण्यों के आधार पर फल में न्यूनाधिक की भावना हो भी सकती थी, लेकिन उसके स्थान पर वैकुण्ठ की प्रतिष्ठा सर्वथा निर्दोष थी। वेदों में इन्द्र का राष्ट्रीय वीरयोद्धा और महानायक के रूप में जो गौरवशाली स्वरूप अङ्कित है, उसे तिरोहित कर अल्पज्ञ कथावाचकों ने इन्द्र का जो कुत्सित और कल्पित रूप गढ़कर सस्ते मनोरंजन को प्रोत्साहित किया, उसे हटाकर भागवत में सर्वत्र विष्णु की ही प्रतिष्ठा होती गयी। द्वापर में कृष्ण ने इसीलिए इन्द्रयज्ञ के अनुष्ठान के स्थान पर गोवर्धन-यज्ञ का प्रचलन प्रारम्भ कराया और उसमें कर्म की प्रधानता सुनिश्चित की। यह बल देकर कहा गया कि व्यक्ति को सुख-दुःख, भय और अभय-सब कुछ अपने कर्म से मिलता है—

---

१. श्रीधरस्वामी, भागवत (१०.८७) में उल्लिखित श्रुति-वचनों पर टीका के अन्तर्गत।
२. भागवत-माहात्म्य-३.३४; ३. भागवत १.२.२८.२९।

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते[१] ।।

ईश्वर भी उसी का सहायक होता है, जो कर्मरत हो—कर्महीन के प्रति उसकी भी कोई सहानुभूति नहीं होती—

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः[२] ।।

हरिभक्ति का जो ज्वार उमड़ा, उसमें पड़कर वह वृत्रासुर भी हरिभक्त के रूप में ही चित्रित हुआ, जो वैदिक साहित्य में इन्द्र-शत्रु के रूप में प्रदर्शित है। भागवत में वही वृत्रासुर कहता है कि जहाँ हरि हैं, वहीं विजय, लक्ष्मी और अन्यान्य गुण रहते हैं—**यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः**[३] । उसकी कामना मात्र इतनी ही है कि भगवान् के चरणों में रहकर वह मन में उन्हीं का चिन्तन करता रहे, उसकी वाणी उनकी स्तुति करती रहे और शरीर कर्मानुष्ठान में संलग्न रहे—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणाँस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः[४] ।।

भागवत का वह सुप्रसिद्ध स्तुति-पद्य, जिसे सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी बहुधा उद्धृत करते थे, भी वास्तव में वृत्रासुर के मुख से ही निर्गत है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्[५] ।।

हे कमलनयन विष्णु ! मेरा मन आपके दर्शन-हेतु उसी प्रकार आतुर है, जिस प्रकार पंखहीन पक्षी अपनी माता के दर्शनार्थ उत्कण्ठित रहते हैं, भूख से व्याकुल शिशु माँ के स्तन-पान के लिए लालायित रहते हैं और कोई विषाद ग्रस्त प्रेयसी अपने प्रियतम के सान्निध्य-लाभ के लिए व्याकुल रहती है।

यज्ञानुष्ठान के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी भागवत ने, यज्ञस्थल पर प्रदर्शित किसी किस्म की संवेदनशून्यता और अमानवीय मनोवृत्ति को क्षमा नहीं किया है। दशम स्कन्ध का एक प्रसंग कुछ इसी प्रकार का है। जब स्वर्ग की कामना से आङ्गिरस नामक याग के अनुष्ठान में संलग्न ऋत्विकों के पास श्रीकृष्ण ने अपने साथी गोपाल बालकों को भोजन-प्राप्ति हेतु भेजा। यज्ञानुष्ठाताओं ने उन बालकों को बिना कुछ दिये डाँट कर भगा दिया, जिस पर भागवत में बड़ी कड़ी प्रतिक्रिया मिलती है—

---

१. भागवत १०.२४.१३; २. तदेव १०.२४.१४ ।
३. तदेव ६.११.२०; ४. तदेव ६.११.२४ ।
५. तदेव ६.११.२६ ।

इति ते भगवद्-याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः[१] ।।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा प्रेषित गोपबालकों की अन्न-हेतु की गयी प्रार्थना को उन ऋत्विकों ने इसलिए सुनकर भी न सुना और न समझा, क्योंकि वे बड़ी क्षुद्र आशा से यज्ञानुष्ठान कर रहे थे—वे अपने को समझते तो बहुत ज्ञानी थे, लेकिन वास्तव में वे नासमझ ही थे।

वहाँ से निराश साथियों को पुनः श्रीकृष्ण ने उन यज्ञानुष्ठाताओं की पत्नियों के पास भेजा, जिन्होंने उन्हें अत्यन्त आत्मीयता से भोजन कराया। तात्पर्य यह कि भागवत की दृष्टि में किसी भूखे को भोजन कराना पूजा या यज्ञानुष्ठान की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। भगवान् के अन्य पुराणों के सदृश भागवत ने भी भगवान् के अवतारों के निरूपण में बड़ी रुचि ली है। इन अवतार-कथाओं के विश्लेषण में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं, लेकिन यह तथ्य अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि मत्स्य, कच्छप और शूकर प्रभृति स्वरूपों वाले विविध बहुसंख्यक देवों की पूजा अर्चना करने वाले विशाल भारतीय जनसमुदाय की छोटी-छोटी धार्मिक निष्ठाओं को भागवतकार ने विष्णु के विराट् स्वरूप के अन्तर्गत समेटकर सबको एक बृहद् आस्था-मण्डप के नीचे ला दिया है। हयग्रीव के रूप में सर्ववेदमय, सर्वदेवमय और यज्ञस्वरूप पुरुष के अवतरण में इस अवधारणा को स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है—

सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः[२] ।।

अभिप्राय यह कि विष्णु के रूप में भागवत ने वेदविहित समस्त सद्गुणों के आकर पुरुष को ही रूपायित कर दिया है, जिसके चिन्तन-मनन से सबकी श्रान्ति-क्लान्ति स्वतः दूर हो जाती है, जैसाकि—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः ।
त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः[३] ।।

वैदिक और पौराणिक धार्मिक मान्यताओं में कतिपय विद्वान् 'वेदवाद' जैसे शब्दों की आड़ लेकर निरर्थक भेद-कल्पना करने लगते हैं। यह सही है कि कहीं-कहीं पुराणों में ही यज्ञीय कर्मकाण्ड को अदृढ़ नौका कहा गया है; यथा—

यथा दृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः ।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्[४] ।।

लेकिन ऐसे प्रसंगों का प्रयोजन यज्ञानुष्ठान की आलोचना करना न होकर,

---

१. भागवत १०.८७ पर श्रीधरस्वामी की टीका; २. भागवत १०.२५.४ ।
३. तदेव १.१७.३३-३४; ४. तदेव ११.३.४३

काल-प्रभाव से श्रौत कर्मकाण्ड में आ गयी न्यूनताओं की ओर ध्यानाकर्षण मात्र है। उदाहरण के लिए यज्ञीय कर्मकाण्ड में धर्म और सत्य के समावेश पर आग्रह करने वाला निम्नलिखित उद्धरण यज्ञ के अनुष्ठान की प्राणवत्ता पर ही बल देता है—

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो ! धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैर्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ।।
यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान इज्यामूर्तिर्यजतांशं तनोति ।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमानामन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा[१] ।।

पुराणों ने वैदिक संस्कारों में भी कुछ परिवर्तन किया है। उदाहरण के लिए पुंसवन संस्कार को 'व्रत' नाम देकर उसमें लक्ष्मीनारायण की पूजा का भी समावेश कर दिया है।

गीता की तरह पद्मपुराणोक्त भागवत-माहात्म्य में भी द्रव्ययज्ञ के साथ ही तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ के रूप में यज्ञ की नयी व्याख्याओं का संज्ञान लिया गया है।

भागवतकार के मन में वेदों की ईश्वरात्मकता के प्रति कोई सन्देह नहीं है, लेकिन उनकी शैली के परोक्षनिष्ठ होने के कारण उनके यथार्थ को समझने में विद्वज्जनों का भी भ्रम हो सकता है, इस दिशा में वह सावधान भी है—

वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा[३] ।।

वेदों के प्रति भागवतकार की अनन्य निष्ठा है, इसका आकलन निम्नलिखित उद्धरण से सुस्पष्ट है—

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः[४] ।।

निष्कर्ष यह कि वैदिक और पौराणिक चिन्तन की मूल चेतना एक ही है— हाँ, पुराणों ने युगानुरूप उसमें कुछ उपबृंहण अवश्य कर दिया है।

---

१. भागवत ११.३.४५-४६ ।

रासपञ्चाध्यायी में शृङ्गाराद्वैतविमर्श

प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल

❀❀❀

श्रीमद्भागवत का प्राणतत्त्व रासपञ्चाध्यायी है। भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध के २९ अध्याय से ३३ अध्याय पर्यन्त पाँच अध्याय रास पञ्चाध्यायी के नाम से विश्रुत हैं। इन अध्यायों में भगवान् कृष्ण के साथ गोपिकाओं की रास-क्रीड़ा वर्णित है। रास-क्रीडा वर्णन काव्य की दृष्टि से शृङ्गाररसोपेत है। परन्तु भागवतकार अनेकत्र इस शृङ्गाररसनिष्पत्ति को ब्रह्मरस किंवा आत्मरसनिष्पत्ति का बोधक स्वीकार करते हैं—

> **आत्मारामोऽप्यरीरमत्[१] ।**
> **रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः[२] ।**
> **रन्तुं मनश्चक्रे योगमायाप्रपाश्रितः[३] ।**
> **रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया[४] ।**
> **सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः[५] ।**

भगवान् कृष्ण का ब्रजस्त्रियों के साथ रमण अध्यात्म अथवा ब्रह्मानन्द की सृष्टि कैसे कर सकता है, यह तो ब्रह्मानन्दरस से अत्यन्त विपरीत है। श्रीमद्भागवत के रहस्यज्ञाता श्रीधर स्वामी को भी यही शङ्का हुई, परन्तु वे शृङ्गाररस की कथा के व्याज से भगवान् की रासलीला निवृत्तिपरक है और रासलीला का बिडम्बन निश्चय ही कामविजय के ख्यापनार्थ है—**"ननु विपरीतमिदम्, परदारविनोदेन कन्दर्पविजेतृत्व-प्रतीतेः। मैवम्, योगमायामुपाश्रितः आत्मारामोऽप्यरीरमत्' 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्। तस्माद्रासक्रीडाविडम्बनं**

---

१. भागवत दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-२६/४२।
२. तत्रैव दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध २७/३४।
३. तत्रैव २९/१;
४. तत्रैव ३०/२०।
५. तत्रैव ३०/२६

कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम् । किं च शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः[१] ।

रासपञ्चाध्यायी के अन्तिम अध्याय में भागवत्कार लिखते हैं कि प्राणियों के अनुग्रह के लिए भगवान् मनुष्य देह में रहकर ऐसी रासक्रीडाएँ करते हैं, जिसे सुनकर के मानव तत्पर अर्थात् ब्रह्मरत हो जाते हैं—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्[२] ।।

उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीधरस्वामी कहते हैं कि शृङ्गाररस से आकृष्टचित्त वाले, अत्यन्त बहिर्मुखी लोग भी स्वपर अर्थात् ब्रह्म के प्रति उन्मुख हो जाते हैं—'शृङ्गाररसाकृष्टचेतसोऽतिबहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्तुमिति भावः'[३] । इस कथन से स्पष्ट है कि शृङ्गाररस के माध्यम से ब्रह्म का बोध कराया जा सकता है अथवा दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करें, तो अद्वैत का बोध शृङ्गाररस के द्वारा कराया जाता है। इसे भी एक दर्शन का वाद स्वीकार करना उचित होगा। इसे शृङ्गाराद्वैतवाद की संज्ञा दी जा सकती है। ब्रह्म रस है और जीव रस को प्राप्त करके आनन्दित होता है—**'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति[४] ।'** शृङ्गाररस के द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐक्य अथवा अद्वैत अनुभूत होता है। जीव जब ब्रह्म के प्रति अनुरक्त होता है, तो उसे बाह्य तथा आभ्यन्तर का ज्ञान नहीं रहता है, इसकी उपमा विद्यारण्य मुनि ने स्त्री-पुरुष संयोग से दी है—

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद् वेद न बाह्यं नापि चान्तरम्[५] ।।

यहाँ शृङ्गाररस का प्रख्यापन लौकिक नहीं है। काव्य के शृङ्गार से यह शृङ्गार भिन्न है; क्योंकि काव्य के शृङ्गार में नायक-नायिका परस्पर सापेक्षी होते हैं, परन्तु शृङ्गाराद्वैत के शृङ्गार में आलम्बन रूप ब्रह्म निरपेक्षी होता है। अतः यहाँ सपत्न का भाव भी नहीं होता है। भागवत में गोपिकाएँ परस्पर सपत्नियाँ नहीं हैं। भगवान् ही रसात्मक तथा रसवान् हैं। गोपिकाएँ जीव हैं और श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। भागवत की रासपञ्चाध्यायी में रासलीला ब्रह्मानुभाव का रहस्यबोधन कराती है, जिसे शृङ्गाराद्वैत के माध्यम से समझ सकते हैं।

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध २९/१ पर श्रीधरी टीका ।
२. भागवत दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-३३/३७।
३. भागवत दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध ३३/३७ पर श्रीधरी टीका ।
४. तैत्तिरीयोपनिषद् २/७/१ ।
५. पञ्चदशी ११/५४।

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रपत्ति की भी आवश्यकता होती है। श्रीकृष्ण ने गीता में प्रपत्ति की अवधारणा इस प्रकार व्यक्त की है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः[1] ।।

गोपिकाएँ भी श्रीकृष्ण के प्रति प्रपन्न थीं। यह जीवात्मा का प्रपन्नीभाव है। जब तक आत्मा, ब्रह्म में प्रपन्न रहती है, तब तक ही ब्रह्म वहाँ रमण करता है, पुनः अन्तःकरण सम्बन्धी ब्रह्म तिरोहित हो जाता है[2]। शृङ्गाररस के द्वारा भगवान् कृष्ण की रास-क्रीडा आध्यात्मिक ज्ञान की पोषिका है। वह अज्ञान की निवृत्ति का साधन तथा अद्वैत की बोधिका है।

रास-क्रीडा का कालविमर्श तथा उद्गीथ गान

भगवान् श्रीकृष्ण ने रासक्रीडा का प्रारम्भ आश्विन शुक्ल पूर्णिमा (शरद् पूर्णिमा) की रात्रियों में किया था। भागवतकार ने स्पष्टतया उल्लेख किया है कि योगमाया में आश्रित होकर भगवान् उन शरद् ऋतु में उत्फुल्ल मल्लिका पुष्पों वाली रात्रियों को देखकर रमण करने का मन बनाया—

भगवानपि ताः रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः[3] ।।

शरद् ऋतु में मल्लिका (वेला) नहीं खिलती है, वह वसन्त ऋतु में विकसित होती है। अतः यह विशिष्ट शारदीय पूर्णिमा की रात्रि है। योगमायामुपाश्रितः' इस कथन से ये रात्रियाँ सामान्य नहीं हैं। ये वे रात्रियाँ हैं, जिनमें योगीजन जागरण करते हैं और सम्पूर्ण संसार शयन करता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः[4] ।।

जब सांसारिक प्राणी सुप्तावस्था में है अथवा अज्ञानावस्था में है, तब संयमी और योगी भगवान् रात्रि में जागरण करके आत्मरमण की इच्छा करते हैं। इस समय चन्द्रोदय भी हो गया था। भागवत में चन्द्रमा के उदय का काव्यात्मक वर्णन प्राप्त होता है[5]।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १८/६६।
२. आत्मा यावत्प्रपन्नोऽभूत्तावद् वै रमते हरिः। सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ।।
३. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध (पूर्वार्द्ध) २९/१।
४. श्रीमद्भगवद्गीता २/६९।
५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध-२९/२।

यहाँ शरद् ऋतु (दक्षिणायन) चन्द्र तथा रात्रि के कथन से मुमुक्षु के काल का निर्देश किया गया है। ब्रह्मसूत्र में आया है कि केवल योगी उत्तरायण, सूर्य तथा दिन के संयोग से ही उत्तम गति को प्राप्त नहीं करता, अपितु उपासना के माध्यम से दक्षिणायन, चन्द्र तथा रात्रि के प्रयाण से भी उत्तम गति का अधिकारी हो सकता है—निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च। अतश्चायनेऽपि दक्षिणे[१]।

शरद् ऋतु के उल्लेख से रात्रियाँ कामोपभोग के लिए नहीं हैं, अन्यथा यही वसन्त ऋतु का समुल्लेख किया गया होता। रास-क्रीडा की रात्रि में चन्द्रमा नवीन कुङ्कुम के समान अरुण तथा लक्ष्मी के मुख की आभा के सदृश मनोरम था। चन्द्रकिरणों से सुशोभित वन को देखकर भगवान् कृष्ण ने रमणियों के लिए मनोहर अव्यक्त गान किया[२]। यह गान उद्गीथ का स्वर है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि वाणी और प्राण से उद्गीथ का गान किया जाता है—

वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्[३]।

भगवान् कृष्ण ने व्रजगोपियों के मन को ग्रहण कर लिया था, ऐसी गोपिकाएँ अलक्षित उद्यम वाली अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की वृत्ति से रहित होकर श्रीकृष्ण के सान्निध्य में आयीं। मोक्षरूपी कामना को बढ़ाने वाले उद्गीथ गान को सुन कर गोपिकाओं के कुण्डल वेग से चञ्चल इसलिए हो रहे थे, क्योंकि उनकी सुषुम्ना नाड़ियाँ उद्गीथानुरणन से प्रभावित हो रही थीं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः[४]॥

यह उद्गीथानुरणन इतना प्रभावशाली था कि गोपिकाएँ गाय दुहना छोड़कर, दूध और हलुवा या लपसी को चूल्हे पर से बिना उतारे ही कृष्ण के सम्मुख आ गयीं। कुछ गोपियाँ भोजन परोसना छोड़कर, कुछ बच्चों को दूध पिलाना छोड़कर, कुछ पतियों की सेवा को त्यागकर और कुछ भोजनादि को त्यागकर भगवान् कृष्ण के समीप आयीं। अन्य गोपियाँ गृहादि के लेपन तथा स्वच्छीकरण को त्याग कर और कुछ नेत्रों में काजल लगाने को छोड़कर अस्त-व्यस्त वस्त्राभरण वाली गोपियाँ

---

१. ब्रह्मसूत्र ४/२/१९-२०।
२. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९/३।
३. बृहदारण्यकोपनिषद् १/३/३४।
४. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध २९/४।

श्रीकृष्ण के सामीप्य में आ गयीं[१]। भगवान् के प्रति इतनी उत्कट अभिलाष थी कि पतियों, माता-पिता, पुत्र तथा बन्धुओं के रोकने पर भी श्रीकृष्ण के द्वारा अपहृत आत्मा वाली गोपिकाएँ नहीं लौटीं। जैसा कि व्यास ने लिखा है—

ता वार्यमाणा पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः[२] ।।

अन्तर्गृह में स्थित कुछ गोपिकाएँ जो निकल न सकीं, वे अपनी आँखें मूँद कर भगवद्भावना अथवा भक्ति अथवा प्रपत्ति से युक्त होकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं[३]।

इस प्रकार यहाँ जीव रूप गोपिकाओं की श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म में उत्कट जिज्ञासा तथा प्रेम प्रदर्शित किया गया है। यहाँ शृङ्गार के माध्यम से जीव की ब्रह्म में अनुरक्ति दिखलायी गयी है। यहाँ सुबोधिनीकार श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है— 'पूर्वमेव भक्तियुक्ताः, ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव, भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्यः'[४]। गोपिकाओं को सायुज्य प्राप्त हुई। यहाँ केवल गोपियों को ही भगवान् कृष्ण के गीत ने आकर्षित किया, अन्य गोपादिकों को क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म की प्राप्ति उसे होती है, जिसे ब्रह्म स्वयं चाहता हो और जीव ऐसा होना चाहिए, जिसमें ब्रह्म के प्रति प्रबल अभिलाष हो। यहाँ श्रीधरस्वामी गोपिकाओं के त्रैवर्गिक कर्म की निवृत्ति स्वीकार करते हैं[५]। गोपियों को श्रीकृष्णातिरिक्त कोई भी इच्छा नहीं है। ब्रह्म जिसको वरण करता है, उसे ही ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति होती है—

यमेवैष वृणुते ते लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्[६] । गोपिकाओं

---

१. दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्द् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ।।
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशूनथ ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ।।
श्रीमद्भागवत-दशम, पूर्वार्द्ध २९/५-६ ।
२. श्रीमद्भागवत-दशम-पूर्वार्द्ध २९/८ ।
३. अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ।। (श्रीमद्भागवत-दशम-पूर्वार्द्ध २९/९
४. भागवत-दशम पूर्वार्द्ध २९/९ पर सुबोधिनी टीका ।
५. भागवत-दशम पूर्वार्द्ध २९/५पर श्रीधरी टीका ।
६. कठोपनिषद् २/२२ ।

और कृष्ण में परस्पर एक दूसरे को वरण करने की स्थिति आ गयी है। अतः गोपिकाएँ ही यहाँ श्रीकृष्णरसानन्द की अधिकारिणी हैं।

गोपिकाओं के पाप-पुण्यों का क्षय और बन्धनमुक्ति

गोपिकाओं ने रास के प्रारम्भ में जो श्रीकृष्ण का अव्यक्त गीत सुना, तो प्रियतम के दु:सह विरह की तीव्र ज्वाला ने उनके पापों को भस्म कर दिया। प्रियतम कृष्ण के ध्यान प्राप्त आलिङ्गन के मांध्यम से उनके पुण्य कर्मों का भी क्षय हो गया। जैसा कि भागवतकार का मन्तव्य है—

दु:सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः[1] ।।

पाप कर्म और पुण्य कर्म दोनों के क्षय होने से ही मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता बनती है; क्योंकि दोनों का फल नश्वर है। पाप कर्मों से नरक की प्राप्ति और पुण्य कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः संसार में जन्म लेना पड़ता है। ऐसे ही पाप कर्म नष्ट हो जाने पर नरक से पुनः पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। इस सन्दर्भ में गीता के वचन स्मरणीय है—

एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्नाः
गतागतं कामकामा लभन्ते[2] ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति[3] ।

गोपिकाओं को श्रीकृष्ण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है। इसीलिए उनके पुण्य तथा पाप कर्मों का क्षय हो गया है। जब हृदय में ब्रह्म के प्रति अनन्य निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, तो ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। उस समय हृदय की विषय-विकारों वाली गाँठ खुल जाती है और समस्त संशय निर्मूल हो जाते हैं। उस जीव के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। यही मुमुक्षु की प्रथम अवस्था है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे[4]।।

गोपिकाओं को श्रीकृष्ण ने ऐसा बुद्धियोग प्रदान किया है, जिससे वे श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख हो रही हैं। जो भी भगवान् को सतत भजते रहते हैं तथा उनके प्रति प्रीतिपूर्ण आचरण करते हैं, भगवान् उन्हीं भक्तों को यह बुद्धियोग प्रदान करते हैं[5]। परमात्मा को किसी प्रकार से ग्रहण करने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-२९/१०; २. श्रीमद्भगवद्गीता ९/२१।
३. श्रीमद्भगवद्गीता ९/२१; ४. मुण्डकोपनिषद् २/२/८।
५. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

गोपिकाओं ने शृङ्गार की भावना अथवा जारभाव से श्रीकृष्ण का ध्यान और स्मरण किया था। यह भाव सत्य और निष्ठा पर आधृत था, अतः गोपिकाओं के पाप तथा पुण्य कर्मों से निर्मित गुणमय शरीर का परित्याग हुआ और उनके कर्मबन्धन भी नष्ट हो गये—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः[1] ।।

गोपियाँ भगवान् कृष्ण को प्रियतम के रूप में स्वीकार करती थीं, परब्रह्म के रूप में नहीं, तो फिर किस प्रकार गुणों के प्रवाह रूप इस संसार की निवृत्ति हुई[2]। इसका उत्तर यह है कि शिशुपाल आदि भगवान् के द्वेषी थे, लेकिन कृष्ण के सम्पर्क में आकर वे भी प्राकृत शरीर को त्याग कर अप्राकृत शरीर के द्वारा परमगति को प्राप्त हुए। अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण तथा गुणात्मक भगवान् मनुष्यों के कल्याण के लिए प्रकट होते हैं[3]। भगवान् में जिस भाव से नित्य अनुरक्ति होती है, वह निश्चय ही ब्रह्ममयता को प्राप्त होती है। भागवत में काम आदि षट् साधन बतलाये गये हैं, जिनके भाव से भजने पर प्राणी मोक्षगामी होता है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते[4] ।।

श्रीवल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में लिखा है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य तथा सौहार्द ये षट्साधन भगवत्सम्बन्धी कहे गये हैं। स्त्रियों को भगवत्सम्बन्ध में काम साधन है। शत्रुओं के लिए क्रोध, वध्य लोगों के लिए भय, सम्बन्धियों के लिए स्नेह, ज्ञानियों के लिए ऐक्य तथा भक्तों के लिए सौहार्द साधन है[5]। अतः इन षट्साधनों में से किसी एक के द्वारा यदि कोई प्राणी भगवद्भजन करता है, तो उसे ब्रह्म का साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। दृढीकरण के लिए सङ्ग्रहश्लोक भी उद्धृत किये हैं—

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ।।
तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः[6] ।।

गोपियों ने काम के द्वारा भगवदाराधना की, यही शृङ्गार के माध्यम से अद्वैत

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९/११; २. तत्रैव २९/१२।
३. तत्रैव २९/१३-१४; ४. तत्रैव २९/१५।
५. रासपञ्चाध्यायी-सुबोधिनी, पृ. ५४; ६. तत्रैव, पृ. ५४।

की सम्पुष्टि है। वैष्णवसम्प्रदाय में कई आलवार भक्तों ने भी कामभाव से भगवदुपासना की है और सायुज्य को प्राप्त हुए हैं। भगवान् भक्ति तथा प्रपत्ति को देख कर स्वयं ऐसा प्रयास करते है कि वह मेरा सर्वाधिक प्रिय बन जाय और जो प्रिय होता है, वही वरण के योग्य होता है, वही भगवत्सायुज्य का अधिकारी होता है—

प्रियतम एव वरणीयो भवति। यस्याऽयं निरतिशयं प्रियः स एवाऽस्य प्रियतमो भवति यस्यायं प्रियतमात्मानं प्राप्नोति तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतते[१]।

इस प्रकार यहाँ भगवान् प्रियतम तथा गोपिकाएँ प्रियतमा हैं। उन दोनों अर्थात् ब्रह्म और जीव का परस्पर वरण होता है और इस वरण का मूल साधन काम है, जिससे शृङ्गार प्रस्फुटित होता है और अद्वैत की कलिका खिलती है।

वृन्दावन में श्रीकृष्ण के द्वारा गोपिकोपदेश

भगवान् श्रीकृष्ण ने रास-क्रीड़ा से पूर्व गोपियों को सामाजिक उपदेश दिया है तथा पुनः ब्रज को लौटने के लिए प्रेरित किया है। वे गोपिकाओं से कहते हैं कि यह रात्रि अत्यन्त भयङ्कर तथा भयावह जीवों से युक्त है, अतः यहाँ स्त्रियों का रहना उचित नहीं है। माता, पिता, पुत्र, भाई और पति तुम्हें न देखकर इधर-उधर ढूँढ रहे होंगे। चन्द्रमा की किरणों से रञ्जित तथा पुष्पित और यमुना की वायु से तरल, वृक्ष तथा पल्लवों से युक्त वन को तुम लोगों ने देख लिया है। अतः अपने अपने गृहों को लौट जाओ और अपने पतियों की सेवा करो। बछड़े तथा बच्चे रो रहे हैं, उन्हें दूध पिलाओ और गायों का दोहन करो। पतियों की सेवा करना स्त्रियों का परम धर्म है। सन्तान का पालन-पोषण तथा पति के बन्धु-भाइयों की सेवा करना परम कल्याणद है[२]। दुःशील, दुर्भाग्यशाली, वृद्ध, मूर्ख, रोगी तथा निर्धन पति का त्याग भी स्त्रियों के लिए करणीय नहीं है। केवल पातकी पति का त्याग किया जा सकता है—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी[३]॥

कुलस्त्रियों के लिए उपपति का सेवन भयावह, कठिन, तुच्छ तथा स्वर्ग और यश को न प्रदान करने वाला है[४]। श्रवण, दर्शन, ध्यान तथा मेरे भाव के

१. श्रीभाष्य, पृ. १९।
२. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९/१८-२४
३. तत्रैव २९/२५
४. अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः॥ (श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९/२७)।

अनुकीर्तन से जितना मेरा सान्निध्य प्राप्त होता है, उतना मेरे समक्ष रहने से नहीं। अतः हे गोपियों ! तुम अपने-अपने घरों को लौट जाओ—

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्[1] ।।

यहाँ वल्लभाचार्य ने जारसम्बन्ध को भयावह बतलाया है; क्योंकि यह सम्बन्ध अनुभव काल में भी रस को निष्पादित नहीं करता है। शृङ्गार रस का विरोधी है। अतः इसे व्यभिचार शब्द से सम्बोधित किया जाता है। प्रथमतया यह जारसम्बन्ध भयानक रस को उत्पन्न करता है और पुनः सर्वत्र जुगुप्सित है—**'अनुभवकालेऽपि न रसमुत्पादयति । यतो भयजनकम् । शृङ्गारविरोधी भयानकरसः । अत एव व्यभिचारशब्दवाच्यः । मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेद् विशेषतः प्रथमतः । किञ्च जुगुप्सितो भवेत्[2] ।**

श्रीकृष्ण के द्वारा गोपियों का सांसारिक कार्यों में प्रवृत्तिपरक उपदेश निश्चय ही ब्रह्म की अनिर्वचनीया शक्ति अर्थात् माया के द्वारा प्रेरित है। भगवान् का यह त्रिगुणात्मक उपदेश सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त कराने वाला है। उपनिषद् कहती है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः[3] ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् ने कहा है कि मेरी त्रिगुणात्मिका माया दैवी तथा दुरत्यय है। इस माया को वही जन निस्तारित करते हैं, जो मेरी शरण में आ चुके हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते[4] ।।

गोपिकाएँ श्रीकृष्ण की शरण में आ चुकी हैं, अतः कृष्ण जी के सांसारिक प्रवृत्युपदेश में गुणात्मक माया को देखकर गोपियों ने उस समय श्रीकृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं किया।

गोपिकाओं की अविद्या (माया) निवृत्ति तथा कृष्णानुरक्ति

गोपिकाएँ श्रीकृष्ण रूपी ब्रह्म का साक्षात्कार कर रही हैं, अतः उनकी अविद्या या माया नष्ट हो गयी है ! वे अब सांसारिक विषय-बन्धनों में नहीं जाना चाहती हैं। अतः भगवान् के अविद्याजन्य वचनों को सुनकर वे जन्म-जन्मान्तर के

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध २९/२७।
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-२९/२६ पर सुबोधिनी टीका पृ. ९२।
३. श्वेताश्वतरोषनिषद् ४/९।
४. श्रीमद्भगवद्गीता ९/१४।

विहित कर्मों की चिन्ता में निमग्न हो गयीं। महर्षि व्यास शृङ्गार के माध्यम से अद्वैत को दर्शाते हुए लिखते हैं कि वे गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के सम्मुख अपने मुखों को नीचा करके एक पैर से भूमि को कुरेदने लगीं । शोक की श्वाँस से उनके बिम्बाधर सूख गये। कज्जल युक्त आँसूओं से अपने कुचों के केशर को प्रक्षालन करती हुईं वे अत्यन्त दुःख के भार से चुप-चाप खड़ी हो गयीं—

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन
शुष्यद्‌बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्[1] ।।

यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए व्याकुल जीव की दशा का वर्णन किया गया है। श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि मुख के निम्नीभाव से भक्ति का तिरोभाव, श्वसन से प्राणपीड़ा, शोक से हृदयपीड़ा, शुष्क बिम्बाधर से काम रस की पीड़ा, पैरों से भूमि लेखन के द्वारा शरीर की पीड़ा, अश्रुओं से इन्द्रियपीड़ा, कुङ्कुम के धुलने से सौन्दर्य-पीड़ा, दुःखभार से आनन्द-पीड़ा और तूष्णीभाव से चैतन्य की पीड़ा का निरूपण किया गया है[२]। ब्रह्म से मिलन के पूर्व जीव की दशा का चित्रण यहाँ गोपिकाओं के माध्यम से प्राप्त होता है। 'प्रकाशादिवन्नैवं परः'[२] सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने लिखा है कि जीव का देहाभिमान होने से उसे दुःख की सम्प्राप्ति होती है[३]। यह देहाभिमान अविद्या के कारण होता है। अभी गोपिकाओं में किञ्चिदेहाभिमान की स्थिति है। पुनः व्यास जी शृङ्गार के द्वारा गोपिकाओं के देहाभिमान की निवृत्ति बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण की अप्रिय बातों को सुन कर कृष्ण के प्रति अनुरक्त रहने वाली तथा उनके लिए सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित गोपिकाएँ रुदन करने से उपहत नेत्रों को पोंछ कर क्रोध से गद्‌गद वाणी से कहने लगीं है[४], हे सर्वत्र व्यापनशील ! आप ऐसे नृशंस वाक्य कहने के योग्य नहीं हैं। हे दुराग्रही ! हम समस्त विषयविकारों को त्यागकर तुम्हारे चरणमूल में आयी हुई हैं, हमारा त्याग मत करो। जैसे आदिपुरुष (परमात्मा) मोक्ष की इच्छा रखने वालों का सेवन करता है, वैसे ही तुम हमारा सेवन करो—

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-२९/२९ ।
२. ब्रह्मसूत्र २/३/४६ ।
३. ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य, पृ. १५१९ ।
४. प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित् संरम्भगद्‌गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ता ॥
(श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध २९/३०)

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्[१] ।।

यहाँ गोपिकाओं की अविद्या और देहाभिमान शनैः शनैः दूर हो रहा है तथा मुमुक्षु की अवधारणा जाग्रत हो रही है। गोपिकाओं ने विषयादिकों का त्याग कर दिया है और संसार से उनकी कोई रति नहीं है। केवल भगवान् कृष्ण में गोपिकाओं की भक्ति, रति तथा प्रबलानुरक्ति है। भगवान् के चरणों में आने से प्रपत्तिभाव का उन्मीलन तथा मुमुक्षु पद का अधिकारित्व गोपिकाओं में स्पन्दित हो रहा है।

गोपिकाओं का वैराग्य तथा भगवत्प्रपत्ति

भगवान् कृष्ण के सम्मुख जाते ही गोपिकाओं को वैराग्यानुभूति होने लगी। वे भगवान् से कहती हैं कि आप ने जो मुझे पति, पुत्र तथा मित्रादिकों की सेवा करने का स्त्री धर्म बतलाया है, यह समस्त उपदेश आप में ही तत्पर हो; क्योंकि आप ही शरीरधारियों के लिए प्रियतम, बन्धु तथा आत्मस्वरूप हैं[२]। भागवत में अन्यत्र भी लिखा है कि भगवान् के द्वारा आचरित लीला का अमृत बिन्दुमात्र भी जिसके कर्णकुहर में चला जाता है, तो उसके समस्त द्वन्द्व धर्मों का नाश हो जाता है। वह व्यक्ति शीघ्र ही अपने कुटुम्बादि को त्याग कर उसी प्रकार वन में भैक्षचर्या का आचरण करता है, जैसे पक्षी वन में विचरण करते हुए यथाप्राप्त भोज्य का भोग करते हैं—

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुद्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति[३] ।।

गोपिकाओं के अन्तर्गत भी इसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग हो गया है और उनमें भी वैराग्य की दशा है। वे कहती हैं कि कुशल (आत्मज्ञानी) लोग आप में ही प्रीति करते हैं; क्योंकि आप नित्य प्रिय हैं। कष्ट देने वाले पति-पुत्रादि से क्या प्रयोजन। पति पुत्रादि में प्रीति अनित्य तथा कष्टदायिनी है—

---

१. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध २९/३१।

२. यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
(श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९/३२)

३. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-४७/१८।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्[१] ।।

यहाँ पर भागवतकार ने प्रकारान्तर से ब्रह्मसूत्र के 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[२] । सूत्र के भाष्य के रूप में लिखा है कि गोपिकाओं ने भगवान् के कल-गीत का श्रवण किया, मनन किया तथा निदिध्यासन किया। इसके आवर्तनात्मक फल से उन गोपिकाओं में ब्रह्म (श्रीकृष्ण) के प्रति रति तथा अन्य पतिपुत्रादिकों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसीलिए वे गोपीकाएँ सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीन होकर कहती हैं कि मैं किस प्रकार ब्रज को वापस जाऊँ। यह चित्त भगवान् श्रीकृष्ण ने अपहृत कर लिया है। अतः गोपिकाओं के हाथ-पैर सांसारिक कार्यों से विरत हो रहे हैं[३] । यह अनन्य रति तथा भक्ति की अवस्था है। वे गोपिकाएँ कहती हैं कि हे ब्रह्म ! हे कृष्ण ! तुम अपने अधरामृत, हासावलोकन तथा कलगीत से मेरे हृदय की अग्नि को मिटा दो। अन्यथा विरह की ज्वाला से ज्वलित देहवाली हम ध्यान के मार्ग से आप के चरणकमलों की पदवी (मोक्ष) को प्राप्त करेंगी—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते[४] ।।

प्रपत्तिमार्ग अथवा शृङ्गाराद्वैत के मार्ग का आश्रय लेकर उदाहरणस्वरूप गोपिकाओं ने लक्ष्मी और तुलसी का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। पुनः गोपिकाओं को दास्यभाव की प्राप्ति होती है[६] । भगवान् के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर गोपिकाएँ उनकी दासी हो जाती हैं। यहाँ शृङ्गार तथा द्वैत दोनों दृष्टिगोचर होते हैं। अद्वैत की भावना अभी नहीं आयी है—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः[७] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध-२९/३३; २. ब्रह्मसूत्र ४/१/१ ।
३. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध २९/३४; ४. तत्रैव २९/३५ ।
५. तत्रैव २९/३६-३७; ६. तत्रैव २९/३८ ।
७. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-२९/३९

श्रृङ्गाराद्वैत की स्थिति बतलाते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि तीनों लोकों में कौन सी स्त्री है, जो सुन्दर पद से विस्तारित मूर्च्छना के द्वारा तुम्हारे वंशीरव को सुनकर अपने मर्यादित आचरण से विचलित न हो जाय। तीनों लोकों में सुन्दर तुम्हारे स्वरूप को देखकर गो, पक्षी, वृक्ष तथा पशु प्रसन्नता को धारण कर लेते हैं। यहाँ श्रृङ्गार के माध्यम से भगवत्प्रीति तथा अनुरक्ति बतलायी गयी है[१]। गोपिकाएँ निर्द्वन्द्वभाव से कहती हैं कि हे आर्त्तबन्धु ! मेरे तप्त स्तनों और शिरों पर अपना कर-कमल रखो—

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्[२] ।।

यहाँ तप्त स्तन पर हाथ रखने का अभिशाप हृदयचक्र में श्रीकृष्णरूपी ब्रह्म की स्थिति तथा शिर पर हस्तार्पण करने से सहस्रारचक्र को स्फुटित करने की दशा का वर्णन है। इससे हृदय और मस्तिष्क पर श्रीकृष्ण का अधिकार गोपियाँ द्योतित कराती हैं। ध्यान हृदय और मस्तिष्क में तद्वस्तु के सञ्चरण से सम्भव है। यह गोपिकाओं की चरम प्रपत्ति है।

श्रृङ्गाराद्वैत से गोपिकाओं की भगवत्सान्निध्य और जीवन्मुक्ति

इस प्रकार गोपिकाएँ जब श्रृङ्गार के माध्यम से अद्वैतावस्था को प्राप्त करने के लिए तत्पर हुईं, तब आत्माराम भगवान् श्रीकृष्ण ने हँस करके गोपिकाओं के साथ रासक्रीडा की। यह भगवान् योगेश्वरेश्वर हैं—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्[३] ।।

रासपञ्चाध्यायी के प्रारम्भ में श्रीवल्लभाचार्य ने लिखा है कि भजन का आनन्द स्त्रियों में विशेषतया होता है, अतः उनसे पुरुषों में यह भजनानन्द प्रवर्तित होता है। स्त्रियों में भजनानन्द (श्रृङ्गाराद्वैत सुख) प्राप्त करने की सामर्थ्य है, पुनः उनसे पुरुष में होती है। अतः यहाँ भगवान् ने अद्वैत की श्रृङ्गारिणी धारा को प्रवाहित करने के लिए कामिनियों के साथ प्रेम पूर्वक क्रीडा की है—

ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते ।
तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ।।
स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्[४] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्द, पूर्वार्द्ध-२९/४०; २. तत्रैव २९/४१।
३. तत्रैव २९/४२; ४. श्रीमद्भागवत रासपञ्चाध्यायी, सुबोधिनीटीका, पृ.२।

गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये उनके चारों ओर खड़ी हो गयीं। भगवान् ने शृङ्गार के द्वारा अद्वैतोपदेश देते हुए गोपिकाओं को वृन्दावन में यमुना नदी के तट पर ले जाकर विविध शृङ्गारिक चेष्टाओं के द्वारा उनकी इच्छा शक्ति को बढ़ाकर रासलीला की—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार[१] ।।

यहाँ **'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति[२]** । इस श्रुतिवचन के अनुसार भगवान् कृष्ण ही रस अर्थात् शृङ्गार हैं और वही इसके उपादान तथा निमित्त कारण भी हैं। अतः गोपिकाएँ उसी ब्रह्मस्वरूप रस में निष्णात होकर अद्वैत भाव को प्राप्त हो गयीं। यही लीलाकैवल्य है, जिसका उल्लेख महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में किया है—**'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'[३]**। आनन्दमय ब्रह्म में पूर्ण कामभाव विद्यमान है। यद्यपि ब्रह्म की इन लीलाओं के द्वारा कोई विशेष प्रयोजन आचार्य शङ्कर नहीं मानते हैं। यदि कोई सूक्ष्म प्रयोजन हो भी, तो उसे मानना उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म आप्तकाम है—**'यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित्प्रयोजन-मुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवाऽत्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः'[४]**। आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीयपाद के ४० वें सूत्र में ब्रह्मसम्पन्नता को प्राप्त जीव का कामचार वर्णित किया है। गोपिकाओं में इसी कामचार की प्रवृत्ति इस समय देखी जा सकती है[५]। इसे वेदान्त में जीवन्मुक्तावस्था कहा गया है। यहाँ **'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च'[६]** सूत्र के परामर्शानुसार ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के समीप गोपिकाएँ गयीं और उन्हें ग्रहण भी किया। यह प्रतीकोपासना भी कही जा सकती है, क्योंकि प्रतीक रूप श्रीकृष्ण में गोपिकाओं की ब्रह्मदृष्टि उत्कर्ष के लिए हुई—**'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्[७]** ।' इस प्रकार शृङ्गाराद्वैत के द्वारा श्रीकृष्ण रूप ब्रह्म का परम सान्निध्य गोपिकाओं को प्राप्त हुआ। यहाँ गोपिकाएँ जीवन्मुक्त हो गयीं।

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धपूर्वार्द्ध-२९/४६।
२. तैत्तिरीयोपनिषद् २/७/१।
३. ब्रह्मसूत्र २/१/३३।
४. ब्रह्मसूत्र २/१/३३ पर शाङ्करभाष्य, पृ. १०९७।
५. ब्रह्मसूत्र ३/३/४० पर श्रीभाष्य, पृ. १०३२।
६. ब्रह्मसूत्र ४/१/३।
७. तत्रैव ४/१/५।

गोपिकाओं में अहम्भाव की प्रवृत्ति तथा ब्रह्म का तिरोधान

जब श्रीकृष्ण ने रासलीला की, तो गोपिकाओं में अपने रूपादि दाक्षिण्य से अहंभाव की प्रवृत्ति हो गयी। ब्रह्मसूत्र का कथन है कि प्रतीकोपासना में अहंभाव नहीं करना चाहिए[१]। शृङ्गाररसोपगम्य प्रतीकस्वरूपभगवान् श्रीकृष्ण गोपिकाओं में अहंभाव की प्रवृत्ति जानकर स्वयं अन्तर्ध्यान हो गये—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत[२] ।।

श्रीवल्लभाचार्य ने लिखा है कि जब तक जीवात्मा ब्रह्म में प्रपन्नबुद्धि से रहता है, तब तक ही ब्रह्म उससे रमण करता है। ब्रह्म का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, अतः ध्यान का तिरोभाव होने से ब्रह्म भी तिरोहित हो जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के साथ ऐसा ही किया है। यहाँ गोपिकाओं ने अपने को संसार की समस्त स्त्रियों में अत्यधिक सुन्दर स्वीकार किया है—

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि[३] ।

यही गोपिकाओं का अहङ्कार है। जीव जब अहङ्कारी हो जाता है, तो ब्रह्म के सान्निध्य से दूर हट जाता है। इस रहस्य को प्रकट करने के लिए भगवान् अन्तर्ध्यान हो रहे हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने भी इस रहस्य को स्पष्ट किया है[४]।

भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर गोपिकाएँ पीड़ित होने लगीं। उन भगवान् की मनोहर गति, विभ्रमपूर्वक मुस्कान, विलासयुक्त दृष्टि तथा प्रेमालाप आदि लीलाओं से गोपिकाओं के चित्त चुरा लिये गये हैं। जीव को एकबार ब्रह्मानन्द का स्पर्शमात्र हो जाने पर ब्रह्मातिरिक्त संसार के समस्त पदार्थ विस्मृत हो जाते हैं। यही स्थिति गोपी-जन की हो रही है। वे गोपिकाएँ शृङ्गारोचित विरह-ताप से पीड़ित होकर पीपल, प्लक्ष, वट, कुरवक, अशोक, नाग केशर, पुन्नाग, चम्पक, तुलसी तथा मालती से श्रीकृष्ण के विषय में पूँछती हैं[५]। पुनः आम्रादि अनेक वृक्षों से गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के पदचिह्नों को बतलाने का निर्देश कर रही हैं—

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्ववकुलाम्रकदम्बनीपाः।

---

१. ब्रह्मसूत्र ४/१/४।
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध २९/४८।
३. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध २९/४७।
४. आत्मा यावत्प्रपन्नोऽभूत्तावद् वै रमते हरिः।
सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ।। (रासपञ्चाध्यायी-सुबोधिनीटीका, पृ-३)
५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३०/५-८।

येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः[१] ।।

गूढार्थदीपिका में उपर्युक्त पद्य की निवृत्तिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि चूतादि पाँच वृक्ष कर्मेन्द्रिय, जम्ब्वादि पाँच पञ्चप्राण, कदम्ब तथा नीप चित्त और अहङ्कार इसके अतिरिक्त आत्मशेष भूत अन्य विषय हम जैसे विचार-विधुर चित्त वालों के लिए श्रीकृष्ण.के मार्ग (मोक्षपदवी) को बतलायें[२] ।

इस प्रकार गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का अन्वेषण कर रही हैं, जैसे जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् होकर ब्रह्म की खोज करता रहता है। इसमें इस रस रूप श्रीकृष्ण को आत्मसात् करने की स्थिति दृष्टिगत होती है—

सप्तविंशे तिरोधानाल्लीलान्वेषणतत्पराः ।
रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिकेति निरूप्यते[३] ।।

यहाँ गोपिकाओं की उत्कट अभिलाषा अथवा श्रीकृष्ण को जानने की इच्छा प्रबल हो रही है। ब्रह्मसूत्र भी 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[४] कह कर जीव में ब्रह्म विषयिणी जिज्ञासा का प्रामुख्य निरूपण करता है। गोपिकाएँ हरिणियों से पूछती हैं कि अप्रतिम सौन्दर्यशील भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया के साथ तुम्हारे नेत्रों को आनन्द प्रदान करते हुए कहीं इधर से तो नहीं गये हैं। प्रियतमा के कुच-कुङ्कुम से रञ्जित कुन्द पुष्पों की माला को धारण करने वाले कुलपति श्रीकृष्ण के शरीर की सुगन्ध यहाँ प्रवाहित हो रही है—

अप्येषपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृत्तिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः[५] ।।

इस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार के माध्यम से व्यास जी ने गोपिकाओं की श्रीकृष्णविषयक प्रबल जिज्ञासा दिखलाकर श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः[६] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध ३०/९;
२. तत्रैव ३०/९ पर गूढार्थदीपिका टीका।
३. रासपञ्चाध्यायी-सुबोधिनी टीका, पृ. १७४ ।
४. ब्रह्मसूत्र १/१/१ ।
५. श्रीमद्भागवत-दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३०/११ ।
६. तत्रैव ३०/१४ ।

यह जीव की अवस्था है, जिसमें ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उसकी कातरावस्था का निरूपण किया गया है। तादात्म्य सम्बन्ध होने पर ही **'अहं ब्रह्मास्मि'** और **'तत्त्वमसि'** वाक्यों की सम्पुष्टि होती है। गोपिकाओं को भी 'अहं कृष्णः' अथवा 'वयं कृष्णाः' की प्रतीति हो रही है। ऐसी प्रतीति होने पर गोपिकाएँ कृष्णवत् लीलाएँ करने लगीं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** की अवधारणा गोपिकाओं में जाग्रत हो गयी है। भागवत में कई श्लोकों के माध्यम से गोपिकाओं का श्रीकृष्णलीलानुकरण वर्णित है।[1] कोई गोपिका अपने को श्रीकृष्ण जानकर अन्य गोपी के गले में भुजाएँ डालकर कहने लगीं कि मैं श्रीकृष्ण हूँ, मेरी ललित गति का अवलोकन करो—

कस्याञ्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः[2] ।।

भगवान् श्रीकृष्ण किसी प्रिया के साथ गये हैं, ऐसा भागवतकार ने उल्लेख किया है[3]। यह प्रियतमा अन्य कोई नहीं है। यह तो ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति माया है। गोपिकाएँ शृङ्गाराद्वैत के माध्यम से उस गुप्त प्रिया के साथ श्रीकृष्ण की कामुक क्रियाओं का वर्णन करती हैं[4]। प्रेयसी-वहन, पुष्पावचय, केशप्रसाधन तथा रमण आदि क्रियाएँ माया के साथ ब्रह्म की सङ्गति जैसी है। भागवतकार ने स्वयं लिखा है—

लीलां विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया[5] ।

भगवान् श्रीकृष्ण अखण्डित अर्थात् पूर्णकाम, आत्माराम तथा आत्मरत हैं, तथापि कामियों की दीनता और रमणियों की दुरात्मता (कुटिलता) को दिखलाते हुए कृष्ण ने उस गुप्त प्रेमिका के साथ रमण किया—

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्[6] ।।

भगवान् श्रीकृष्ण रमणियों के विलास से आकर्षित नहीं हुए ऐसा श्रीधरस्वामी लिखते हैं—**'अखण्डितः स्त्रीविभ्रमैरनाकृष्टोऽपि[7]'**। यह रमण भी सामान्य लौकिक

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३०/१५-२३। २. तत्रैव ३०/१९।
३. अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः। यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः।।
(श्रीमद्भागवत-दशम-पूर्वार्द्ध ३०/२८)।
४. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध-३०/३०-३४।
५. तत्रैव प्रथमस्कन्ध १/१८। ६. तत्रैव-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३०/३५।
७. तत्रैव ३०/३५ पर श्रीधरी टीका।

रमण नहीं है। **'एकाकी न रेमे', 'सोऽकामयत'** ऐसा श्रुति भी कहती है। ब्रह्म जड़ नहीं है, अतः उसमें इच्छाशक्ति का अभाव भी नहीं है। जैसा कि ब्रह्मसूत्रकार कहते है—**'कामाच्च नानुमानापेक्षा'**[1]। श्रीकृष्ण का यह रमण आरम्भरमण है अथवा पूर्णकाम का रमण है, जहाँ वासना का किञ्चिदन्मात्र अभिनिवेश नहीं है।

भगवान् का उक्त गोपी में रमणाभिनिवेश देखकर वह गोपी अपने को रमणियों में श्रेष्ठ मानकर साभिमानवती हो गयी और बोली कि हे प्रियतम मैं आगे नहीं चल सकती, क्योंकि मैं परिश्रान्त हो गयी हूँ, तुम मुझे अपने कन्धों पर बैठाकर ले चलो। श्रीकृष्ण ने उससे कहा कि तुम मेरे कन्धे पर चढो। जैसे ही वह गोपी कन्धों पर चढ़ने के लिए उद्यत हुई, तभी भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान हो गये[2]। इस प्रकार पुनः भगवान् ने अभिमानिनी गोपी को अपने से दूर किया। ऐसा सन्देश यहाँ परिलक्षित होता है।

गोपिकाओं की इस उत्कट जिज्ञासा के वर्णन के पश्चात् व्यास जी ने गोपिकाओं के तादात्म्य भाव तथा ध्यान का समुल्लेख किया है। गोपिकाएँ यमुना के पुलिन पर आकर समवेत (सावधान) होकर श्रीकृष्ण में मन, वाणी, चेष्टा से आत्मनिवेश करके उनके गुणों को गाती हुई अपने घरों का स्मरण नहीं करती थीं, वे कृष्ण के प्रति ध्यान और उनके आगमन की प्रतीक्षा करने लगीं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः[3] **॥**

यहाँ जीव के द्वारा विहित उपासना का चित्रण किया गया है। जैसे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जीव आसन, ध्यान, स्मरण तथा भावना करता है। उसी प्रकार गोपिकाएँ भी दर्शन, श्रवण तथा मनन के पश्चात् निदिध्यासन में निपुण हो रही हैं। ब्रह्मसूत्र में भी लिखा है—

आदित्यादिमतयश्च अङ्ग उपपत्तेः आसीनः सम्भवाद् ध्यानाच्च[4] **।**

यहाँ जीव ब्रह्मोपासना में उद्गीथ आदि कर्माङ्ग भी आते हैं। इनमें आदित्य की बुद्धि से प्रवृत्त होना जीव का धर्म है, जैसे आदित्य तपता है, वैसे ही शरीर को

---

१. ब्रह्मसूत्र १/१/१८
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध-३०/३६-३९।
३. तत्रैव ३०/४४-४५।
४. ब्रह्मसूत्र ४/१/६-८।

एकाग्र करके उद्गीथ का उपासन अभीष्ट है। उपनिषद् में भी यही बात कही गयी है—**य एवाऽसौ तपति तमुद्गीथमुपासीत**[१] । **लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत**[२] । **वाचि सप्तविधं सामोपासीत**[३] । भागवतकार भी यहाँ गोपिकाओं का आदित्य रूप श्रीकृष्ण की उद्गीथोपासना का प्रकार बतलाते हैं। श्रीमद्भागवत के रासपञ्चाध्यायी के तीसरे अध्याय में गोपिकागीत का समुल्लेख है। यह गोपिकागीत ही उद्गीथ अथवा साम है, जिसका गान करके आसनस्थ गोपिकाओं ने ध्यान के द्वारा श्रीकृष्णरूप ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर रही हैं। गोपिकागीत के प्रथम श्लोक में ही ध्यान का विचित्र वर्णन है—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते[४] ।।

गोपिकाओं ने अपने प्राणों को श्रीकृष्ण में रखकर उन्हें खोज रही हैं। यहाँ शृङ्गार के माध्यम से ध्यान की पराकाष्ठा दिखलायी गयी है। इस श्लोक की व्याख्या एक हस्तलिखित नामरहित पुस्तक में लिखी है—

'इदानीं तु तत्साक्षात्कारप्रतिबन्धनजातनिराकरणाय सम्बन्धसामान्येनापि यथाकथञ्चिद् हृदि संलग्नापि किमुत बाह्याभिमतदैहिकव्यवहारविषयीकृताः स्वेच्छाप्रधानाः सच्चिदानन्दलक्षणा अनन्तदिव्यकल्याणगुणराशिभरिताः शृङ्गाराद्वैतशास्त्रयोर्यथेष्टविहरणायाऽसाधारणविशालदिव्यभूमिका यस्य यस्य सुकृतिप्राणिविशेषस्य येन येन सम्बन्धविशेषणसम्बद्धास्तस्य तस्यैव तत्तत्सम्बन्धविशेषवतां शिरोमणित्वं चाभिव्यञ्जयन्ति'[५]। यह व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है, केवल यही शृङ्गाराद्वैतशास्त्र को प्रमाणित करने के लिए दिङ्मात्र निर्देश किया गया है। गोपिकाओं के द्वारा इस गीत में बारम्बार **'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्'**[६] **'कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्'**[७] **'अधरसीधुनाऽऽप्यायस्व नः'**[८] **रमण नः स्तनेष्वपर्ययाधिहन्'**[९] इत्यादि के द्वारा शृङ्गार का कीर्तन किया गया है। परन्तु यह शृङ्गार अद्वैत में ही परिणत हो जाता है; क्योंकि भगवान् कृष्ण की कथाएँ अमृत हैं, कल्मष को दूर करने वाली हैं। श्रवणमात्र से मङ्गल तथा कल्याणदायिनी हैं—

---

१. छान्दोग्योपनिषद् १/३/१; २. तत्रैव २/२/१।
३. तत्रैव २/८/१।
४. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३१/१ ।
५. 'जयति तेऽधिकं' इत्यादि श्लोक की व्याख्या पाण्डुलिपि Acc. No- ५५५४ अखिलभारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, पृ. १।
६. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३१/५; ७. तत्रैव ३१/७।
८. तत्रैव ३१/८; ९. तत्रैव ३१/१३।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदायतं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः[1] ।।

गोपिका-गीत के माध्यम से गोपिकाओं ने ध्यानोपासना की है, जिसका सङ्केत प्राप्त होता है—**'विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्'**[2], **प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि'**[3] इत्यादि से ध्यान विदित होता है।

गोपिकाओं की श्रीकृष्णरूपी ब्रह्म में ध्रुवा स्मृति

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'[4] इस वचन के अनुसार आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है और सत्त्व की शुद्धि होने पर ध्रुवा स्मृति प्रकट होती है। गोपिकाओं में श्रीकृष्ण के प्रति ध्रुवा स्मृति है। गोपिकागीत में वे बार-बार श्रीकृष्ण का स्मरण करती हैं—

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृत्तम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि[5] ।।

ब्रह्मसूत्र में भी निर्दिष्ट है कि पृथ्वी आदि की ध्रुवता को देखकर उपासना में ध्रुव स्मरण होना चाहिए—**अचलत्वञ्चापेक्ष्य । स्मरन्ति च**[6] । इस प्रकार गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का स्मरण करती हुईं उनका गान करती हुईं उनके दर्शन की इच्छा से रोने लगीं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रया ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः[7] ।।

रुदन करना गोपिकाओं के द्वारा दैन्य-प्रदर्शन है। भगवान् ज्ञान आदि साधन सम्पत्तियों से उतना प्रसन्न नहीं होते हैं, जितना कि भक्तों के दैन्य से प्रसन्न होते हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में इसे स्पष्टतया कहा है—

नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्[8] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-३१/९ ।
२. तत्रैव ३१/१० ।
३. तत्रैव ३१/११ ।
४. श्रीभाष्य-पृ. २१ ।
५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३१/१२ ।
६. ब्रह्मसूत्र ४/१/९-१० ।
७. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध ३२/१ ।
८. तत्रैव-सुबोधिनी टीका कारिका-२ ।

यहाँ गोपिकाओं ने निःसाधनभाववश भगवान् अथवा ब्रह्म के विरह में जो रोदन किया है, उससे उनका सामीप्य प्राप्त हो गया, क्योंकि भगवान् इस दैन्यभाव पर अधिक प्रसन्न होते हैं। शृङ्गार के विभावानुभाव आदि द्वारा वर्णित गोपिकाओं के दैन्य में उनकी एकाग्रता भी परिलक्षित हो रही है। ब्रह्मसूत्र में 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्'[१] सूत्र कदाचित् ऐसी अवस्था का ही समुल्लेख करता है। गोपिकाओं को श्रीकृष्ण में ही मन की एकाग्रता हो रही है, अतः वही देश, काल आदि की दृष्टि से उपासना योग्य है। गोपिकाओं की यह उपासना मरण पर्यन्त होती रहेगी। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम कभी अक्षुण्ण नहीं हुआ। गोपिकाओं ने कहा था—

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते[२] ।

ब्रह्मसूत्र में भी **'आ प्रापणात्तत्रापि हि दृष्टम्'**[३] इस सूत्र के द्वारा प्रयाण पर्यन्त समुपासना को बतलाया गया है। गोपिकाओं के द्वारा शृङ्गाराद्वैत से ब्रह्मोपासना प्रयाण पर्यन्त कही गयी है, इसका प्रमाण प्राप्त होता है।

गोपिकाओं के समक्ष श्रीकृष्ण का प्राकट्य अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार

गोपिकाओं की इस उद्गीथोपासना, भक्ति, प्रपत्ति तथा दैन्यभाव से भगवान् श्रीकृष्ण गोपिकाओं के समक्ष प्रकट हुए। वे पीताम्बरधारी, कामदेव के लिए भी कामदेव, हार धारण किये हुए तथा मुस्कराते मुख से शोभित थे—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः[४] ।।

गोपियों ने अत्यन्त प्रेम और भक्ति से श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शन किये। किसी ने मुखाम्बुज को देखकर तृप्ति प्राप्त की, किसी ने भगवान् के हाथों को अपनी भुजाओं अथवा हाथों से पकड़ लिया। किसी ने उनके चर्बित ताम्बूल को अपने हाथों में ले लिया और कोई गोपिका उनके चरण-कमल अपने स्तनों पर रखने लगीं। गोपिकाएँ भगवान् कृष्ण को अपने नेत्ररन्ध्र के द्वारा हृदय में स्थित करके आँखें मूँद कर पुलकायमान हो गयीं। उनमें योगियों के समान आनन्द की सम्प्राप्ति हो गयी—

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुताः[५] ।।

---

१. ब्रह्मसूत्र ४/१/११।
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-२९/३५।
३. ब्रह्मसूत्र ४/१/१२; ४. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध-३२/२।
५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३२/८।

भगवान् अच्युत इन गोपिकाओं से आवृत्त होकर उसी प्रकार शोभायमान होने लगे, जैसे ज्ञानादि शक्तियों से पुरुष (ब्रह्म) अलङ्कृत होता है[१]। श्रीकृष्ण इन गोपिकाओं को यमुना तट पर ले गये, जहाँ शृङ्गारानुकूल उद्दीपन विभावादि विद्यमान थे। भगवान् के साक्षात्कार से गोपिकाओं के जन्म-जन्मान्तर के पाप अर्थात् पूर्वाघ तथा भगवत्साक्षात्कार के बाद कामादि जन्य पाप अर्थात् उत्तराघ दोनों नष्ट हो गये। जैसा कि भागवतकार ने कहा है—

तद्दर्शनाह्लादविधुतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे[२] ।।

गोपिकाओं के समस्त मनोरथपूर्ण हो गये है और उन्होंने भगवान् के लिए स्तनों की कुङ्कुम से रञ्जित अपने उत्तरीय वस्त्रों को ही आसन बना दिया। बड़े-बड़े योगी जिनके लिए अपने हृदय में आसन देते हैं, वही भगवान् गोपिकाओं के उत्तरीय पर बैठ गये[३]। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मसाक्षात्कार में पूर्वाघ तथा उत्तराघ के विनाश को स्वीकार किया गया है—**'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यदेशात्'**[४]।

गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का दर्शन करके आत्माराम तथा आप्तकाम हो गयी हैं[५]। उनके अन्तर्गत श्रीकृष्ण-दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाष नहीं है। इस समय गोपिकाओं के लोकजन्य तथा वेदजन्य पुण्यों का भी विनाश हो चुका है। वे गोपिकाएँ केवल श्रीकृष्ण में ही अनुवृत्त हैं, जैसा कि भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः[६] ।।

यहाँ गोपिकाओं के पूर्व और उत्तर पुण्यों का असम्बन्ध और विनाश दिखलाया गया है। ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है कि ब्रह्मविद् के पूर्व और उत्तर पुण्यों का नाश होता है—**'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु'**[७]। सञ्चित पुण्य और पाप भी नष्ट हो जाते हैं—**'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'**[८]। गोपिकाओं की अवस्था एक

---

१. ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ।।(श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-३२/१०)

२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३२/१३ ।

३. तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
(श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३२/१४)

४. ब्रह्मसूत्र ४/१/१३;

५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३२/१९ ।

६. तत्रैव ३२/२१;

७. ब्रह्मसूत्र ४/१/१४ ।

८. तत्रैव ४/१/१५ ।

ब्रह्मविद् के समान हो गयी है, वे अपनी गृहशृङ्खलाओं को तोड़ कर भगवान् का निरवद्य संयोग प्राप्त कर रही हैं। जैसा कि स्वयं श्रीकृष्ण की उक्ति है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुसापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना[1] ।।

इस प्रकार भगवत्साक्षात्कार से गोपिकाएँ योगियों के समान मुमुक्षु हो गयीं। पूर्वजन्म और इस जन्म के पुण्य-पापों का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में रासोत्सव प्रवृत्त हुआ, जो शृङ्गाराद्वैत के नाम से यहाँ प्रथित है।

महारास में शृङ्गाराद्वैत और गोपी-सायुज्य

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के साथ तब महारास किया, जब वे पूर्णतया भक्ति, प्रपत्ति तथा प्रेमानुरक्ति से भगवत्परायण हो गयीं। महारास में शृङ्गाराद्वैत का रहस्य वही समझ सकता है, जिसमें शृङ्गाराद्वैत विद्या का विनियोग हो, जहाँ कामनाएँ परावृत्त हो चुकी हों। चतुर तपस्वी भी इस रहस्य का वेत्ता नहीं हो सकता। यदि वह विद्वान् नहीं है अथवा महारासविषयक तत्त्वज्ञान से रहित है। इस सन्दर्भ में शाङ्करभाष्य में उद्धृत एक श्लोक प्रमाण हो सकता है—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः[2] ।।

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ गोपिकाओं ने मण्डल बनाकर रासोत्सव प्रारम्भ किया, उस समय दो-दो गोपिकाओं के मध्य एक-एक श्रीकृष्ण प्रवृत्त हुए—

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः[3] ।।

यहाँ पर जगत् सहित जीव तथा ब्रह्म इन तीन की सत्ता दिखलायी गयी है। इन्हीं से संसार की सृष्टि होती है। ब्रह्म उसका कारण है। यह महारास संसार का तात्त्विक निदर्शन है। दो गोपियाँ जगत् और जीव की प्रतीति कराती हैं तथा श्रीकृष्ण ब्रह्म के द्योतक हैं। इस रासोत्सव में प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होने वाले शृङ्गाराद्वैत के रहस्य को समझने के लिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सुन्दर पंख वाले, सदा साथ रहने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं, उनमें एक पिप्पल के स्वादु फल को भोगता है और दूसरा केवल देखता अथवा प्रेरणा देता है—

---

१. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३२/२२।
२. ब्रह्मसूत्र ३/३/५२ पर शाङ्करभाष्य, पृ. २१०४।
३. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध-३३/३।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[1] ।।

यहाँ पर भी तीन तत्त्व बतलाये गये हैं—दो पक्षी और एक वृक्ष । विशिष्टाद्वैत के भी चित्, अविद् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों का अभिनिवेश है । अतः रासक्रीडा में भी दो गोपियाँ और एक कृष्ण इसी तथ्य का द्योतन करते हैं । गोपिकाओं के कंगन, नूपुर तथा किङ्किणी से उठने वाला अनाहत नादबिन्दु रूप श्रीकृष्ण को सुशोभित कर देता है—जैसे स्वर्णमणियों के मध्य में महामरकत विभूषित होता है—

बलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ।।
तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा[2] ।।

गोपिकाओं के शृङ्गारजन्य अनुभाव विगलितवेद्यान्तरजन्य आह्लाद है । वे श्रीकृष्ण में उसी प्रकार लीन हो जाती हैं, जैसे मेघों के समूह में विद्युत प्रलीयमान हो जाती है । गोपिकाओं के पाद विक्षेप, भुजाओं का दोलन, मुस्कराहट से युक्त भ्रूविलास, कटि की वक्रता, स्तनों का हिलना, कुण्डलों का कपोलों पर चञ्चल होना, मुख पर प्रस्वेद बिन्दु, केशपाश और नीबी की ग्रन्थि का विमोच होना और गीत-गान इत्यादि जहाँ शृङ्गाररस को पुष्ट करते हैं, वहीं कृष्ण में अद्वैतभाव की भी सम्पुष्टि होती है; क्योंकि अद्वैतावस्था में भी जीव के अन्तर्गत ऐसे विकार हो सकते हैं । भागवतकार का वर्णन इस प्रकार है—

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः[3] ।।

इसी प्रकार भागवतकार ने अनेकविध गोपिकाओं के चेष्टित वर्णित किये हैं । चुम्बन, आलिङ्गन, ताम्बूलचर्वण, स्तनमर्दन तथा गायन और नर्तन आदि शृङ्गारोचित्त क्रिया-कलापों का यहाँ भागवतकार ने विस्तृत वर्णन किया है[4] ।

परन्तु यहाँ लौकिक शृङ्गार की कणिका मात्र भी विद्यमान नहीं है । रामानुजाचार्य ने मुक्त पुरुषों के लीला रस भोग को स्वीकार किया है । ईश्वर के द्वारा सृष्ट रथादि

---

१. मुण्डकोपनिषद् ३/१/१; २. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/६-७ ।
३. तत्रैव ३३/८; ४. तत्रैव ३३/९-१५ ।

उपकरणों को जीव भोगता है, उसी प्रकार से मुक्त पुरुष भी लीला में प्रवृत्त ईश्वर के द्वारा सृष्ट पितृलोकादि से लीलारसं का भोग करता है—

ईश्वरसृष्टैः रथाद्युपकरणैर्जीवो भुङ्क्ते तथा मुक्तोऽपि लीला-प्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भुङ्क्ते[१] ।

यहाँ गोपिकाएँ भी लीलाप्रवृत्त ईश्वर के द्वारा सृष्ट रासक्रीडा में शृङ्गार-लीला रस का भोग कर रही हैं। श्रीकृष्ण के प्रथम साक्षात्कार से ही गोपियाँ मुक्त हो गयी थीं। यहाँ पुनः भगवान् श्रीकृष्ण अपने को गोपिकाओं की सङ्ख्या तुल्य करके आत्मरमण करते हैं। जैसा कि भागवत में लिखा है—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया[२] ।।

इस प्रकार यहाँ रास में एक गोपी और एक कृष्ण होकर जीव तथा ब्रह्म की लीला का निदर्शन है। जीव तथा ब्रह्म यहाँ दोनों भोक्ता प्रतीत हो रहे हैं। श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः[३] ।

ब्रह्मसूत्र में भी यही तथ्य स्पष्ट किया गया है—**'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'**[४]। भगवान् श्रीकृष्ण की लीला अनुपम थी। आलिङ्गन, कराभिमर्श, स्निग्ध दृष्टि तथा प्रचण्ड विलास-हास से श्रीकृष्ण ने व्रजसुन्दरियों के साथ उसी प्रकार रमण किया, जैसे कोई बच्चा अपने प्रतिबिम्ब के साथ विभ्रमपूर्वक क्रीड़ा करता है—

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः[५] ।।

श्रीकृष्ण का गोपिकोपभोग कामोपभोग नहीं है; क्योंकि जैसे बालक अपनी परछाईं के साथ खेलता है, उसी प्रकार आत्माराम कृष्ण गोपिकाओं के साथ खेल रहे हैं। गोपिकाएँ श्रीकृष्ण की प्रतिबिम्बभूता हैं। जीव प्रकारान्तर से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही स्वीकार किया जा सकता है। शृङ्गाराद्वैत से ब्रह्मप्राप्ति एक सगुणोपासना है, जिसे निर्गुण ब्रह्म का उपासक नहीं समझ सकता है। सगुण ब्रह्मोपासना में ही लीलारस का

---

१. श्रीभाष्य ४/४/१३, पृ. ११९९; २. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/२०।
३. कठोपनिषद् १/३/१; ४. ब्रह्मसूत्र १/२/११।
५. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/१७।

भोग होता है, निर्गुण ब्रह्म की उपासना में नहीं। बादरायण ने **'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह'**[१] इत्यादि सूत्र के द्वारा इसी तथ्य को व्यक्त किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के अङ्गों के स्पर्श से जनित, आनन्द के द्वारा विमुग्ध इन्द्रियों वाली गोपियों ने केश, दुकूल, कुचपट्टिका, वस्त्राभरण तथा हारादि को अस्त-व्यस्त कर लिया—

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुतेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं ब्रजस्त्रियो विस्त्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह[२] ॥

व्यास ने यहाँ गोपियों को हथिनी तथा श्रीकृष्ण को हाथी कहकर उनकी रति-क्रीडा का वर्णन किया है—**'श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः'**[३] **'रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः'**[४] **'यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः'**[५]। शृङ्गारिक पक्ष में ऐसा वर्णन गोपिकाओं के विराट् यौवन तथा श्रीकृष्ण के उद्दाम और दुर्धर्ष बल का प्रतीक है। परन्तु गज की उपमा से तत्कालीन संसार के सबसे बड़े प्राणी के रूप में जीव और ब्रह्म की लीला का प्रख्यापन है। वे भगवान् सत्यकाम हैं। इनकी लीला में लौकिक कामभाव का लेशमात्र स्थान नहीं है। महारास की रात्रियाँ भी साधारण नहीं थीं। शरत्काव्य की कथाओं में जो भी रस होते हैं, वे सभी वहाँ विद्यमान थे—

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः[६] ॥

ब्रह्मसूत्र के **'उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्'**[७] सूत्र में आचार्य रामानुज मुक्तपुरुष का कामचार बतलाते हैं—**'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति..............'। अतः सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वात्। मुमुक्षोः सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः**[८]। इस कथन के द्वारा भी ईश्वर की यह रासलीला मुक्त गोपियों के कामचार को प्रकट करती है। गोपिकाओं में शृङ्गार के द्वारा ब्रह्मद्वैत की सम्प्राप्ति हुई है। अतः इस रहस्य को शृङ्गाराद्वैत दर्शन कहना सर्वथा उपयुक्त है। इस लीलोपभोग में कर्मबन्धन है ही नहीं। भगवान् के चरणकमलों के पराग-सेवन तथा योग के प्रभाव से कर्मबन्धनों को नष्ट करके मुनिगण स्वच्छन्द विचरण करते हैं, कर्म के बन्धन में नहीं पड़ते हैं। भक्तों की इच्छा से अपने शरीर को प्रकट करने वाले भगवान् में कर्म का बन्धन कैसे हो सकता है—

---

१. ब्रह्मसूत्र ४/४/१९; २. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३३/१८।
३. तत्रैव ३३/२३; ४. तत्रैव ३३/२४।
५. तत्रैव ३३/२५; ६. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/२६।
७. ब्रह्मसूत्र ३/३/४०; ८. ब्रह्मसूत्र ३/३/४० पर श्रीभाष्य, पृ. १०३२।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः[१] ।।

इस प्रकार क्रीडा अथवा लीलाजन्य कर्मबन्धन न तो गोपिकाओं को प्राप्त हुआ और न श्रीकृष्ण को। जैसा प्रेम गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण से किया था, उसी तरह का प्रेम यदि कोई जीव शृङ्गार के द्वारा भी निःछल और निष्काम भाव से करता है, तो निश्चय ही उसे ब्रह्माद्वैत की प्राप्ति होती है। रासक्रीडा का उद्देश्य जीव को ब्रह्मोन्मुख करना है; क्योंकि ईश्वर प्राणियों के अनुग्रह के लिए मनुष्य शरीर धारण करता है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्[२] ।।

भगवान् की कैसी माया थी कि गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का सामीप्य प्राप्त कर रही थीं, जब कि गोपगण ब्रज में अपनी-अपनी गोपिकाओं के साथ ही थे[३] । महारास के समाप्त होने पर गोपिकाएँ अपने-अपने घर केवल शरीर से ही गयीं। मन तथा आत्मा तो भगवान् में ही अनुरक्त थी और यही मोक्षावस्था है; क्योंकि वे भगवान् कृष्ण को अत्यन्त प्रिय थीं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः[४] ।।

भागवत का एकमात्र प्रयोजन कैवल्य है। अतः रासलीला भी कैवल्यप्राप्ति का साधन स्वीकार की जानी चाहिए, जो शृङ्गाराद्वैत सिद्धान्त से सम्भव है। भागवत वेदान्त का सारसर्वस्व, ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का प्रतिपादक, ब्रह्मनिष्ठ और एकमात्र मोक्ष का प्रयोजक है—

सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्[५] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध ३३/३५ ।
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३३/३७ ।
३. तत्रैव ३३/३८;
४. तत्रैव ३३/३९ ।
५. तत्रैव १२/१३/१२ ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत की रासपञ्चाध्यायी में शृङ्गाराद्वैत के विमर्श से उसके रहस्य का प्रख्यापन होता है और ब्रह्मसूत्र की तथाविध व्याख्या करने पर सगुण ब्रह्म की उपासना का सरल मार्ग इसके द्वारा उन्मीलित किया जा सकता है। कितने ही भक्ति तथा प्रपत्ति या प्रेम के माध्यम से उपासना करके उस परमतत्त्व का साक्षात्कार किया, उनमें यह शृङ्गाराद्वैत विशेषतया सगुण ब्रह्म की उपासना के पथ को प्रशस्त करता है। गोपिकाओं ने काम या शृङ्गार से श्रीकृष्ण की उपासना की है[१], अत: यह शृङ्गारात्मविद्या है।

रास-क्रीडा के आक्षेप का समाधान

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ गोपिकाओं की रासक्रीडा पर कतिपय जन आक्षेप करते हैं कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष जो धर्म के अवतार स्वीकार किये जाते हैं, उन्होंने ऐसा जुगुप्सित और धर्मविरुद्ध कार्य क्यों किया ? इस सन्दर्भ में श्रीकृष्ण भगवान् पर प्राय: बुद्धिवादी जन आक्षेप किया करते हैं। स्वयं भागवतकार ने राजा परीक्षित के मुख से ऐसा संशयात्मक प्रश्न करवाया है। राजा परीक्षित शुकदेव जी से पूछते हैं कि जो जगदीश्वर ब्रह्म के अंश से अवतीर्ण हुए हैं, धर्म की संस्थापना और अधर्म के नाश के लिए उनका अवतरण हुआ है, धर्मसेतु के उपदेशक, कर्त्ता तथा रक्षक हैं, ऐसे श्रीकृष्ण ने यह परस्त्रीरमण जैसा प्रतिकूल आचरण क्यों किया ? भगवान् श्रीकृष्ण तो आप्तकाम हैं, उन्होंने ऐसा जुगुप्सित कृत्य क्यों किया?—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्।
आत्मकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत[२] ।।

भगवान् शुकदेव ने इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुए भागवत में कहा है कि जो ईश्वर अर्थात् सर्वसामर्थ्यवान् है, वे धर्म का व्यतिक्रम भी करते हैं; क्योंकि यह उनका साहस है। अग्नि जैसे सभी पदार्थों को जला देती है, उसे कोई दोष नहीं होता है, वैसे ही तेजस्वी ईश्वर को भी ऐसा दोष नहीं होता है—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा[३] ।।

---

१. गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वैषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।। (श्रीमद्भागवत ७/१/६०)
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३३/२७-२९; ३. तत्रैव-३३/३०।

ईश्वर को इस प्रकार के धर्मव्यतिक्रम का दोष नहीं है, यदि ईश्वरातिरिक्त अन्य व्यक्ति मन से भी ऐसा आचरण करता है, तो वह अपनी मूर्खता वश नष्ट हो जाता है। जैसे रुद्र देवता के अतिरिक्त यदि कोई विषपान कर ले, तो मृत्प्रगामी हो जाता है[1]।

ऐसे सामर्थ्यवान् व्यक्ति निरहङ्कारी होते हैं, उनके शुभाचरण से कोई उनका स्वार्थ नहीं होता है और अशुभाचरण से कोई अनर्थ नहीं होता है। जो श्रीकृष्ण तिर्यक्, मनुष्य तथा देवता आदि सभी के शासक हैं, ऐसे महापुरुष से शुभाशुभ का सम्बन्ध कैसे व्यक्त किया जा सकता है[2]। अतः ऐसे गोपीरमण तथा रासक्रीडा से प्रभु पर आक्षेप करना व्यर्थ है। ऐसे महापुरुषों के उपदेश का ही आचरण करना चाहिए, लीलाओं का नहीं—

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्[3]॥

भगवान् कृष्ण का रास शृङ्गार के माध्यम से ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध को बतलाने वाला अद्वैत शास्त्र है, जिसमें भक्ति तथा प्रपत्ति और भाव की महिमा का निरूपण है। भागवतकार स्वयं लिखते हैं कि **'रेमे तथा चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः'**[4]। यहाँ स्त्री के विभ्रम से अनाकृष्ट होकर भगवान् स्वतः सन्तुष्ट हो रहे हैं। श्रीधराचार्य का ऐसा ही मत है[5]। रासलीला का प्रयोजन कामियों को दैन्य का दर्शन कराना तथा स्त्रियों की दुष्टता को बतलाना ही है—

कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्[6]।

यहाँ प्रायः सभी टीकाकार निवृत्तिपरक व्याख्या ही करते हैं। राघव ने लिखा है—**'दैन्यं तत्पारवश्यात्मकं स्त्रीणां दौर्जन्यं दर्शयितुम्'**[7]। गूढार्थदीपिका टीका में लिखा है कि—**'लोकोपदेशार्थमेव विडम्बनं चकार। कामिनस्त्वेवमेवातिदीना भवन्ति दैन्येन चैवमेव विरोधं प्राप्नुवन्तीत्युपदिशंस्तेषामनुकरणं कृतवानिति। तथा स्त्रीणां दुरात्मतां दौष्ट्यं दर्शयन्। वशीकृतपुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्तीति.........तथा च कामवशैः स्त्रीवशैश्च न भाव्यमिति लोकान् शिक्षयामासेति भावः'**[1]।

---

१. नैतत् समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्। (श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध-३३/३१)
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/३३-३४।
३. तत्रैव-३३/३२; ४. तत्रैव ३०/३५।
५. तत्रैव ३०/३५ पर श्रीधरी टीका; ६. तत्रैव ३०/३५।
७. तत्रैव ३०/३५ पर राघवीय टीका;

आचार्य वल्लभ भी इसकी व्याख्या में लिखते हैं—**"वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति' शालावृकानां हृदयानि एताः**[१]। स्त्रियों के हृदय भेड़ियों जैसे होते है, ऐसी ऋग्वेदीय उक्ति का आश्रय लेकर सुबोधिनीकार ने भी रास-लीला का प्रयोजन काम की निवृत्ति बतलाया है। ग्राम्यसुख के अनुवदन हेतु हरि-लीला है, ऐसी बुद्धि करना कदाचित् उचित नहीं है[३]। श्रीमद्भागवत में अनेकत्र काम की निन्दा की गयी है[४]। अतः भागवत का प्रयोजन काम से विरक्ति है। श्रीकृष्ण की रास-लीला मनुष्य को शृङ्गाराकृष्ट करके काम की निवृत्तिपूर्वक अद्वैत की बोधिका है। मनुष्य जब तक पूर्णतया काम सुख को भोग नहीं लेता, तब तक उसमें वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती है—

अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पुरुषः[५]।

सांसारिक विषयों की तीक्ष्णता मनुष्य तब तक नहीं जानता, जब तक इसका अनुभव नहीं करता है। तीक्ष्णता को जानकर उसे विषयादि से निर्वेद हो जाता है—

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः[६]॥

इस प्रकार भागवतीय रास-क्रीडा का प्रयोजन कामोपभोग नहीं है। इसी लिए रासपञ्चाध्यायी की फलश्रुति में कहा गया है कि भगवान् के साथ व्रजाङ्गनाओं का यह क्रीडन श्रद्धान्वित होकर जो सुनता है या वर्णन करता है, वह भगवान् में परम भक्ति को प्राप्त करके हृदय के रोग अर्थात् काम को नष्ट कर देता है—

विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः[७]॥

अतः यह रास-पञ्चाध्यायी शृङ्गाराद्वैत की सरणि से ब्रह्मप्राप्ति का साधन है और इसमें एतत्सिद्धान्त का सुष्ठु विनिवेश हुआ है।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध- ३०/३५ पर गूढार्थदीपिका टीका।
२. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३०/३५ पर सुबोधिनी टीका।
३. श्रीमद्भागवत-तृतीयस्कन्ध-५.१२।
४. श्रीमद्भागवत ९/१०/११, ९/११/१७, ११/६/२३।
५. श्रीमद्भागवत ९/१८/४०; ६. श्रीमद्भागवत ६/५/४१।
७. श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्ध ३३/४०।

वर्णाश्रम धर्म की रूपरेखा भागवत में

डॉ. (श्रीमती) सुधा गुप्ता

❁❁❁

अभ्युदय और निःश्रेयसद्व्यर्थक सिद्धि का एकमात्र साधन—'धर्म' समग्र विश्व का आधार है। सम्भवतः भगवान् वेदव्यास जी द्वारा इसीलिए श्रीमद्भागवत महापुराण का आरम्भ **'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो'** के साथ और अध्यायावसान **'धर्मः कं शरणं गतः'** के साथ धर्म-चिन्ता में ही किया गया। इतना ही नहीं मानव धर्म, स्त्रीधर्म, यतिधर्म, मोक्षधर्म, कुलधर्म व राजधर्मादि अन्यान्य भागवतीय धर्मचर्चा के मध्य वर्णाश्रम धर्म की रूपरेखा स्पष्ट करने वाले सप्तम स्कन्ध के एकादश अध्याय में धर्मराज युधिष्ठिर जी भी प्रजापति ब्रह्मा जी के मानसपुत्र नारायण-परायण दयालु, सदाचारी, शान्त तथा धर्म के गुप्त से गुप्त रहस्य के यथार्थ वेत्ता नारद जी से यही प्रश्न करते हैं कि—

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्।। ७/११/२

एकादश स्कन्ध के सप्तम अध्याय के अन्तर्गत धर्मपरायण उद्धव जी भी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से यही प्रश्न करते हुये दिखते हैं कि—

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत् तथा वर्णय मे प्रभो।। ११/१७/१

फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण वर्णाश्रम धर्म का उपदेश करते हुए सर्वप्रथम वर्णाश्रम-उत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरूषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः।।
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः।।
११/१७/१३-१४

अर्थात् होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्मरूप तीन भेदों वाले यज्ञ के रूप में प्रकट मुझ विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरण से होती है। इसी विराट् पुरुष रूप मेरे ही उरुस्थल से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम तथा मस्तक से संन्यासाश्रम की उत्पत्ति हुई।

कर्मों के अनुरूप ही वर्णों का विभाजन और आश्रमों की व्यवस्था की गयी। ध्यातव्य है कि वर्णाश्रम की उत्पत्ति कर्मरूप यज्ञ से है। गुण क्रियादि बोधार्थक वर्ण धातु से अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न इस वर्ण शब्द से अभिप्राय है कि जिससे किसी के स्वरूप गुण या क्रिया का बोध हो, वह वर्ण है। वर्ण+घञ् प्रत्यय से निष्पन्न वर्ण शब्द विप्र आदि जाति, शुक्ल-रक्त आदि रङ्ग, गुण, रूप, भेद, अक्षर, ध्वनि, श्रेणी, वंश, आकृति, छवि, रूप, ख्याति, कीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा, वेशभूषा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अमरकोश के अनुसार—

वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे।

वस्तुतः वर्ण शब्द तीन अर्थों में मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है—१. ब्राह्मण आदि वर्ण २. शुक्ल आदि रङ्ग और ३. स्तुति (वर्णन) में। यही वर्ण शब्द 'वर्णो वृणुते' से वरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'वृ वरणे' धातु से निष्पन्न वर्ण शब्द का अर्थ भी स्वेच्छानुसार चयन करना ही है। प्रो. विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार भी वर्ण व्यवसाय चुनने से सम्बन्धित है। गाँधी जी के अनुसार—वर्णव्यवस्था का दर्शन कुछ प्राकृतिक नियम ही है। यह एक सहज ही क्रियाशील तथा स्वाभाविक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य उचित व्यक्ति को उचित पेशे में लगाये रखना है, क्योंकि सभी व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते हैं'—भारतीय समाज आर० एन० मुखर्जी पृ०-५१।

इस सम्बन्ध में प्रो० रंगास्वामी के अनुसार-कार्य विभाजन की प्रकृति पाषाण काल से ही समाज में विद्यमान थी, जो कि बाद में वर्णव्यवस्था के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई। अतः स्पष्ट है कि वर्ण-विभाजन पूर्णतया कर्माश्रित है।

आङ्पूर्वक श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'आश्रम' शब्द का भी अर्थ है—एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता हो—'आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'। निरन्तर श्रम ही श्रम। प्रमाद व आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं। आश्रम शब्द का प्रयोग प्रायः पर्णशाला, कुटिया, झोपड़ी, संन्यासियों का आवास या कक्ष (जहाँ संन्यासी लोग तपस्या करते हैं) महाविद्यालय, विद्यालय तथा जीवन की अवस्थाविशेष में किया जाता है। सम्पूर्ण मानव जीवन को चार भागों में

विभक्त किया गया है। जीवन की इन्हीं चार अवस्थाओं—किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम में विभक्त कर एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति जीवन पर्यन्त सचेष्ट तपोमय जीवन जीते हुए निरन्तर गतिशील बने रहने की यह सामाजिक व्यवस्था है। इस प्रकार आश्रमों का सम्बन्ध भी कर्माश्रित ही है।

वेदों में यत्र-तत्र-सर्वत्र वेदों में प्रायः तीन आश्रमों का वर्णन मुख्य रूप से प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी, गृहपति (गृहस्थ), यति (मुनि) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। यथा—अथर्ववेद में ब्रह्मचारी **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाहनत्–** ११/७/१९-मृत्यु का निवारण भी कर सकता है। मनुस्मृति में भी—**'त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः'**— तीन ही आश्रमों की बात कही गयी है। यद्यपि आगे चलकर मनु ने संन्यासाश्रम की चर्चा भी की है। उत्तर वैदिक काल में यह विभाजन चतुर्धा स्पष्ट होने लगा था। उपनिषदों में भी आश्रम सूचक शब्दों का बहुधा प्रयोग मिलता है। स्पष्ट है कि उपनिषद्काल तक आश्रम व्यवस्था पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी।

इसी वर्णाश्रमव्यवस्था का भागवतकार ने वर्णाश्रम धर्म के रूप में उपदेश किया। धर्म से तात्पर्य है—'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा'। धृ+मन् से निष्पन्न धर्म शब्द कर्त्तव्य, जाति-सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार के पालन का अर्थ देता है। मानव अस्तित्व के चार प्रमुख पुरुषार्थों में से यह प्रथम तथा अन्य तीन का श्रेष्ठ साधक है। कर्त्तव्य शास्त्रविहित आचरण क्रम का धर्म सम्यक् संचालक है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार इन वर्ण और आश्रमों के पुरुषों के स्वभाव भी इनके जन्मस्थानों के अनुसार उत्तम,मध्यम और अधम हुए। यथा ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं—

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः।। ११/१७/१६

इसी प्रकार क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभाव हैं—

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः।।
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः।।
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः।। ११/१७/१७-१९

इसके अतिरिक्त चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए साधारण धर्म का उपदेश करते हुए भगवान् ने कहा कि—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ।।११/१७/२१

अर्थात् मन, वाणी और शरीर से किसी की हिंसा न करें, सत्य पर दृढ़ रहें, चोरी न करें, काम-क्रोध-लोभ से बचें और जिन कामों से सभी को प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें। इसी धर्म के भागवत में नारद जी ने युधिष्ठिर को तीस लक्षण बतायें हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ।। ७/११/८-१२

सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचितानुचित विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी महात्माओं की सेवा, सांसारिक भोगचेष्टा से निवृत्ति, अभिमानजनित प्रयत्नों का विपरीतार्थक फल-विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों में अन्नादि का यथायोग्य विभाजन, समस्त प्राणियों में तथा विशेषकर मनुष्यों में अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, भगवान् श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण। ऐसे लक्षणोपेत मनुष्य से सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

चारों वर्णों के कर्मों का विभाजन करते हुए भागवत में नारद जी युधिष्ठिर जी से कहते हैं कि जन्म और कर्म से शुद्ध द्विजों के लिए यज्ञ, अध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के विशेष कर्मों का विधान है। अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना तथा यज्ञ करना-कराना ये छः कर्म मुख्य रूप से ब्राह्मण के हैं। ब्राह्मण के जीवन-निर्वाह के भी चार साधनों की चर्चा भागवत में प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है—१. वार्ता २. शालीन ३. यायावर और ४. शिलोञ्छन। इनमें से यज्ञाध्ययनादि कराकर धन लेना ही 'वार्ता' वृत्ति है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसी में निर्वाह करना ही 'शालीन' वृत्ति है। नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना "यायावर" वृत्ति कही जाती है और "शिलोञ्छन" वृत्ति शिल (फसल कटने के उपरान्त पृथ्वी पर पड़े हुए कण) तथा उञ्छ (बाजार में पड़े हुए अन्न के दाने) को बीनकर अपना निर्वाह करने को कहते हैं। सर्ववेदमयो विप्रः' के लिए ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत आदि वृत्तियों में किसी भी वृत्ति का आश्रय लेने की छूट है, किन्तु किसी भी स्थिति में 'श्वानवृत्ति' का आश्रय नहीं लेने की बात कही गयी है। भागवत के

अनुसार शिलोच्छ वृत्ति से जीविका निर्वाह ही 'ऋत' है। शालीन वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह 'अमृत' है। यायावर वृत्ति द्वारा जीवन-यापन 'मृत' है। वार्तावृत्ति से जीवन निर्वाह 'प्रमृत' कहलाता है व वाणिज्य ही 'सत्यानृत' है। 'श्वान वृत्ति' निम्नवर्ण की सेवा करने को कहा गया है और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों के लिए इस वृत्ति का निषेध किया गया है; क्योंकि क्षत्रिय (राजा) भी सर्वदेवमय कहा गया है— 'सर्वदेवमयो नृपः'—७/११/१३-२०। ब्राह्मण का तो लक्षण ही शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य है।

इसी प्रकार क्षत्रिय का लक्षण भागवत में वीरता, धीरता, युद्ध में उत्साह, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति, अनुग्रह तथा प्रजा की रक्षा करना आदि बताया गया है। क्षत्रिय का जीवननिर्वाह प्रजा की रक्षा करने के कारण ब्राह्मण के सिवा सबसे यथायोग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदि के द्वारा बताया गया है। आपत्तिकाल में क्षत्रिय दान लेना छोड़कर ब्राह्मण की शेष पाँचों वृत्तियों का आश्रय ले सकता है। यद्यपि भागवतकार आपत्तिकाल में सभी सब वृत्तियों का आश्रय ले सकते हैं—ऐसा भी कहते हैं—'आपत्सु सर्वेषामपि सर्वशः'—७/११/१७। वैश्य का लक्षण देवता, गुरु और भगवान् के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थों की रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता तथा व्यावहारिक निपुणता आदि है। वैश्य को सदैव ब्राह्मण वंश का अनुयायी रहकर गोरक्षा, कृषि एवं व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए, जबकि शूद्र का धर्म द्विजातियों की सेवा करना बतलाया गया है। शूद्र की जीविका का निर्वाह उसका स्वामी करता है। शूद्र का लक्षण ही उच्च वर्णों के सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामी की निष्कपट सेवा, वेदमन्त्रों से रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ-ब्राह्मणों की रक्षा करना आदि है। यद्यपि अन्त में नारद जी कहते हैं कि—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्।।७/११/३५

जिस पुरुष के वर्ण का जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्ण में मिले, तो उसे भी उसी वर्ण का समझ लेना चाहिए। स्पष्ट है कि कर्म की ही प्रधानता है, न कि जन्म की।

आश्रमसम्बन्धी नियमों के पालनार्थ भगवान् का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारों के क्रम से यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके इन्द्रियों को वश रखते हुए गुरुकुल में निवास करे। जब तक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाये, तब तक ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी को सब प्रकार के भागों से

दूर रहकर पवित्रता के साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओं की उपासना करनी चाहिए तथा सायंकाल और प्रातःकाल मौन होकर सन्ध्योपासन एवं गायत्री का जप करना चाहिए—

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ।। ११/१७/२६

किसी भी प्रकार से कभी अपना ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित न होने दें। 'सर्वदेवमयो गुरुः' मानकर आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझें, कभी उनका तिरस्कार न करें और साधारण मनुष्य समझकर कभी दोष दृष्टि न करें—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।। ११/१७/२७

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियों को चाहिए कि वे स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-ठिठोली आदि करना दूर से ही त्याग दें तथा रतिक्रीड़ानिरत प्राणियों पर तो दृष्टिपात तक न करें—

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतान् गृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ।।११/१७/३३

शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीर का संयम, अस्पृश्यों को न छूना, अभक्ष्य वस्तुओं को न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिए, उनसे न बोलना आदि नियम सभी आश्रमों से लिए एक से हैं—

शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम् ।।
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ।।११/१७/३४,३५

नारद जी ने धर्मराज युधिष्ठिर से भी ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन करने के लिए कहा कि ब्रह्मचारी अपने को दास के समान छोटा मानते हुए गुरु के चरणों में सुदृढ़ अनुराग रखे और उनके हित के कार्य करता रहे। गुरु जी जब बुलावें, तभी पूर्णतया अनुशासन में रहकर उनसे वेदों का स्वाध्याय करे। पाठ के प्रारम्भ तथा अन्त में चरणों में सिर रखकर प्रणाम करे। शास्त्राज्ञानुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथ में कुश धारण करे। सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षा माँगकर लायी हुई समस्त सामग्री गुरु को समर्पित

कर दे। उनकी आज्ञानुसार ही भोजन करे और यदि गुरु कभी आज्ञा न दें, तो उसे उपवास कर लेना चाहिए—

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
विभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम्॥
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित्॥७/१२/४,५

युवक ब्रह्मचारी को युवती गुरुपत्नियों से बाल सुलझवाना, उबटन लगवाना, शरीर मलवाना तथा स्नान करवाना आदि कार्य नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ आग के समान हैं और पुरुष घी के घड़े के समान। एकान्त में तो अपनी कन्या के साथ भी नहीं रहना चाहिए; क्योंकि जब तक यह जीव आत्मसाक्षात्कार के द्वारा इन देह और इन्द्रियों को प्रतीतिमात्र निश्चय करके स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक 'मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है—'यह द्वैत नहीं मिटता है और संसर्ग में रहने से उनमें भोग्य बुद्धि हो ही जाती है—

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्॥
कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः।
द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः॥७/१२/९,१०

ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्यान्य नियमों की चर्चा करते हुए अन्त में भगवान् ने स्वयं उद्धव जी से कहा कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण के द्वारा इन नियमों का पालन करने से वह अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्या से उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है—

एवं बृहद् व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥११/१७/३६

ब्रह्मचार्यश्रम के पश्चात् यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की इच्छा न हो और गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो, तो अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न कुलीन, अपने से छोटी और अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करे—

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्॥ ११/१७/३९

तथा वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काकबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदान रूप अतिथियज्ञ आदि के द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि,

देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियों की यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे—

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ।। ११/१७/५०

अनायास ही प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीति से उपार्जित अपने शुद्ध धन से गृहस्थ पुरुष अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजन आदि को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिपूर्वक ही यजन करे। कुटुम्ब में आसक्त न होते हुए भजन में प्रमाद न करे। इस लोक व परलोक के भोग नाशवान् हैं—यह जानते हुए घर-गृहस्थी में बिना फँसे हुए अनासक्त भाव से ऐसे रहे, जैसे कोई अतिथि निवास कर रहा हो। शरीर आदि में अहंकार और घर आदि में ममता न रखने वाले गृहस्थ को कोई बन्धन बाँध नहीं सकते। ऐसे भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मों के द्वारा मेरी आराधना करता हुआ चाहे तो घर में रहे, चाहे पुत्रवान् हो, तो वानप्रस्थ आश्रम में चला जाये अथवा संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले—

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ।। ११/१७/५५

वानप्रस्थ आश्रम में जाने की इच्छा वाला गृहस्थ मनुष्य चाहे तो पत्नी को पुत्रों के हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ लेकर अपनी आयु का तृतीय भाग शान्तचित्त होकर वन में पवित्र कन्द-मूल और फलों से शरीर-निर्वाह करता हुआ वस्त्र के स्थान पर वृक्ष की छाल, घास-पात और मृगछाल का ही प्रयोग करे—

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ।।
कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत् वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ।।११/१८/१,२

वानप्रस्थी को चाहिए कि वह ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करके, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में वर्षा की बौछार सहकर के जाड़े के दिनों में आकण्ठ जल में डूबकर घोर तपोमय जीवन व्यतीत करे—

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ।।११/१८/४

वानप्रस्थी को जोती हुई भूमि में उत्पन्न होने वाले चावल, गेहूँ आदि अन्न तथा बिना जोते पैदा हुआ अन्न भी यदि असमय में पका हो, तो उसे भी नहीं खाना

चाहिए। आग से पका हुआ अथवा कच्चा अन्न भी वर्जित है। केवल सूर्य के ताप से पके हुए कन्द-मूल-फल आदि का ही सेवन करना चाहिए। अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा के लिए ही घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़ी गुफा आदि का आश्रय ग्रहण करना चाहिए—

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत्॥
अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्।
श्रयेत हिमवाय्ववग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम्॥ ७/१२/१८,२०

इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अधिक तपस्या के क्लेश सहन करने से बुद्धि में विकार न आ जाये। अतः विचारवान् पुरुष को चाहिए कि वह बारह, आठ, चार दो अथवा एक वर्ष तक ही वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का पालन करे—

चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥७/१२/२२

इस प्रकार निष्काम भाव से तपस्या का अनुष्ठान करते हुए जब अपने आश्रमोचित नियमों का पालन करने में असमर्थ हो जाये, वृद्धावस्था के कारण शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियों को भावना के द्वारा अपने अन्तःकरण में आरोपित कर मुझमें मन लगाकर अग्नि में प्रवेश कर लेना चाहिए—

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥११/१८/११

अपने-अपने कारणों में सबको लीन करते हुए अन्त में पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का अहंकार में, अहंकार का महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व का अव्यक्त में और अव्यक्त का अविनाशी परमात्मा में लय करना चाहिए। इस प्रकार अविनाशी परमात्मा के रूप में अवशिष्ट जो चिद्वस्तु है, वह आत्मा है, वह मैं हूँ—यह जानकर अद्वितीय भाव में स्थित होकर जैसे अपने आश्रय काष्ठादि के भस्म हो जाने पर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही स्वयं उपरत हो जाये—

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम्।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत्॥
इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः॥७/१२/३०,३१

सप्तम स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में नारद ही युधिष्ठिर से कहते हैं कि धर्मराज ! यदि वानप्रस्थी में ब्रह्मविचार का सामर्थ्य हो, तो शरीर के अतिरिक्त सबका परित्याग कर संन्यास ले लेना चाहिए तथा किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान और समय की अपेक्षा न रखते हुए एक गाँव में एक रात ही ठहरने का नियम लेकर पृथ्वी पर विचरण करना चाहिए—

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ।।७/१३/१

संन्यासी यदि वस्त्र पहने तो केवल कौपीन, जिससे उसके गुप्त अङ्ग ढ़क जायें और जब तक कोई आपत्ति न आये, तब तक दण्ड तथा अपने आश्रम के चिह्नों के सिवा अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण न करे। आत्मदर्शी संन्यासी सुशुप्ति और जागरण की सन्धि में अपने स्वरूप का अनुभव करे और बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही केवल माया है, वस्तुतः कुछ नहीं—ऐसा जानकर न तो अवश्यम्भावी मृत्यु का अभिनन्दन करे और न अनिश्चित जीवन का। वह तो केवल सबकी उत्पत्ति और नाश के हेतु काल की प्रतीक्षा करे—

सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।
पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ।।
नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ।। ७/१३/५,६

नेत्रों से पृथ्वी देखकर पैर रखे, कपड़े से छानकर जल पिये, मुँह से प्रत्येक बात सत्यपूत ही निकाले और शरीर से जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक सोच-विचार कर ही करे। वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिए प्राणायाम ही दण्ड है। इस दण्डत्रय के अभाव में बाँस का दण्ड धारण करने से वह दण्डी स्वामी नहीं है—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।।
मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः।। ११/१८/१६,१७

संन्यासी को भिक्षा अधिकतर वानप्रस्थियों के आश्रम से ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि कटे हुए खेतों के दाने से बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्त को शुद्ध कर देती है, जिससे कि उसका बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है—

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ।। ११/१८/२५

चारों आश्रमों के धर्मों का विशद विवेचन करने के उपरान्त अन्त में भगवान् संक्षेप में चारों आश्रमों के मुख्य धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि—

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ।।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ।।
इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यमनन्यभाक् ।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ।। ११/१८/४२-४४

शान्ति और अहिंसा संन्यासी का, तपस्या और भगवद्भाव वानप्रस्थी का, प्राणियों की रक्षा और यज्ञ-याग गृहस्थ का तथा आचार्य की सेवा ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है। गृहस्थ भी केवल ऋतुकाल में ही अपनी स्त्री का सहवास करे। उसके लिए भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष प्राणियों के प्रति प्रेमभाव ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभी को करनी चाहिए। इस प्रकार जो पुरुष अनन्यभाव से अपने वर्णाश्रम धर्म के द्वारा मेरी सेवा तथा समस्त प्राणियों में मेरी भावना करता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि वेदव्यास जी ने समाज के प्रत्येक वर्ग को धर्म से अथवा धर्म में अनुस्यूत कर कर्त्तव्यनिष्ठा व कर्त्तव्यपरायणता का ऐसा सन्देश दिया है, जो कि सार्वदेशिक, सार्वकालिक होने के साथ-साथ सर्वातिशायी भी है। हमारे महर्षियों ने जीवन के सर्वाङ्गीण विकास एवं उन्नयन के लिए तथा समाज को सशक्त एवं सुदृढ़ बनाने के लिए जिस वर्णाश्रम व्यवस्था की कल्पना की थी, उसी वर्णाश्रम व्यवस्था की भागवतकार ने वर्णाश्रम धर्म के रूप में व्याख्या की। 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ विशेष रूप से अवस्थित अथवा निर्बाध रूप से स्थिर होना है, जबकि धर्म पूर्णतया आचरण से जुड़े होने का संकेत देता है। कारण धर्म वह है, जिसे हम धारण करते हैं और जो हमें धारण करता है। हमारे अन्तः और बाह्य दोनों को सँवारता है अथवा यूँ कहें कि लोकाभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति का सुगम साधन है। दूसरी ओर व्यवस्था तो मात्र कार्य के पूर्व की वह विशिष्ट अवस्था मात्र है, जिस पर कार्य की सफलता अथवा असफलता निहित होती है। प्रकारान्तर से व्यवस्था को हम कारण की संज्ञा दे सकते हैं; जबकि धर्म का सम्बन्ध कर्म से है। व्यवस्था ऐसा कारण है, जो समूचे कार्य को प्रभावित करता है।

इसीलिए व्यवस्था बाह्यविषयक है, जबकि धर्म पूर्णतया आन्तरिक है, जिसमें हमारी आत्मा और अन्तःकरण का पूर्ण सन्निवेश होता है। व्यवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है, जैसी कि आजकल सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है, जबकि धर्म में दोष का कोई स्थान ही नहीं है। कारण, जहाँ दोष है, वहाँ धर्म है ही नहीं। धर्म का सीधा सम्बन्ध उन कर्मों से है, जो प्रसन्नता प्रदान करें।

सप्तम स्कन्ध के एकादश अध्याय में नारद जी ने युधिष्ठिर को धर्म के मूल में उस कर्म को ही बतलाया है, जिससे आत्मप्रसाद की उपलब्धि हो—

धर्ममूलं हि.........................येन चात्मा प्रसीदति । ७/११/७

और कर्म का इससे बढ़कर मापदण्ड और क्या हो सकता है ? ऐसा कोई भी कर्म जो आत्मा को प्रसन्नता नहीं देता है, वह धर्मसङ्गत हो ही नहीं सकता। जो कर्म आत्मग्लानि से भर दे, वह धर्मपरायण कैसे हो सकता है ? कितना विशुद्ध एवं निष्पक्ष मानक (मापदण्ड) है कर्म को धर्ममय जानने का। कारण, आत्मा से बढ़कर और कुछ शुद्ध है ही नहीं और वह तभी प्रसन्न होगा, जब वह अपने स्वभाव में स्थित रह सकेगा। आत्मा का स्वभाव है शुचिता और शान्ति। यह तभी सम्भव है, जब कि कर्म बिना किसी उद्वेग के परहित की भावना से किये जायें। आत्मा का कोई पक्ष नहीं। सर्वथा निष्पक्ष। छद्मता अथवा प्रच्छन्नता की भी कोई गुंजाइश नहीं। ऐसी ही निष्पक्ष आत्मा की प्रसन्नता ही हमारे कर्मों की कसौटी है, जो कि धर्म के मूल में समाहित है। अतः वर्णाश्रम धर्म का सम्यक् पालन निश्चित रूप से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

भक्ति का स्वरूप : भागवत परिप्रेक्ष्य

डॉ. प्रतिभा शुक्ला

❋❋❋

'भक्ति' शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्ययपूर्वक निष्पन्न है, जिसका अर्थ है सेवा करना या भजना अर्थात् श्रद्धापूर्वक इष्टदेव के प्रति प्रेम। शिवराम आप्टे ने अपने शब्दकोश में भक्ति शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं—उपासना, अनुरक्ति, सेवा, स्वामिभक्ति, सम्मान, सेवा, पूजा, श्रद्धा, व्यवस्था आदि[१]।

भक्ति में साध्य और साधक दो शब्द विचारणीय हैं। 'साध्य' वह है, जिसे लक्ष्य कह सकते हैं। भक्ति द्वारा परम-तत्त्व को पाया जा सकता है। यह परम तत्त्व ही साध्य है। उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति साधक होता है। प्राप्त करने हेतु किया गया प्रयास साधना है। साधना के अनेक रूपों में से एक भक्ति है। श्री नारदमुनि ने 'भक्ति-सूत्र' ग्रन्थ में बताया है—भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है[२]। शाण्डिल्य ने ईश्वर में परमानुरक्ति को ही भक्ति कहा है[३]। स्वामी विवेकानन्द ने ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम को भक्ति कहा है[४]।

संस्कृतसाहित्य में भक्ति का उदय वैदिककाल से ही दृष्टिगोचर होता है। देवों के रूपदर्शन, उनकी स्तुति के गायन, उनके साहचर्य के लिए उत्सुकता, उनके प्रति समर्पण में आनन्द का अनुभव—ये सभी उपादान वेदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।[५] ऋग्वेद के विष्णुसूक्त एवं वरुणसूक्त में भक्ति के मूल तत्त्व विद्यमान हैं। उपनिषत्साहित्य में भी भक्ति के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् आदि में विष्णु, शिव, रुद्र, नारायण, सूर्य आदि की भक्ति दिखाई देती है।

---

१. शिवराम आप्टे कृत संस्कृतहिन्दी शब्दकोश, पृ. ७२६

२. सा त्वमस्मिन् परमप्रेमरूपा। नारदसूत्र १,२

३. भक्तियोग, पृ. ११ लेखक-स्वामी विवेकानन्द, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली।

४. वही।

५. हिन्दू धर्मकोश, पृ. ४६४ उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति, प्रभाग।

भक्ति में प्रार्थना, स्तुति, उपासना जैसे शब्द विशेष महत्त्व रखते हैं। वेदों में देवों के प्रति प्रार्थनापरक एवं स्तुतिपरक मन्त्रों की भरमार है। देव परमात्मा के ही विभिन्न स्वरूप हैं। उदाहरणस्वरूप हम कतिपय मन्त्रों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है—'हे ईश ! तुम हमारे समीपस्थ एवं रक्षक हो, हमारा कल्याण करो[१]। हे ईश ! तुम्हारा भक्त निर्भय होकर रहता है और पराक्रमी होता है।[२] हे वीर ईश ! हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।[३] हे बुद्धिप्रेमी मनुष्यों तुम परमात्मा की स्तुति करो।[४] बालक भी परमात्मा की स्तुति करे।[५] एक अन्य स्थान पर कहा गया है—हे ईश ! तुम पिता की तरह हमारे लिए सुगम हो जाओ[६]। अन्यत्र यज्ञकर्ता-भक्तों द्वारा ईश से उत्तम प्रकाश प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है। कहा गया है—हे ईश ! तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं[८]। परमात्मा अपने भक्तों की रक्षा करते हैं[९]।

रक्षा के साथ-साथ ईश्वर द्वारा भक्त को यश प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। कहा गया है—हे ईश ! तेरा भक्त अक्षय यश पाता है[१०]। हे ईश ! तुम स्तुति किये जाने पर स्तोता को यशस्वी बनाओ[११]। प्रार्थना की गई है कि हे ईश ! तुम अपने भक्त की कामनाओं को पूरा करो[१२]। हे ज्ञानी ईश ! तेरा भक्त सबका आह्लादक होकर द्युलोक में सुख पाता है[१३]। देव भक्त को सुयोग्य परिवार सन्तान और वंश मिलता है[१४]। वह ईश स्तुतिकर्ता और दानी को ऐश्वर्य प्रदान करता है[१५]। ऋग्वेद में परमात्मा के नामोच्चारण का उल्लेख मिलता है। कहा गया है—हे स्वयं यशस्वी ईश ! हम सदा तेरा नामोच्चारण करते हैं[१६]।

---

१. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता, शिवो भव।
२. अनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्। ऋ.१,९४,२
३. अभि त्वा शूर नो नुमः। ऋ. ७,३२,२२
४. अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत। ऋ. ८,६९,८
५. अर्चन्तु पुत्रका उत। ऋ. ८,६९,८
६. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। ऋ. १,१,९
७. सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिः। ऋ. ८,८३,७
८. त्वमस्माकं तव स्मसि। ऋ. ८,१२,३२
९. वृषन्नुशिजो यदाविथ। ऋ. १,१३१,५
१०. स धत्ते अक्षिति श्रवः। ऋ. ८,१०३,५
११. यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः। ऋ. ,१३१,८
१२. मा त्वायत्तो जरितुः काममूनयीः। ऋ. १,५३,३
१३. स चन्द्रो विप्र मर्त्यो महो ब्राधन्तमो दिवि। ऋ.१,१५०,३
१४. स इज्जनेन स विशा स जन्मना। ऋ. २,२६,३
१५. स्तोतृभ्यो मंहते मघम्। ऋ. १,१९,३
१६. सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि। ऋ. ७, २२,५

सृष्टि के उत्पादक एकमात्र भगवान् हैं। इनके अनेक नाम हैं। सर्वत्र रमण करने का कारण उन्हें राम कहा गया है। अन्तःकरण से बुराइयों का कर्षण कर बाहर निकालने के कारण उन्हें कृष्ण कहा गया। परमात्मा अपनी योगमाया प्रकृति से समस्त जगत् की उत्पत्ति करते हैं। उन्हीं से ब्रह्मा, शिव आदि अन्य देवता प्रादुर्भूत होते हैं[१]। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। भगवान् का सायुज्य अथवा तादात्म्य होने पर जीवात्मा को पूर्णता प्राप्त होती है। ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर-भाष्य[२] के अनुसार अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग से उपासना करते हुए भक्त भगवान को प्राप्त करता है। ज्ञानामृतसार[३] में छह प्रकार की भक्ति का उल्लेख मिलता है— स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन।

भागवतपुराण[४] में नवधा भक्ति का वर्णन हुआ है। उपर्युक्त प्रकारों में तीन श्रवण, दास्य एवं सख्य और सम्मिलित कर दिये गये हैं। भागवत के माहात्म्य के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि भक्ति भगवान् को प्राणों से भी अधिक प्रिय है, भक्ति द्वारा बुलाने पर भगवान् नीचों के घर पर भी चले जाते हैं।[५] कलियुग में भक्ति ही ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति कराने वाली है[६]। परमानन्दचिन्मूर्ति ज्ञानस्वरूप श्रीहरि ने अपने सत्स्वरूप भक्ति की रचना की। भक्ति साक्षात् श्रीकृष्ण चन्द्र की प्रिया और परम सुन्दरी है[७]। भक्ति के द्वारा पूछने पर कि "मैं क्या करूँ" ? भगवान् ने आज्ञा दी कि 'मेरे भक्तों का पोषण करो[८]।" तब भगवान् ने प्रसन्न होकर मुक्ति को दासी के रूप में दिया तथा ज्ञान वैराग्य को पुत्रों के रूप में प्रदान किया[९]।

जिनके हृदय में प्रेमरूपिणी भक्ति निरन्तर निवास करती है, वे शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष स्वप्न में भी यमराज को नहीं देखते।[१०] जिनके हृदय में भक्ति का निवास है, उन्हें प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं होते।[११] भगवान् केवल भक्ति से ही वशीभूत होते हैं[१२]। भक्ति को पाना इतना

---

१. हिन्दू धर्मकोश पृ. ४६५, सम्पादक डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति, प्रभाग, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ।

२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य २, ४२;

३. हिन्दू धर्मकोश, पृ. ४६५।

४. भागवत ७,५, २३-२४;

५. भागवत माहात्म्य २, १६।

६. वही, २, ३;

७. वही, २, ४।

८. वही, २,५

९. अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा।
मुक्तिं दासी ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ।। भागवतमाहात्म्य २,७

१०. येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽत्यमलमूर्तयः ।। वही, २,६

११. वही २,१७;

१२. वही २,१८।

सरल नहीं है। हजारों जन्मों के पुण्य-प्रताप से मनुष्य का भक्ति में अनुराग होता है।[१] भक्ति द्वारा साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र सामने उपस्थित हो जाते हैं।[२]

भक्ति से द्रोह करने वालों को संसार में दुःखों की प्राप्ति होती है।[३] दुर्वासा ऋषि को भक्त का तिरस्कार करने के कारण कष्ट की प्राप्ति हुई।[४] भक्ति को मुक्ति प्रदान करने वाली कहा गया है।[५] ज्ञान व वैराग्य भक्ति के पुत्र हैं। सत्कर्म के अनुष्ठान से ज्ञान एवं वैराग्य जाग्रत होते हैं और भक्ति का प्रसार होता है।[६] विद्वानों ने ज्ञान-यज्ञ को ही सत्कर्म का सूचक माना है। वह श्रीमद्भागवत का पारायण है, जिसका गान किया है शुकादि महानुभावों ने।[७] उसके सुनने से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को बल मिलता है।[८] कहा गया है कि भागवत के पारायण से प्रेम-रस प्रवाहित करने वाली भक्ति ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर प्रत्येक घर और व्यक्ति के हृदय में क्रीड़ा करेगी।[९] भागवत-कथा को श्रीवेदव्यास ने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिए प्रकाशित किया है।[१०] जिस घर में भागवत की कथा होती है, वह तीर्थ रूप हो जाता है और उस घर में रहने वाले लोगों के पाप नष्ट हो जाते हैं।[११] इसके श्रवणमात्र से श्रीहरि हृदय में आ विराजते हैं।[१२] सूतजी का शौनक जी के प्रति कथन है कि भागवत-कथा का श्रवण कर विशुद्ध प्रेम रूपा भक्ति[१३] भगवन्नामों का उच्चारण करती हुई भागवत के अर्थों का आभूषण पहने हुए, तरुणावस्था को प्राप्त हुए अपने पुत्रों ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर प्रकट हुई। भागवत माहात्म्य के तृतीय अध्याय में बताया है कि भक्ति भक्तों को भगवान् का स्वरूप प्रदान करने वाली, अनन्य प्रेम का सम्पादन करने वाली और संसार रोग को निर्मूल करने वाली है।[१४] जिनके हृदय में परमात्मा की भक्ति निवास करती है, वे निर्धन होने पर भी परम धन्य हैं। भगवान् उनके हृदय में आकर बस जाते हैं।

द्वितीय स्कन्ध के तृतीय अध्याय में भगवत्प्राप्ति के प्राधान्य का निरूपण करते हुए कहा गया है[१५], बुद्धिमान् पुरुष को तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् की ही आराधना करनी चाहिए।[१६] उपासकों का सर्वाधिक हित इसी में है कि वे भगवान् के प्रेमी-भक्तों का सङ्ग करके भगवान में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें।[१७] ऐसे पुरुषों के सत्सङ्ग में जो भगवान् की लीला-कथाएँ होती है,

१. भागवतमाहात्म्य २,१९;
२. वही।
३. वही, २,२०;
४. वही।
५. वही २, २१;
६. वही, २, ३३।
७. वही, २,६०;
८. वही, २, ६१
९. वही २, ६३;
१०. वही, २, ७१।
११. वही, ३, २९;
१२. वही, ३, २५।
१३. वही, ३, ६७;
१४. वही, ३, ७१।
१५. वही, ३, ७३;
१६. भागवत २,३,१०।
१७. भागवत २,३,११।

उनसे उस दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे संसार-सागर की त्रिगुणमयी तरङ्गमालाओं के थपेड़े शान्त हो जाते हैं, हृदय शुद्ध होकर आनन्द का अनुभव करने लगता है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं रहती, कैवल्यमोक्ष का तृतीय स्कन्ध के अध्याय २५ में भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति से भक्तियोग की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब[१] मन कामादि दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तब सुख-दुःख से छूटकर सम अवस्था में आ जाता है[२], तब जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त हृदय द्वारा आत्मा को प्रकृति से परे एकमात्र, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड उदासीन अर्थात् सुख-दुःख-शून्य, देखता है तथा प्रकृति को शक्तिहीन अनुभव करता है।[३] योगियों के लिए भगवत्प्राप्ति के निमित्त भक्ति के समान अन्य कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।[४]

परमात्मा के कथाप्रसंग के सेवन से मोक्षमार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकास होता है।[५] परमात्मा की सृष्टि आदि लीलाओं का चिन्तन करने से प्राप्त हुई भक्ति के द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखों में वैराग्य हो जाने पर मनुष्य सुदृढ़ भक्ति से परमात्मा को इस देह में ही प्राप्त कर लेता है।[६]

तृतीय स्कन्ध में देवहूति के द्वारा समुचित भक्ति का स्वरूप पूछे जाने पर कपिल मुनि ने भक्ति विस्तार एवं योग का वर्णन किया। जिसका चित्त एकमात्र भगवान् में संलग्न है, ऐसे मनुष्य की वेदविहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों की जो सत्त्वमूर्ति परमात्मा के प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही भगवान् की अहैतुकी भक्ति है।[७] यह भक्ति मुक्ति से भी बढ़कर है। जठराग्नि जिस प्रकार उपभुक्त अन्न को पचाता है, उसी प्रकार यह कर्म-संस्कारों के भण्डाररूप लिङ्ग शरीर को तत्काल भस्म कर देती है।[८] परमात्मा की भक्ति न चाहने पर भी भक्तों को परमपद की प्राप्ति करा देती है।[९] जो भक्तजन अनन्य भक्ति से भगवान् का चिन्तन करते हैं, उन्हें भगवान् मृत्युरूप संसार-सागर से पार कर देते हैं।[१०] योगिजन ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोग के द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिए परमात्मा के चरणों का आश्रय लेते हैं।[११] संसार में सबसे बड़ी कल्याण-प्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोग के द्वारा भगवान् में संलग्न होकर स्थिर हो जाय।[१२]

---

१. भागवत, २,३,१२;
२. भागवत ३, २५,१६।
३. भागवत ३, २५, १७-१८;
४. भागवत ३, २५,१९।
५. भागवत ३,२५,२५;
६. भागवत ३,२५, २६-२७।
७. भागवत ३, २५,३२;
८. भागवत ३, २५, ३३।
९. भागवत ३, २५, ३६;
१०. भागवत ३, २५, ४०।
११. वही, ३, २५, ४३;
१२. वही ३, २५, ४४।

श्रीमद्भगवत्गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं।[१] इसी प्रकार गीता १२,६ में अन्य भक्तियोग से परमात्मा के निरन्तर चिन्तन की बात कही गयी है।

तृतीय स्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय में भक्ति के मर्म पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साधकों के भाव के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है।[२] यहाँ तामस[३], राजस[४] एवं सात्त्विक[५] भक्तों का परिचय दिया गया है। तदुपरान्त परमात्मा में निष्काम एवं अनन्य प्रेम होना निर्गुण भक्तियोग का लक्षण बताया गया है।[६] ऐसे निष्काम भक्त दिये जाने पर भी परमात्मा की सेवा को छोड़कर सालोक्य, साष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक स्वीकार नहीं करते।[७] भगवत्सेवा हेतु मुक्ति का भी तिरस्कार करने वाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा मनुष्य परमात्म प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[८]

निष्काम भाव से श्रद्धापूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्तव्यों का पालन कर नित्यप्रति हिंसारहित, उत्तमक्रियायोग का अनुष्ठान करने, यमनियमों का पालन, अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण और नाम-संकीर्तन करने से मन की सरलता, सत्पुरुषों के संग और अहंकार के त्याग से परमात्मा का अनुष्ठान करने वाले भक्त पुरुष का चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर ईश्वर के गुणों के श्रवणमात्र से अनायास ही ईश्वर में लग जाता है।[९]

ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन दोनों का फल एक हो जाता है, उसे ही भगवान् कहते हैं।[१०] निर्दिष्ट सभी साधनों से सगुण-निर्गुण रूप स्वयं-प्रकाश भगवान् को ही प्राप्त किया जाता है।[११]

---

१. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ गीता १२,२

२. भागवत, ३, २९,७; ३. वही, ३, २९, ८।
४. वही ३, २९, ९; ५. वही, ३, २९, १०।
६. वही, ५, २९, ११-१२; ७. वही, ३,२९,१३।
८. वही, ३,२९,१४; ९. वही, ३, २९, १५-१९।
१०. वही, ३, २९, ३२; ११. वही, ३, २९, ३६।

श्रीमद्भागवत पुराण में 'माया' की अवधारणा

डॉ. मंजूलता शर्मा

❋❋❋

संस्कृत वाङ्मय में पुराण जन-जन की आस्था का प्रमाण है । उनमें श्रीमद्भागवत पुराण की अजस्त्र मन्दाकिनी आज भी अपने पावन अमृत से जीवों को रससिक्त कर रही है । भागवतपुराण का समस्त कलेवर भगवत्तत्त्व को आत्मसात किये हुये है । भागवतकार का कथन है कि भौतिक जगत् के सुख वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल आचरण से प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु वैराग्ययुक्त ज्ञान भगवान् के श्रीचरणों के चिन्तन, कीर्तन और स्मरण से ही प्राप्त हो सकता है ।

दास कबीर को यही माया ठगिनी प्रतीत हुई यही कारण था कि उन्होने अपने जीवन की झीनी बीनी चादर ज्यों की त्यों सुरक्षित रखी । मनुष्य की **आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों से उनके विषयों को भोगता हुआ और इस उत्पन्न किये हुये शरीर को ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है, फिर देही अपनी कर्मेन्द्रियों से वासना युक्त कर्म** करता हुआ, तद्जन्य सुख-दुःखमय फलों को भोगता हुआ संसार में भटकता रहता है । इस प्रकार विवश होकर प्रलयकाल पर्यन्त जन्म-मरण के आंचल से बँधा रहता है[१] । वास्तविकता से अनभिज्ञ वह असत को सत मान बैठता है—

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ।।११/३/५

सांसारिक जीव पल प्रतिपल अपने जीवन के लक्ष्य को ढूँढता रहता है। कभी यह सांसारिक बन्धन उसे अपने मोहपाश में बाँधते हैं, तो कभी तिरस्कार का गरल पिलाकर मुक्ति की चाह में अकेला निरुपाय छोड़ देते हैं । प्राणी तब किंकर्तव्यविमूढ होकर व्याकुल हो उठता है । एक प्रश्न बार-बार यक्षप्रश्न बनकर उसे उद्वेलित करता है कि यह जीवन भोग के लिये है अथवा मोक्ष के लिये? ऐसी

---

१. भागवत ११/३/६, ११/३/८ ।

दोलायमान स्थिति में श्रीमद्भागवत पुराण में हरिमाया और उससे परे इस जगत् का अस्तित्व हमारे इस दिशा भ्रम को तोड़ता है, क्योंकि अद्वैतवाद इस पुराण की आत्मा है ।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।

अर्थात् जो सृष्टि से पहले भी था, बाद में भी रहेगा, वही तो सत्य है, शेष जगत् तो मिथ्या है । परन्तु इस मिथ्या इन्द्रजाल से ही तो सच का नवनीत निकलता है । भगवान् की त्रिगुणमयी (सत् , रज, तम) जीव को बाँधती है, वह विवश होकर अनेक प्रकार की योनियों में महाप्रलयपर्यन्त जन्ममृत्यु के बन्धन को भोगता है । निरन्तर दुःख भोगने वाले धन से कुटुम्बियों का पोषण करता हुआ इस नाशवान् संसार में भ्रमण करता रहता है, इसके साथ ही अपने से उत्कृष्ट के प्रति द्वेष और अपने पतन से भयभीत रहता है । वास्तविकता यह है कि यह संसार जो अनित्य है, फिर मनुष्य को नित्य सुख कैसे दे सकता है—

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहात्पत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः[1] ।। ३/१/१९

लोक एवं परलोक दोनों ही कर्मजन्य और नाशवान् हैं । अतः उनमें राजाओं की भाँति समान के प्रति स्पर्द्धा, उत्कृष्ट के प्रति द्वेष और अपने उत्कृष्ट होने पर पतन का भय लगा रहता है । यह भोग तत्त्व माया बनकर उसके कर्मों को प्रभावित करता है । यह सम्पूर्ण जगत्, भौतिक प्रपञ्च प्रभु की योगमाया से उत्पन्न है । यह परमात्मा जीव को माया में डालकर असंग भाव से उसमें क्रीडा करता है । यहाँ असंग भाव से अभिप्राय अनासक्ति से है । इस अविनाशी ईश्वर का कोई आदि मध्य अन्त नहीं है, परन्तु इसके द्वारा निर्मित सृष्टि का आदि, मध्य, अन्त होता है । यह ब्रह्म अद्वैत रूप कारण और द्वैतरूप कार्यवर्ग है । जैसे कुण्डलादि कार्य रूप में परिणत और प्राकृत स्वर्ग एक ही होता है । तत्त्वतः उसमें कोई भेद नही होता परन्तु अज्ञानवश किया गया यह भेद ही माया है[2] । जिस प्रकार वृक्ष की जड़े सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष (डाली, पत्ते, फल) आदि का सिंचन हो जाता है, उसी प्रकार इस परमात्मा का चिन्तन पूजन करने से समस्त देवताओं की आराधना हो जाती है ।

वस्तुतः जिनके कारण इस शरीर को चेतना प्राप्त होती है, जिनसे यह जगत् स्थित है, जो स्वयं जगत् में व्याप्त होता हुआ भी इस कार्य–कारण रूप जगत् से परे है । जिसकी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती, ऐसे प्रभु अपने भीतर अपनी माया

---

१. भागवत ३.१. १९ । २. भागवत १८ ८/१२/४ ।

द्वारा स्थापित, कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जाने वाले इस कार्य कारण रूप दोनों प्रकार के प्रपञ्च को साक्षी रूप से निरन्तर देखते रहते हैं। संसार के नष्ट हो जाने पर भी यह विराजते हैं। जिनके जन्म, कर्म, गुण, दोष, नाम, रूप आदि कुछ भी नहीं है, तथापि लोको की रचना और प्रलय के लिये अपनी माया से समयानुसार उन्हें स्वीकार करते हैं और इस सृष्टि को अपने आवरण से ढक लेते हैं। उनका यही आवरण उनकी माया है। प्रलयकाल के समय व्यक्त सृष्टि को जब अव्यक्त की ओर खींचा जाता है, तब महाप्रलय हो जाती है[१] और विराट पुरुष अपने ब्रह्माण्ड रूपी शरीर को छोड़कर सूक्ष्म स्वरूप अव्यक्त में लीन हो जाता है।

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ।।११/३/१२

इस प्रकार काल के द्वारा अपने गुण शब्द से रहित होकर आकाश तामस अहंकार में, इन्द्रियाँ राजस अहंकार में और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के साथ मन एवं बुद्धि सात्त्विक अहंकार में लीन हो जाते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि अपने-अपने पंचभूतों और तत्सम्बन्धी गुणों के साथ अहंकार में लीन हो जाती है और अहंकार महत्तत्त्व में मिल जाता है। यही भगवान् की त्रिगुणमयी (उद्भव, स्थिति एवं प्रलय) माया है। जो मनुष्य इस माया को ही वास्तविक और इष्ट मान लेते हैं, वह स्थूल बुद्धि वाले सूक्ष्म तत्त्व को नहीं समझ पाते हैं। अत: श्रेय:साधन के जिज्ञासु को चाहिये कि वह वेद और परब्रह्म में परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरु की शरण ले और उन गुरु को ही आत्मा और देव मानता हुआ उन्ही से भागवत धर्मों को सीखें। सबसे पहले मन की असङ्गता फिर साधुओं का सङ्ग, प्राणियों पर दया, मैत्री एवं विनय, शौच, तप,तितिक्षा (द्वन्दों को सहना),मौन स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य,अहिंसा, सुख-दु:ख में समान भाव, सर्वत्र हरिमय जगत् की अनुभूति, एकान्त सेवन, अनिकेतता, सन्तोष, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रों में श्रद्धा अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना, मन,वाणी,कर्म का संयम, प्रभु कीर्तन,ध्यान,यज्ञ-तप-जप आचार अथवा जो भी संसार में प्रिय हो, उसे प्रभु के चरणों में अर्पित करना ही भागवत धर्म है। जब प्राणी इन गुणों से समन्वित होकर अन्य प्राणियों के साथ विचरण करते हैं तो आपस में प्रेम, सन्तोष और शान्ति का विस्तार होता है। जब उसके अन्दर भक्ति का उदय हो जाता है, तो वह कभी हंसते हैं, कभी आनन्दित होकर नाचते हैं और कभी प्रभु गुणगान करते हुये उनकी लीलाओं का चिन्तन करते हैं। फिर परम उपरति को प्राप्त करके मौन हो जाते हैं। इस प्रकार भागवत धर्मों का अभ्यास करते-करते, प्रेमा भक्ति

---

१. भागवत पु. ११/३/८।

द्वारा नारायणपरायण होकर अनायास ही उस सांसारिक माया को जानकर उससे वियुक्त हो, इस दुस्तर संसारसागर को पार कर लेता है ।

माया का त्रिगुणात्मक रूप प्रत्येक चरित्र को मनुष्य को बाँधने में समर्थ है । सत, रज,तम से परे कुछ भी नहीं है । **सात्त्विक अहंकार भी स्वयं को देव समझने का अहंकार उत्पन्न कर देता है । सात्त्विक कर्मों में फल की आसक्ति मोह पैदा करती है, अपनी प्रशंसा और यश के लिये उत्सुक होता हुआ प्राणी निरन्तर अपनी प्रस्तुती को भव्य से भव्यतम करने की क्रीडा करता रहता है ।** जब तक इस मिथ्या प्रपञ्च का ज्ञान हो पाता है, तब तक वह उसमें इतना डुब चुका होता है कि लौटने के मार्ग बन्द हो जाते हैं । एक भाव प्रत्येक जीव में निरन्तर अंकुरित और विकसित होता रहता है कि वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ स्वीकार किया जाय, जब प्राणी केवल स्वयं को उन्नति के प्रथम पायदान पर देखना चाहता है, तब वह सीढी के निचले पायदानों पर ही अन्य मनुष्य को देखने का धैर्य रख पाता है, यहाँ अहंकार का यह सात्त्विक रूप भी उसे माया से बाँधकर वास्तविक लक्ष्य से भटकाता रहता है । सृष्टि का निर्माण और विनाश दोनों ही माया है, स्वप्न है अथवा मतिभ्रम है । यह निर्माण क्रम से और विनाश व्यतिक्रम से होता है । आदि देव नारायण अपने ही पञ्चभूतों से रचे प्राणियों में स्वयं ही जीव रूप प्रतिष्ठित होकर एक मन और बाह्य दश इन्द्रियों में स्वयं को विभक्त करके विषयों का उपभोग करता है । आत्मा द्वारा प्रकाशित यह इन्द्रियाँ ही आत्मा है, ऐसा मिथ्या इन्द्रजाल जब उसे बाँध देता है, तब वह उन सुखों में ही अपनी इन्द्रियों की गति मानता है । स्वयं नारायण ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि नाना प्रकार के हाव-भाव रचने वाली और अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिये अत्यन्त दुस्त्यज मेरी माया में एक बार आसक्त होकर कोई प्राणी उससे मुक्त नहीं हो सकता । लेकिन जो इस गुणमयी माया को जो परमेश्वर के एक अंश से उत्पन्न है, उसे पार कर लेता है, उसके मिथ्या अस्तित्व को समझ जाता है । यह माया उसका पराभव नहीं कर पाती । भगवान् विष्णु के मोहिनी रूप पर आसक्त होकर परमयोगी शिव के मन का विचलन इस बात का प्रमाण है कि यह माया वास्तव में ठगिनी है, जो कामदेव को भस्म करने वाले, समस्त कलाओं में पारंगत विरागी शिव को भी मोहित करके लज्जित कर सकती है, तो फिर लौकिक पुरुष के विषय में तो कहना ही क्या ? श्रीहरि का यह कथन माया के दुस्तर रूप की अभिव्यक्ति करता है ।

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्
तांस्तान् विसृजतीं भावान् दुस्तरायकृतात्मभिः ।

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ।। (८/१२/३९-४०)

इसके अतिरिक्त माया का एक अन्य रूप भी है, जो कर्मों में रुचि को उत्पन्न करने के लिए प्रतिभासित होता है। अर्थात् जिस प्रकार कड़वी दवा खिलाने के लिये मीठी वस्तुओं का लालच दिया जाता है, उसी प्रकार वेदों में जो फलश्रुति (स्वर्गादि की प्राप्ति) है, वह केवल कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिये है।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।। (११/३/४६)

इसका अभिप्राय है कि सत्कर्मों में प्रवृत्ति और असत्कर्मों में विराग फलश्रुति से उत्पन्न किया जाता है। जब प्राणी वेदोक्त विधि से सत्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है तो नित्य अभ्यास से शनैः शनैः इस माया का आवरण हटने लगता है और अहंकार तत्त्व नष्ट होकर जीव महत् तत्त्व में मिल जाता है। सबसे अधिक आवश्यकता अहंकार ग्रन्थि को खोलने की है। इसके लिये व्यक्ति को श्रेष्ठ गुरु के निर्देशन में अपने इष्ट प्रति पाद्य,अर्घ्य,स्नान, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से युक्त पूजन करना चाहिये, जिसके फलस्वरुप वह माया से युक्त होकर इस संसारसागर को पार कर जाता है।

इसके विपरीत स्त्री-पुरुष के रमण से प्राप्त सुख-दुःख हैं, उनका सम्बन्ध तो श्रीहरि के साथ हो ही नही सकता। जो सकाम पुरुष नाना प्रकार के व्रत और तप करते हुये भी विषयाजन्य सुख की अभिलाषा से हरि का भजन करते हैं, वे उसकी माया से मोहित होकर संसार में भ्रमण करते रहते हैं; क्योंकि मोक्ष और सम्पूर्ण सम्पदाओं के आश्रयभूत लौकिक सम्पत्ति की इच्छा करते हैं। मोक्ष एवं पराभक्ति से दुर हुए लौकिक पुरुष नरकवत कूकर-शूकरयोनि को प्राप्त करके भी विषयसुखों को भोगते हुये आनन्दित होते हैं। फलतः उन विषयी पुरुषों को नरक की प्राप्ति भी अच्छी जान पड़ती हैं[१]।

यह जीव उस ब्रह्म का ही एक मात्र अंश है[१] फिर भी यह संसार में आकर नारायण द्वारा बनाई हुई माया के जाल में फँस जाता है, सम्भवतः कारण यह है कि जीव उत्पन्न होते ही अपने साथ अहंकार और अज्ञान को भी साथ लेकर चलता है। परिणाम स्वरूप अपने मूलतत्त्व से विलग हो भटकता है। जबकि वास्तविकता यह है कि स्त्री-पुरुष पुत्रादि का तो कहना ही क्या अपना यह शरीर भी सदा नहीं रहता। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही यहाँ से जाता है अपने सुकृत दुष्कृत सब अकेले ही भोगता है।

१-१०/६०/५२-५३।

हम तुम्हारे द्वारा भरण करने योग्य हैं, ऐसा कहकर उसके परिवारीजन उस अल्पबुद्धि पुरुष का अधर्म से एकत्रित धन हर लेते हैं। वह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझ कर अधर्मपूर्वक पालता है, वे प्राण, धन और पुत्रादि उसे असन्तुष्ट अवस्था में छोडकर चले जाते हैं।

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ।
अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः
सम्भोजनीयापदेशै जलानीव जलौकसः ।।(१०/४९/२१-२२)

तब अपने धर्म से विमुख, अपने सच्चे स्वार्थ को न समझने वाला मूढ प्राणी स्वयं विफल मनोरथ होकर अपने पाप भार लेकर घोर नरक में पड़ता है। अतः इस संसार को स्वप्न, माया और मनोराज्यवत् मानते हुये प्राणी को समदर्शी होना चाहिये

तस्माल्लोकंमिमं राजन् स्वप्नमाया मनोरथम् ।
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं शमः शान्तो भव प्रभो ।।
(१०/४९/२५)

यह प्रभु अपनी अचिन्त्यगति माया से संसार को रचकर इसमें प्रविष्ट होकर कर्म और कर्मफल का विभाजन करते हैं तथा उनकी अगम्य लीला ही इस संसारचक्र की गति का प्रधान कारण है। जो प्राणी उनकी इस लीला को इस माया को जान जाता है, वह सिद्ध तपस्वी आवागमन से मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति का एक मात्र उपाय यह है कि प्राणी मन, वाणी,इन्द्रिय,बुद्धि,अहंकार अथवा अनुगत स्वभाव से जो भी कार्य करे, उसे परमात्मा को अर्पित कर दे। इसके विपरीत जो मनुष्य ईश्वर से विमुख होकर स्वयं के देही होने के अभिमान से युक्त हो जाता है, उन्हें यह संसार स्वप्नवत होने पर भी सत्य भासित होता है, अतः परिणामस्वरूप इसमें अनुरक्ति बढ़ने लगती है। अहंकारवश 'मैं' पन का बोध होता है और प्राणी काष्ठ में निहित अग्नि के समान उत्तम, मध्यम और अधम भाव से प्रकट होता है। वास्तव मे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय यह सब नारायण की माया है। वह इस अनिर्वचनीय प्रपञ्च की रचना, पालन और संहार किया करते हैं, परन्तु स्वयं इसमें लिप्त न होकर अखण्ड आनन्द में निमग्न रहते हैं। भागवतपुराण के एकादश स्कन्ध मे हरि का कथन है—

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि माया मनोमयम् ।।

अर्थात् मन, वाणी, नेत्रों और कर्ण से यह जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब नाशवान् है, यह सब मनोमय होने के कारण माया ही है। परन्तु फिर भी विषयी व्यक्ति के लिए त्याग बहुत ही दुःसाध्य है; क्योंकि वह देह और स्त्रीपुत्रादि सम्बन्धियों में मैं पन से जुड़कर डुब जाता है। भागवत धर्म गुण-दोष दोनों से दूर रहने की बात करते हैं-

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ।।

क्योंकि गुण-दोष दोनों प्रकार की बुद्धि से छुटा हुआ मनुष्य न तो दोष दृष्टि से निषिद्ध का त्याग करता है और न गुण बुद्धि से विहित का अनुष्ठान करता है। इसका गूढ़ तत्त्व यह है कि गुण और दोष दोनों ही मनुष्य को बाँधते हैं । श्रेष्ठ स्थान, गुणो की प्रशंसा, उच्च पद, फैला हुआ यश श्रेष्ठ आचरण का अहंकार व्यक्ति को पतन के भय से शंकित रखता है, इसलिए वह प्रभु चिन्तन-स्मरण भूलकर अपनी इस श्रेष्ठ स्थिति को बचाने में लगा रहता है और दोष होने पर कुटिलतावश दूसरे के नाश की योजना बनाना, उसकी विपत्ति की प्रतीक्षा करना, उसके धन नाश का विचार करना,असत्यवचन, मर्यादाहीन,नास्तिक धर्म निन्दा आदि असत् आचरणों का निर्वाह करता हुआ प्राणी अपने मार्ग से भटक जाता है। अतः सुख दुःख, गुण-दोष दोनों ही प्राणी को नश्वर जगत् से बाँधते हैं । सत्त्व गुण अपनी प्रशंसा चाहता है, रजोगुण सदैव अपने कल्याण के विषय में चिन्तन उत्पन्न करता है और तमोगुण अन्य प्राणियों के नाश के उपाय ढूँढता है । यदि जीव को इस तथ्य का ज्ञान हो जाये कि सभी प्राणियों में उसी ब्रह्म का अंश है, तो मोह आसक्ति और द्वेष समाप्त हो जायेगा । मैं पन, अहंकार दूर होगा, जिससे माया का इन्द्रजाल टूट जायेगा । यद्यपि सतोगुण निर्मल ज्ञान देकर सुख देता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को विकसित करता है, रजोगुण तृष्णा उत्पन्न करके अन्य जीवों के विनाश का उपक्रम करता है, परन्तु फिर भी 'त्रिगुणं बध्नाति मनुष्यम्' इस सूक्ति वाक्य के अनुसार कोई भी गुण मनुष्य की मुक्ति का साधक नहीं है । ये तो इस संसार से प्राणी को बाँधते हैं । वह यह भूल जाता है कि जब प्रातः भोजन सायंकाल तक दूषित हो जाता है, तो उसी रखा भोजन से पोषित यह शरीर नित्य कैसे हो सकता है । परन्तु विषयी पुरुषों की समस्त आयु रात्रि में निद्रा एवं स्त्री गमन और दिन में अर्थसंग्रह और कुटुम्बियों के भरण-पोषण में बीत जाती है । अतः वे इस जगत् में इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनका नाश देखकर भी नहीं देखते[१] । इस प्रकार मोह संसार का कर्ता है । मोह के दूर होते ही जीव आवगमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

१. २/१/३,४ ।

भागवत पुराण के आरम्भ में गोकर्ण ने अपने पिता आत्मदेव से यही कहा कि पिताजी आप हड्डी, माँस, रुधिर के संघात मात्र शरीर से मैं पन का अहंकार त्याग दीजिए और स्त्री पुत्रादि को क्षणभंगुर जगत् का एक अंश मानते हुए वैरागी होकर भक्तिपरायण हो जाइए; क्योंकि भगवान् के स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप उनसे भिन्न नहीं हैं, जो भिन्नता दिखायी देती है; वह माया है। मिट्टी से घड़ा और घड़े से मिट्टी यह दोनो तत्त्व एक ही हैं, केवल निर्माण की जो प्रक्रिया है, वह द्वैत रूप में देखकर आनन्दित होता है। अतः इस सृष्टि में जो निर्माण, स्थिति और विनाश का क्रम है, वह ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी से संचालित होता हुआ उसी में लीन हो जाता है और प्रमादवश अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार प्राणी इस जगत् को देखता है, भोगता है और रमण करता है।

वस्तुतः भागवतपुराण तो एक सागर है, जिसमें अथाह ज्ञान का प्रवाह है, कथाओं की उत्ताल तरंगे हैं और मोक्ष की ओर ले जाने वाली गजमुक्ता मणि भी है। केवल पठन-पाठन अथवा श्रवण चर्वणा इस पुराण का लक्ष्य नहीं है, अपितु भागवतपुराण एक जीवनशैली है, जो व्यक्ति को असत से सत की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर और अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने में समर्थ है। इसी के ज्ञान तट पर प्राणी को संसार के बनने और बिगड़ने के रहस्यों का पता चल सकता है। यह वह अमृतकलश है, जो भुक्ति से मुक्ति की ओर ले जाकर अपनी किञ्चित् बूँदों के आस्वादन से जीव को अजन्मा बना देता है।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन्भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जंस्तरति दुस्तराम्॥ ११/३/३३।

श्रीमद्भागवत पुराण में दार्शनिक सिद्धान्त

श्रीमती सुरचना त्रिवेदी

❋❋❋

पुराण साहित्य में 'श्रीमद्भागवत' दार्शनिकता एवं विशाल व्यापक धार्मिकता के कारण सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। प्राय: भारतीय दर्शन के परम्परागत सभी सिद्धान्तों का समन्वय भागवत दर्शन में परिलक्षित होता है। भारतवर्ष में सदाचार का पालन भागवत दर्शन में परिलक्षित होता है। भारतवर्ष में सदाचार का पालन आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रथम आवश्यक सोपान है। दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। दर्शन विचारों का प्रतिपादन करता है और इन्हीं विचारों के अनुकूल आचारों की सुव्यवस्था करना धर्म का कार्य है। दर्शन सिद्धान्तों का प्रतिपादक और नियामक है, तो धर्म व्यवहार का मार्ग-दर्शक है। धार्मिक आचार के कार्यान्वित हुए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल रहेगी और दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव से धर्म की सत्ता प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक एवं व्यावहारिक दृष्टि है। दर्शन की आधारशिला पर विकसित होने के कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है[१]। इसलिए भारतीय दर्शन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है।

मूलत: जीवन और सृष्टि के विषय में चिन्तन को दर्शन कहा जा सकता है। 'दर्शन'शब्द का अर्थ है—'जिसके द्वारा देखा जाय'—**'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्'**। 'दर्शन' शब्द की सिद्धि 'दृश' धातु से कारण में ल्युट् प्रत्यय[२] का योग करने पर होती है। ज्ञान दृष्टि या दिव्य दृष्टि से देखना ही शब्द का अभिधेय है।[३] दर्शन साध्य नहीं है।

भारतीय ऋषि-मुनियों के तत्त्व-चिन्तन का विकास वेदों से प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद से उपनिषद् तक दर्शन के लिए उषाकाल था। उपनिषदों में दर्शन ऊँची

१. धर्म और दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ३०९।
२. संस्कृत हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे, पृ. ४५०।
३. भारतीय दर्शन, डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, पृ. १।

उड़ाने भरता जा रहा था, किन्तु व्यवस्थित रूप सूत्रकाल में आकर होता है। ई. पू. छठी शताब्दी में भारत में धार्मिक एवं वैदिक क्रान्ति आयी, परिणामतः वैदिक तत्त्व दर्शन की तीन धाराएँ सूत्रकाल में षड्दर्शनों के रूप में निर्मित हुई। वैदिक परम्परा का आधार लेकर विचारकों ने षड्दर्शनों में शृंखलाबद्ध किया। इन्हें वैदिक दर्शन कहा गया है। वैदिक संस्कृत के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप चार्वाक, बौद्ध, जैन दर्शनों की उत्पत्ति हुई, जिन्हें अवैदिक (नास्तिक) दर्शन कहते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन का विकास विभिन्न रूपों में मिलता है।

'श्रीमद्भागवत पुराण' भक्ति और धर्म का महान् ग्रन्थ है। उसमें साहित्य और दर्शन का भी पूर्ण सामञ्जस्य वर्तमान है। भागवतकार की दृष्टि समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करने में निपुण है। प्रायः सभी दर्शनों के मूल तत्त्वों का विवेचन किसी न किसी रूप में इस महनीय ग्रन्थ में प्राप्त है। मुख्य रूप से वेदान्त दर्शन की प्रतीति अनेक स्थलों पर होती है। मंगलाचरण द्रष्टव्य है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि[1] ॥

एकमात्र सत् है, जड़ नहीं चेतन है, जो स्वयं प्रकाश है, जिसमें त्रिगुणमयी मिथ्या होने पर भी अधिष्ठापन सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रहा है। सत्यरूप को हम स्मरण करते हैं—**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**[2]—मोक्षपर्यन्त फल की कामना से रहित परमधर्म का निरूपण हुआ है। **निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्**[3] यह परमानन्दमयी सुधारस से परिपूर्ण है, यह साक्षात् रस है, जिसका जीवनपर्यन्त भी पान किया जाये, तो भी आत्मा तृप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार तीन श्लोकों में भागवत का प्रतिपाद्य आत्मा और ब्रह्म का एकत्व भाव है एवं सब वेदों का सार है—**सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्**[4] इसमें स्थल-स्थल पर दर्शन है—एक में अनेक का भास है।

दर्शन के परिप्रेक्ष्य में भारत की प्राचीनता पर दृष्टिपात करें, तो देखते हैं सर्वप्रथम एक ही दर्शन था, जिसे विश्वदर्शन कहते हैं। शनैः-शनैः सांख्य-योग दर्शन उसका परिवर्तित रूप हो गया, जो संस्कृतसाहित्य को वैदिक विरासत के रूप में मिला है। सांख्य-योग का प्रवर्तक कपिल को बताया गया है—भागवत में ब्रह्मा

१. श्रीमद्भागवत १/१/१; २. श्रीमद्भागवत १/१/२।
३. श्रीमद्भागवत १/१/३; ४. श्रीमद्भागवत १२/१३/१२।

जी स्वतःसिद्ध ज्ञान से सम्पन्न हैं। उन्होंने जाना कि—**भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वनजः स्वराट्**[१]। भागवत में अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। सांख्यशास्त्र से तात्पर्य सम्यग् ज्ञान से है। अमरकोश में सांख्यशब्द का तात्पर्य चर्चा या विचारणा भी है[२]।

समन्वय को आदिकाल में वेदों, उपनिषदों में स्वीकार किया गया, उसी ऐक्यभाव को भारतीय षड्दर्शनों में भी ग्रहण किया है। मूल रूप से सभी दर्शनों में किञ्चित् भेद से अन्तर स्थापित है। वास्तविक रूप से दर्शनों का विषय जीव, जगत्, ब्रह्म, माया ही है, जो समन्वय रूप को प्रदर्शित करते हैं।

गीता में—**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**[३]—सांख्ययोग को अल्पज्ञानी अलग मानते हैं, विद्वान् नहीं। योग सांख्य का पूरक है, वह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कृष्ण ही है, वह कर्म कृष्णमय ही है—

वासुदेपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः[४]॥

योग कर्म सब श्रीकृष्ण के लिए किये जाते हैं। भागवत में अनेक स्थलों पर तत्त्वों का विवेचन किया गया है। योग दर्शन की दृष्टि से दशम स्कन्ध का विशेष महत्त्व है। अनाहत नाद ही भगवान् कृष्ण की वंशी की ध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ है, कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्त्रदल कमल वृन्दावन है, जहाँ आत्मा परमात्मा का सुखमय मिलन होता है। जहाँ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य नृत्य करती हैं। दशम स्कन्ध में भगवान् के महायोगेश्वर रूप की झलक भी है—

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः[५]।

सम्पूर्ण योगों के स्वामी दो-दो गोपियों के मध्य प्रकट हो गये। रस की भाँति भगवान् कृष्ण की बालक्रीड़ाएँ भी माता को आश्चर्ययुक्त करती हैं—बाल-सुलभ चेष्टा भगवान् के द्वारा मिट्टी खाने पर जब माता ने मुख में देखा, तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही—

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य य कश्चनोत्पत्तिक आत्मयोगः[६]॥

---

१. श्रीमद्भागवत ३/२४/१०;
२. अमरकोश प्रथम खण्ड, धीवर्ग;
३. श्रीमद्भगवद् गीता ५/४;
४. श्रीमद्भागवत १/२/२८;
५. श्रीमद्भागवत १०/३३/३;
६. श्रीमद्भागवतपुराण १०/८/४०।

मेरे बालक में कोई जन्म-जात योगसिद्धि है। इस प्रकार भागवत में योग दर्शन का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है।

भारतीय वाङ्मय में 'न्याय' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु 'घञ्' प्रत्यय होकर न्याय शब्द बनता है। जिसका अर्थ 'उचित' होता है[१]। दर्शनशास्त्र में—**'नीयते प्राप्यते विनिश्चितार्थं सिद्धिरनेन इति न्यायः**[२]। न्यायवैशेषिक दोनों दर्शन समान हैं, ये दोनों ही परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। ब्रह्म परमाणु जैसी सूक्ष्म अवस्था में रहता हुआ प्रलय पर्यन्त सभी अवस्थाओं को भोगता है। परमेश्वर की सृष्टिविषयक इच्छा होने पर परमाणुओं में परस्पर स्पन्दन होता है—**अणुर्द्वौ परमाणुः स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः**[३]।

दो परमाणु से अणु और तीन अणुओं से त्रसरेणु होता है। न्याय वैशषिक दर्शन एक प्रकार से यथार्थवादी ईश्वरवाद को स्वीकार करता है। नित्य आत्मा एवं ईश्वर की सिद्धि का प्रयास इसकी अपनी विशेषता है। जीव, जगत्, ईश्वर, तीन सत्य और सनातन सत्ताएँ हैं। सत्य-असत्य का भेद न्याय का प्रमुख विषय है। भागवत के अन्तर्गत न्यायवेशैषिक के अनेक तत्त्वों का दिग्दर्शन सुन्दर और सरल रूप में किया गया है।

'मीमांसा' शब्द 'मान्' धातु से जिज्ञासा अर्थ से सन् प्रत्यय होकर बनता है। जिसका तात्पर्य धर्म एवं ब्रह्म स्वरूप की व्याख्या करना है। मीमांसा दर्शन के दो विभाग हुए—धर्म तथा ब्रह्म। ब्रह्म, आत्मा, जीव आदि तत्त्व उपनिषदों से सम्बन्धित हैं। इसलिए इसको उत्तरमीमांसा तथा वेद का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त भी कहते हैं।

मीमांसा के प्रथम आचार्य जैमिनि हैं, जिन्होंने मीमांसा सूत्रों की रचनाएँ कीं। डॉ. राधाकृष्णन् ने मीमांसा का समय ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व माना है[४]। जैमिनि को पाणिनि का समकालीन कहा है; क्योंकि पंचतन्त्र के एक श्लोक में साथ-साथ नाम आया है[५]।

मीमांसा वेद को नित्य एवं शाश्वत मानता है; क्योंकि जिस समय वैदिक कर्मकाण्ड एवं धर्मपरम्परा छिन्न-भिन्न हो रही थी, उसकी रक्षा के लिए महर्षि जैमिनि ने वेद प्रामाण्यवाद का विशाल भवन बनाया, जिसमें कर्म एवं धर्म को श्रेय-प्राप्ति

---

१. परिन्योर्नीणोद्यूताभ्रेषयो पा. सं. ३/३/३; २. न्यायभाष्य-वात्स्यायन १/१/१;
३. श्रीमद्भागवतपुराण ३/११/५; ४. भारतीय दर्शन, डॉ राधाकृष्णन्, पृ. ३१७
४. मीमांसाकृतमुन्ममाथ हस्ती मुनिं जैमिनिम्—पंचतन्त्र।

का साधन बताया। कर्म, अकर्म, धर्म-अधर्म का फलरूप वहीं एक मात्र तत्त्व है—

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च[१] ।।

भागवत में कर्म, ज्ञान एवं उपासना का भी सुन्दर समन्वय किया गया है। अनेक प्रसङ्ग धर्मप्रधान कर्म की पुष्टि करते हैं—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्[२] ।।

भारतीय दर्शन में वेदान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसका मूलाधार ज्ञान है। वैदिक साहित्य में, उपनिषदों में, आरण्यकों में जो ज्ञान का रूप बिखरा हुआ था, उन सबका रूप वेदान्त में लक्षित होता है। सृष्टि के पूर्व तथा पश्चात् में एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्ती मानते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्[३] ।।

इस प्रकार भागवत में वेदान्त विभिन्न रूपों में आया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भागवत में दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध शैली में अभिव्यक्त किया गया है। महर्षि वेदव्यास ने सभी दर्शनों के मूल तत्त्वों का विवेचन किसी न किसी रूप में इस महागौरवशाली ग्रन्थ में किया है। इसमें काव्य का महासागर अपनी अपार मर्यादा में लहरा रहा है। कहीं मानव धर्म, कहीं कर्मयोग, कहीं वेदान्त का आश्रय लेकर भक्तिपरक तथ्यों को दार्शनिकता के आधार पर स्पष्ट किया गया है, किन्तु सभी दर्शन समान रूप से आध्यात्मिक सत्य को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं।

भागवतकार ने सभी दर्शनों को समन्वित करते हुए वेदान्त दर्शन की प्रधानता स्थापित की है एवं उसे भक्तितत्त्व से अनुप्राणित किया है, जिस कारण दार्शनिक सिद्धान्तों में भी रसात्मकता आप्लावित हो गयी है।

●

---

१. श्रीमद्भागवत ४/२४/४१; २. श्रीमद्भागवत ५/७/५।
३. श्रीमद्भागवत २/९/३२।

श्रीमद्भागवत पुराणान्तर्गत सांख्ययोग की अवधारणा

डॉ. गीता शुक्ला

❀❀❀

'दृश्' (प्रेक्षणार्थक) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'दर्शन'[१] शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'देखना', परन्तु चर्मचक्षु से नहीं, प्रत्युत प्रज्ञाचक्षु से देखना दर्शन है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस साधन के द्वारा इस विश्व, ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति का यथार्थ (वास्तविक) निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षा एवं विवेचन किया जाता है, वह दर्शन है। इस प्रकार दर्शन शब्द के अन्तर्गत समग्र आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक विवेचन होता है।

भारतीय दर्शन नास्तिक तथा आस्तिक के भेद से दो प्रकार के हैं। नास्तिक के अन्तर्गत मुख्यत: चार्वाक, जैन व बौद्ध आते हैं तथा आस्तिक छ: हैं, जिन्हें युगलत्रय के रूप में जाना जाता है—सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त। उल्लेखनीय है कि वैसे तो सांख्य और योग पृथक् हैं, परन्तु कहीं सेश्वर सांख्य को योग तो कहीं केवल सांख्य के लिए सांख्ययोग का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—श्रीमद्भागवत[२] में सांख्ययोग केवल सांख्य के लिए प्रयुक्त है, इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्ययोग केवल सांख्य के लिए प्राप्त होता है[३]। महत्त्व की दृष्टि से दोनों के लिए मात्र एक-एक उक्ति का उल्लेख ही पर्याप्त है। सांख्य के लिए **'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्'** तथा योग के लिए **'नास्ति योगसमं बलम्'**।

भारतीय साहित्य में पौराणिक युग का आविर्भाव एक नयी दिशा का सूचक रहा, जबकि पुराणों की प्राचीनता वेदों जितनी प्राचीन है। पुराणों के महान् ज्ञान का प्रवर्तन ब्रह्मा जी ने किया था, इसका विस्तृत विवेचन 'वायुपुराण' में उपलब्ध होता है[४]। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही 'पुरातन' अथवा 'प्राचीन' है[५]। पुराण शब्द की अनेक

---

१. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे

२. भगवत: भगवत्या वा इदं सोऽस्य देवता वा भगवत + अण्। अर्थ है भगवान् विष्णु या कृष्ण से सम्बन्ध रखने वाला।

३. श्रीमद्भगवद्गीता १३/२४ में सांख्येन योगन दोनों पद सांख्ययोग के वाचक है।

४. तथा 'शास्त्रों में ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम पुराणों का स्मरण-उपदेश दिया, पीछे उनके मुख से वेद प्रकट हुए (मत्स्यपुराण)।

५. ऋग्वेद में पुराण शब्द एक दर्जन से अधिक बार आया है, जिसका अर्थ है प्राचीन, पुरातन या वृद्ध।

व्युत्पत्तियों[१] में से एक है 'पुरार्थेषु आनयतीति पुराणम्' 'पुरार्थ' का अर्थ है 'विकृति' (सृष्टि) से पूर्व विद्यमान प्रकृति-पुरुषात्मक नित्य तत्त्व सांख्यादि दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष का परिणाम ही यह संसार है। अन्यत्र भी कहा गया है कि विश्वसृष्टेरितिहासः पुराणम् अर्थात् विश्व-सृष्टि का इतिहास ही पुराण हैं[२]।

पुराण संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग तथा उपजीव्य हैं। पुराणों का प्रधान उद्देश्य विशेषज्ञान तथा वैराग्य का वर्णन है, राजाओं के चरित्रचित्रण का वर्णन करना नहीं[३], परन्तु पुराणों में आदि वंशों की दिव्य कथाएँ वर्णित होती हैं[४]। वैदिक धर्म के प्रतिपादक पुराणों में इतिवृत्तों की अधिकता है, इसलिए इन्हें इतिहास समझा जाता है, किन्तु वास्तव में पुराण इतिहास नहीं है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण व शंकर जैसे प्रामाणिक विद्वानों ने इतिहास और पुराण की सत्ता को पृथक् स्वीकार किया है। अन्यत्र भी दोनों को भिन्न रूप में बतलाया गया है। जैसे स्कन्दपुराण[५] निरुक्त महाभारत (नीलकण्ठ की टीका) आदि में।

जो भी हो याज्ञवल्क्य स्मृति में चतुर्दशविद्याओं में पुराण विद्या को प्रमुख स्थान दिया गया है[६]। छान्दोग्य उपनिषद् में पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है[७]। श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी पुराणों के रचयिता थे। कहा गया है कि—

द्वैपायने प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा[८]
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।। आदि।

अठारह पुराणों को त्रिदेवों के अनुसार तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। १. विष्णुविषयक (सात्त्विक) २. ब्रह्माविषयक (राजस) ३. शिव विषयक (तामस)।

पुराण के लक्षणों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। देखिए—

दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित् पञ्चविधं प्राहुर्महदल्पव्यवस्था[९] ।।
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

---

१. 'पुरा परम्परा वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्। (वायुपुराण) 'पुराभवं पुराणं' (निरुक्त) पुराणं पुरावृत्तम् (महाभारत नीलकण्ठ की टीका)
२. पुराणों के समीक्षक पं. मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ (पुराणोत्पत्ति प्रसंग) में।
३. भागवत पुराण १२/३/१४।
४. पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाच्च धीमताम्—महाभारतम्।
५. इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात् प. पु. उ. ख. ४०/१९८।
६. याज्ञवल्क्यस्मृति १/३।
७. इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। छान्दोग्योपनिषद् ७/१/२।
८. महाभारत नीलकण्ठ टीका १/१/१७; ९. भागवत १२/७/१०।

वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

दर्शन एवं पुराण के परिचय पर संक्षिप्त विचार करने के पश्चात् श्रीमद्भागवत का परिचयात्मक विवेचन अनिवार्य है। श्रीमद्भागवत पुराण में द्वादश स्कन्ध, तीन सौ पैंतीस अध्याय तथा चौबीस हजार श्लोक हैं[1]। भागवत में भगवान् विष्णु के विख्यात अवतार श्री कृष्ण का रुचिर चरित्र वर्णित है। यह पुराण सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्द-माधुरी व अर्थमाधुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है।

भागवत को महापुराण माना गया है; क्योंकि उसमें कवि बुद्धि को प्रभावित करने योग्य पर्याप्त उपकरण विद्यमान हैं। भागवत पुराण पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है, यह समस्त श्रुतियों का सार है। **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** उक्ति तथ्यवाद है अर्थवाद[2] नहीं। श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य उपनिषदों के समान ही ब्रह्म और आत्मा को एकत्व रूप अद्वितीय सद्वस्तु है' तथा भागवत के निर्माण का प्रयोजन कैवल्य या मोक्ष है, अतः पर्याप्त दार्शनिक तथ्यों का निरूपण इसमें हुआ है।

श्रीमद्भागवतपुराण में सांख्ययोग की अवधारणा अधोलिखित स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन	३/२६
प्रकृति-पुरुष के विवेक से मोक्ष का वर्णन	३/२७
अष्टांग-योग की विधि	३/२८
अट्ठाईस तत्त्वों का उल्लेख	११/१९
तत्त्वों की संख्या और प्रकृति-पुरुष विवेक	११/२२
उद्धव को सांख्ययोग का ज्ञान	११/२४
गुणों की वृत्तियों का निरूपण	११/२५

इसके अतिरिक्त ४/३१, १०/४७, ११/२४, तथा १२/७ में सांख्य के सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है।

सांख्याचार्य कपिल[3] अपनी माता देवहूति को सांख्य के प्रकृति आदि समस्त तत्त्वों के पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि इन तत्त्वों के ज्ञान से

---

१. पद्मपुराण १९८/५१ (श्रीमद्भागवतमाहात्म्य के प्रसंग में)।

२. प्रशंसा अथवा स्तुति अर्थ में प्रयुक्त।

३. ब्रह्मा के पुत्र कर्दम प्रजापति तथा मनुपुत्री देवहूति के पुत्र, भगवान् के अंशावतार, सांख्ययोग के प्रवर्तक आचार्य, माता को ज्ञानोपदेश देकर मुक्ति का मार्ग दिखाया।
—भागवत ३/२४।

मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। मैं इस आत्म-दर्शन रूप ज्ञान का वर्णन कर रहा हूँ, जो मोक्ष का कारण तथा अहंकार रूप हृदय-ग्रन्थि का छेदन करने वाला है।

भागवत के तृतीय स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय में सांख्यदर्शन की पद्धति के अनुसार ही प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

भगवान् कपिल कहते हैं कि—

यतस्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्[1] ।।

इस प्रकार प्रकृति का लक्षण बतलाकर पुरुष का स्वरूप वर्णित किया है[2]। सगुण ब्रह्म के सन्निवेश स्थान चौबीस तत्त्वों का समूह, जिसे विद्वान् प्रकृति का कार्य कहते हैं, उसके अतिरिक्त जो काल है, वह पचीसवाँ तत्त्व है। कुछ लोग काल को पुरुष से भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुष का प्रभाव अर्थात् ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति बताते हैं। इस प्रकार जिसकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है। वास्तव में वे पुरुष रूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं, जो अपनी माया द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीवरूप से तथा बाहर काल रूप में व्याप्त हैं[3]।

जब परमपुरुष परमात्मा ने जीवों के अदृष्टवश क्षोभ को प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्तिस्थानस्वरूपा अपनी माया में अपनी विच्छित्ति रूप वीर्य स्थापित किया, तो उससे लयविक्षेप आदि रहित जगत् के अङ्कुर रूप तेजोमय महत् उत्पन्न हुआ, उसके पश्चात् प्रकृति के कार्य। २४ तत्त्वों[4] को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

परमपुरुष की चित्शक्ति से उत्पन्न महत्तत्त्व

↓

क्रिया शक्ति प्रधान तीन प्रकार का अहंकार (२३)

↓ ↓ ↓

वैकारिक तैजस तामस

↓

---
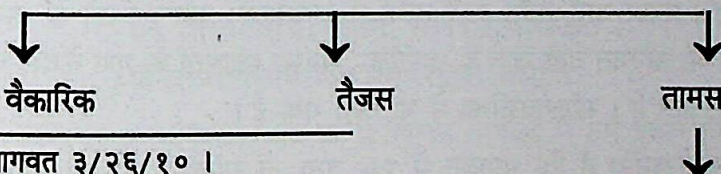
१. भागवत ३/२६/१०।
२. भागवत ३/२६/१७ व १८।
३. भागवत ३/२६/१४-१८।
४. भागवत ३/२६/१०।

इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन (२४)   बुद्धि (२५) व इन्द्रियाँ

शब्द तन्मात्रा

↓

आकाश तथा श्रोत्रेन्द्रिय (शब्द का ग्रहण कराने वाली)

↓

स्पर्श

↓

वायु तथा त्वगिन्द्रिय

↓

रूप

↓

तेज तथा नेत्रेन्द्रिय

↓

रस

↓

जल तथा रसनेन्द्रिय

↓

गन्ध

↓

पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय
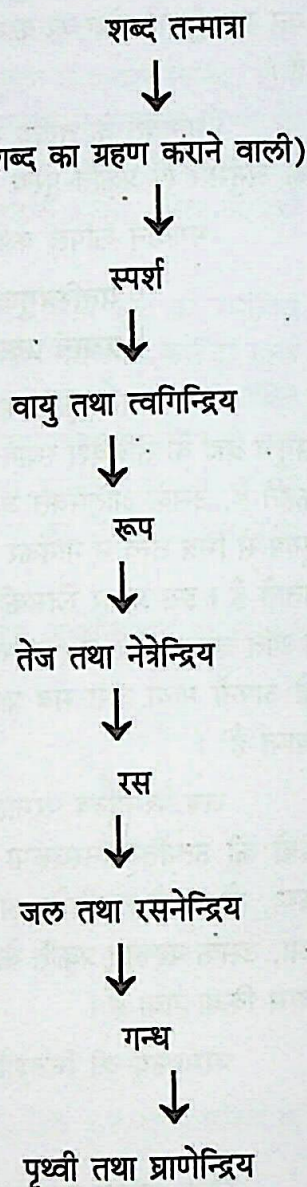
इस प्रकार वायु आदि कार्य तत्त्वों में आकाशादि कारण तत्त्वों के रहने से उनके गुण भी अनुगत देखे जाते हैं, इसीलिए समस्त महाभूतों के गुण केवल पृथ्वी में ही पाये जाते हैं। सांख्यकारिका में भी कहा गया है।

उल्लेखनीय़ है कि भागवत में २५ तत्त्व तो सांख्य दर्शन की भाँति हैं, परन्तु उत्पत्ति का क्रम उससे भिन्न है।

श्रीमद्भागवत पुराण में मोक्ष का स्वरूप सांख्य के अनुसार ही स्वीकार किया गया है। भागवत के तीसरे स्कन्ध के सत्ताइसवें अध्याय में मोक्ष का विवेचन उपलब्ध होता है।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

इसके अतिरिक्त भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के इकतीसवें अध्याय में श्रीनारद जी द्वारा कहा गया मोक्ष वर्णन भी सांख्य के अनुसार ही है।

यथा नभस्यभ्रतमः प्रकाशा भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात् ।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वं रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः ।।

दशम स्कन्ध में वर्णित तत्त्वोपदेश भी सांख्यानुसार ही है।

एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।

इसी प्रकार बद्धमुक्त इन दोनों का विवेचन भी सांख्याधारित है। श्रीमद्भागवत पुराण में प्रकृति-पुरुष के विवेक से मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख है।

मुक्तभोगा परित्यक्ता इष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।

सांख्य में सर्गकारणत्व का जैसा प्रतिपादन किया गया है, भागवत में भी प्राप्त होता है।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।।

इसी प्रकार एकादश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उद्धव के प्रति वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया तथा प्रलय के प्रकार का वर्णनपूर्वक मोक्ष का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ।।

और भी—

एवं सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदशा भया ।।

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव का प्रतिपादन भागवत में इस प्रकार किया गया है।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायाभूतत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ।।

द्वादश स्कन्ध में सांख्य के तत्त्वों का वर्णन सांख्यरीति से ही किया गया है—सप्तम अध्याय में श्लोक १० से २० पर्यन्त।

अव्याकृतगुणः क्षोभाद् महतस्त्रिवृततोऽहमः ।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ।।

जबकि भागवत में ही तत्त्वों की संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद प्रदर्शित किया गया है, परन्तु श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषय में जो कुछ कहते हैं, वे सभी ठीक हैं; क्योंकि सभी तत्त्व सब में अन्तर्भूत हैं। जगत् के कारण के सम्बन्ध में विवाद इस लिए होता है कि मेरी शक्तियों और वृत्तियों को लोग समझ नहीं पाते। गुणों के क्षोभ से ही यह विविध कल्पना रूप प्रपञ्च (जो वस्तु नहीं केवल नाम है) उठ खड़ा हुआ है। इसीलिए चार, छः, सात, नौ, ग्यारह, तेरह, सोलह, सत्रह, पचीस व छब्बीस तत्त्व गिनाये गये हैं।

उद्धव जी कहते हैं कि भागवत में ही एक स्थान पर २५ तथा अन्यत्र २८ तत्त्व बतलाये गये हैं, इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि यदि तीनों गुणों को प्रकृति की साम्यावस्था न मानकर पृथक्-पृथक् मान लिया जाय, तो तत्त्वों की संख्या स्वयं अट्ठाईस हो जाती है।

पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये नौ, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद पायु, और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन (उभयेन्द्रिय) ज्ञानेन्द्रियाँ के पाँच विषय इस प्रकार ३+९+११+५ सब मिलकर अट्ठाईस तत्त्व होते है।

उल्लेखनीय है कि कर्मेन्द्रियों द्वारा होने वाले जो पाँच कर्म हैं, उनसे तत्त्वों की संख्या नहीं बढ़ती, इन्हें कर्मेन्द्रिय स्वरूप ही मानना चाहिए। इस प्रकार सबकी संख्या युक्तियुक्त है, जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी मत में बुराई नहीं दिखती। यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी विकारात्मक सृष्टि को अध्यात्म, अधिदैव तथा अभिभूत इन तीन भागों में बाँट सकते हैं, परन्तु इन त्रिविध तत्त्वों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा के विषय में अस्ति-नास्ति, सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि जितने भी विवाद हैं, उन सबका मूल कारण भेद-दृष्टि है।

हे उद्धव! मनुष्यों का मन कर्म-संस्कारों का पुंज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिए उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी रहती हैं, इसी का नाम लिङ्गशरीर है[३९]। वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे लोक में आता

जाता रहता है। आत्मा इस लिंगशरीर से सर्वथा पृथक् है, इसका आना जाना नहीं होता, परन्तु जब वह अपने को लिङ्गशरीर ही समझ बैठता है, उसी में अहंकार कर लेता है, तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है।

दर्शन में जन्म और मृत्यु को अलग ढंग से परिभाषित किया गया है, भागवत पुराण के अनुसार किसी भी कारण से शरीर को सर्वथा भूल जाना मृत्यु है और जब यह जीव किसी भी शरीर को अभेद-भाव से मैं के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं।

काल की गति सूक्ष्म है, उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता, उसके द्वारा प्रतिक्षण शरीरों की उत्पत्ति व नाश होते रहते हैं।

अतः जो अपने कल्याण के इच्छुक हैं, उन्हें सभी कठिनाईयों से अपने को अपनी विवेक बुद्धि से बचा लेना चाहिए। वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एकमात्र साधन है।

ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है, वह केवल-अद्वितीय सत्य है। मन और वाणी की उसमें गति नहीं है। वह ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीव के रूप में दृश्य और द्रष्टा के रूप में दो भागों में विभक्त सा हो गया, उनमें से एक वस्तु को प्रकृति कहते हैं। उसी ने जगत् में कार्य-कारण का रूप धारण किया है। दूसरी वस्तु को जो ज्ञान स्वरूप है, पुरुष कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने ही जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया, तो किस प्रकार प्रकृति-कार्य हुआ।

प्रकृति

जगत् में छोटे बड़े जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति-पुरुष के संयोग से सिद्ध होते हैं। जो किसी भी कार्य के आदि और अन्त में विद्यमान रहता है, वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहार के लिए की हुई कल्पना मात्र है। कंगन कुण्डल आदि सोने का विकार है । पहले वे सोना थे, बाद में भी सोना ही रहेंगे। इस प्रपञ्च का उपादान कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है। व्यवहार काल की यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ। जब मैं काल रूप से इसमें व्याप्त होता हूँ, तब यह विनाश रूप विभाग के योग्य हो जाता है। उसके लीन होने की प्रक्रिया को मैंने इस प्रकार से प्रदर्शित किया है।

प्राणियों के शरीर > अन्न > बीज > भूमि > गन्ध > जल > रस > तेज > रूप > वायु > स्पर्श > आकाश > शब्द तन्मात्रा में विलीन हो जाता है।

इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओं में और अन्ततः राजस अहंकार में, राजस पंचमहाभूतों के कारण तामस अहंकार में और सारे जगत् को मोहित करने वाला त्रिविध अहंकार महत्तत्त्व में लीन हो जाता है। द्विविध (क्रिया-शक्ति व ज्ञान-शक्ति प्रधान) महत्तत्व अपने कारण गुणों में, गुण अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी काल में लीन हो जाती है। काल मायामय जीव में और जीव मुझ अजन्मा आत्मा में लीन हो जाता है। आत्मा किसी में लीन नहीं होता।

जो इस प्रकार विवेक दृष्टि से देखता है, उसके चित्त में प्रपंच का भ्रम हो ही नहीं सकता। क्या सूर्योदय होने पर अन्धकार ठहर सकता है ?

इसी प्रकार उद्धव को श्रीकृष्ण जी के द्वारा अष्टांग-योग की विधि बतलाई है, जिसका सारांश यह है कि गुणों और दोषों पर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और अपने शान्त निःसंकल्प स्वरूप में स्थित रहना ही सबसे बड़ा गुण हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण में सांख्ययोग की अवधारणा का सम्यग् रूप से विवेचन किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि इसमें सांख्य योग का प्रतिपादन तो है ही, साथ में अन्य दर्शनों का विधिवत् वर्णन उपलब्ध होता है। इसीलिए भागवत में सर्वत्र दार्शनिकता दृष्टिगोचर होती है।

●

श्रीमद्भागवत पुराण में सृष्टितत्त्व

डॉ. रीना अस्थाना

❁❁❁
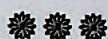
पौराणिक सृष्टि-विद्या का अपना वैशिष्ट्य है, स्वातन्त्र्य है। सांख्य मत से प्रभावित होने पर भी उसमें अपना व्यक्तित्व है। श्रीमद्भागवत में समस्त सूक्ष्म-स्थूल सृष्टि का विकास सांख्यानुसार ही प्रकृति पुरुष के संयोग से विकसित है। पुराणों पर सांख्य दर्शन का विपुल प्रभाव दृष्टिगत होता है, इसलिए श्रीमद्भागवत पुराण में कहा गया है—

अणुबृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च[1] ।।

पुराण में सृष्टितत्त्व पर सांख्य का प्रभाव पड़ा है। सांख्य में सृष्टि का विकास प्रधान (प्रकृति) तथा पुरुष इन दोनों तत्त्वों के पारस्परिक प्रभाव तथा संयोग का परिणत फल है। इन दोनों तत्त्वों को पुराण में विष्णु के दो रूप माने गये हैं अर्थात् उत्पत्ति विष्णु की सत्ता पर आधारित है।

श्रीमद्भागवत में अखिल प्रपञ्च का उपादान प्रकृति तथा परमात्मा को अधिष्ठाता कहा है[2]। भागवत में परमात्मा के सम्पर्क से विकाररहित[3] प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट हुआ, जो अज्ञान का नाशक होने के साथ-साथ सूक्ष्म प्रपञ्च का प्रकाशक भी कहा गया है[4]। महत्तत्त्व से सात्त्विक, राजस, तामस भेद वाला त्रिविध अहंकार उत्पन्न हुआ[5]। भागवत में इसी त्रिविध अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ एकादशेन्द्रियाँ तथा उनके ग्राह्य विषयों की उत्पत्ति हुई है। इसी उत्पत्ति क्रम को सर्ग कहा गया है[6]।

---

१. भागवतपुराण ११/२४/१६।
२. भागवतपुराण ११/२४/१९।
३. भागवतपुराण ३/५/२६।
४. भागवतपुराण ३/५/२७, ११/१२/१८, ११/६/१६।
५. भागवतपुराण ११/२२/३२।
६. भागवतपुराण १२/७/११।

भागवत में सृष्टि का प्रारम्भ विविध रूप अहंकार से ही आरम्भ होता है। सांख्य में विभाजक तत्त्व अहंकार है, इसलिए अहंकार को सृष्टि वैविध्य का प्रयोजक माना गया है[१]।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में सांख्यानुसार सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन उपलब्ध होता है।

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ।।
तमःप्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।
सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा ।।

इसमें बताया गया है कि भूलोक कल्पित पैर इस भूलोक का नाभि है। ग्रीवा जनलोक और तपोलोक दो स्तन माने गये हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णन भी प्राप्त होता है। यथा—

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ।।
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धाभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ।।
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तलातलम् ।।
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्[२] ।।

सर्ग वर्णन की इस प्रक्रिया के अनुसार आद्य तत्त्व प्रकृति से महत् सम्भूत हुआ[३]। स्वकारणावृत महान् से वैकारिक, तैजस तामस रूप से त्रिविधाहङ्कार विकसित हुआ[४]।

तामस अहंकार से एक ओर पञ्चतन्मात्र[५] तो दूसरी ओर तैजस अहंकार से इन्द्रिय वर्ग निर्गत हुआ[६]। वैकारिक अहंकार से इन्द्रियाधिष्ठातृदेव दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र, प्रजापति उत्पन्न हुए[७]। पञ्चतन्मात्रा से पञ्चमहाभूत निर्गत हुए ये पूर्व भूतों के गुणों से अनुगत थे[८]। पृथक्-

१. भागवत ११/२२/३२, ११/६/१६;
२. भागवत २/५/२२-४१।
३. भागवत ३/५/२७, २/१०/४६;
४. भागवत ३/५/३०, १२/७/११।
५. भागवत ११/२४/७;
६. भागवत ३/५/३०,३१।
७. भागवत ११/२५/८२/५/२८;
८. भागवत ११/२४/७।

पृथक् प्रजा सर्जन में असमर्थ थे। अतः क्षेत्रज्ञ के अधिष्ठातृत्व में अव्यक्तानुग्रह से इनका संश्लेषण हुआ[१] जिससे एक अण्ड का निर्भेदन कर उससे विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी भुजा, चरण, नेत्र, मुख तथा शीर्ष अनन्त थे[२]। उसके ऊपर भाग से स्वर्गादि लोक कल्पित हुए। इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा चरण से शूद्र निर्गत हुआ। इसी के चरणों से पृथ्वी उद्भूत हुई।

इस सृष्टिप्रक्रिया के अतिरिक्त पुराणों में नवसर्ग का वर्णन भी प्राप्त होता है, परन्तु श्रीमद्भागवत में इसमें एक सर्ग और जोड़कर इसे दश संख्या बतलायी गयी हैं[३], जो तीन भागों में विभाजित किये गये—१. प्राकृत सर्ग २. वैकृत सर्ग और ३. प्राकृत-वैकृत-सर्ग।

प्राकृत सर्ग के विषय में पुराणों का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् सृष्टि नैसर्गिक रूप में होती है, उस और उसके निमित्त ब्रह्मा को अपनी बुद्धि या विचार को कार्यरूप में लाने की आवश्यकता नहीं होती है। वैकृत सर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा सोच समझकर सर्गों का निर्माण करते हैं। भागवतपुराण के अनुसार सर्गों का विवरण अधोलिखित है—

प्राकृत सर्ग

1. ब्रह्म सर्ग–

इस सर्ग को भागवत पुराण में महत् सर्ग कहा गया है। ब्रह्मा शब्द गीता के अनुसार महद् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का बोधक है। बुद्धि या महत्तत्त्व ही प्रकृति-पुरुष के संयोग का प्रथम परिणाम है।

2. भूत सर्ग–(पञ्चतन्मात्रा सर्ग)

पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है, तन्मात्राएँ पृथिव्यादि पञ्चभूतों की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था के द्योतक तत्त्व हैं।

3. वैकारिक सर्ग–(इन्द्रिय सर्ग)

इन्द्रियसम्बन्धी सृष्टि को ही वैकारिक सर्ग कहा जाता है। पुराणों के मतानुसार अहंकार के तामस रूप से पञ्च तन्मात्राओं का जन्म होता है तथा सात्त्विक रूप से इन्द्रियों का जन्म होता है। राजसरूप दोनों की सृष्टि में समान रूप से क्रियाशील रहता है।

इसके अतिरिक्त ऐन्द्रिय तामस और अहंकार भी प्राकृत सर्ग कहे गये हैं।

---

५. भागवत २/५/३३ ३/२६/५१; ६. भागवत ३/२६/५२।
७. भागवत ३/२६/५२।

वैकृत सर्ग

मुख्य सर्ग—सर्ग के आदि में ब्रह्मा जी के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर पहले पञ्चपर्वा अविद्या के रूप में अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ। तम (अज्ञान) मोह, महामोह (भोगेच्छा) तामिस्र (क्रोध) तथा अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) में अविद्या के पञ्चपर्व या पञ्च प्रकार हैं। पुनः ब्रह्मा जी के ध्यान करने पर जो सृष्टि हुई, वह ज्ञानशून्य भीतर बाहर से तमोमय तथा जड़ नगादि (वृक्ष गुल्म लता तृण वीरुध) नामक पाँच प्रकार के जड़ पदार्थों की थी, यह जड़सृष्टि मुख्य सर्ग के नाम से इसलिए अभिहित की गयी है कि भूतल पर चिरस्थायिता की दृष्टि से पर्वतादिकों की मुख्यता है।

तिर्यक् सर्ग

तिर्यक नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते हैं। इस सर्ग के प्राणियों में पशु तथा पक्षी आते हैं। ये अज्ञानी विवेक से रहित अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले तथा विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं।

देवसर्ग

ब्रह्मा की प्रसन्नता का हेतु वह सर्ग है, जो परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधक सिद्ध हो, तिर्यक् स्रोत का सर्ग इस हेतु में सहायक न होने से उन्होंने ऊर्ध्वस्रोत वाले प्राणियों का सर्जन किया। यह ऊर्ध्व लोक में निवास करने वाला सात्त्विक वर्ग है, इस सृष्टि के प्राणी विषयसुख की प्रीति से सम्पन्न होते हैं।

भागवत में नवसर्गों का वर्णन पदावली के रूप में प्राप्त होता है—

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।।
चतुर्थः ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो।
षडिमे प्राकृताः सर्गो वैकृतानपि मे शृणु।।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तथुषां च यः।
तिरंश्चाष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञाद्वृद्येवेदिनः।

अर्वाक्स्त्रोतस्तु नवमः क्षत्तेरकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे सुखमानिनः ।।

भागवतीय विवेचन पद एवं अर्थ दोनों दृष्टियों से तीन सर्ग प्राकृत और छः सर्गों को वैकृत कहा गया है। प्राकृत सर्गों में ब्रह्म सर्ग, वैकारिक सर्ग, ऐन्द्रिय सर्ग वैकृत सर्गों में मुख्य सर्ग, तिर्यक्, देव, अर्वाक् अनुग्रह तथा कौमार सर्ग हैं। यहाँ मन ऐन्द्रिय सर्ग से पृथक् वैकारिकात्मक सर्ग है।

भागवतपुराण में वैकारिक अहंकार से इन्द्रियाधिष्ठातृ देव, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु; मित्र, प्रजापति उत्पन्न हुए। क्षेत्रज्ञ के अधिष्ठातृत्व में अव्यक्तानुग्रह से इनका संश्लेषण हुआ, जिससे एक अण्ड विकसित हुआ। यह अण्ड सर्वभूताधिष्ठान था तथा सप्त आवरण से युक्त था। इस अण्ड का निर्भेदन कर उससे विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी भुजा, चरण, नेत्र, मुख तथा शीर्ष अनन्त थे। इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा चरण से शूद्र निर्गत हुए, इसी के चरणों से पृथ्वी उद्भूत हुई।

●

भागवत में कालगणना

डॉ. सोमप्रकाश पाण्डेय

❀❀❀

श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में मन्वन्तरादि काल विभाग का निरूपण किया गया है। दिष्ट, अनेहा (अनेहस) और समय ये काल के पर्यायवाची के रूप में निरूपित हैं—

कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयोऽथ........ । (अमरकोश, ४/१)

काल सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश व परमाणु स्वरूप है, यह वस्तु के सूक्ष्मतम स्वरूप के रूप में प्रतिपादित किया गया है। जो सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त सभी अवस्थाओं का भोग करता है।

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥–भागवत, ३/११/४

उस व्यक्त दो परमाणुओं के मिलने से एक अणु की उत्पत्ति होती है और तीन अणुओं के मिलने से एक त्रसरेणु की। तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है, उसे त्रुटि कहते हैं। इससे १०० गुना काल को वेध कहते हैं। तीन वेध का एक लव होता है। तीन लव को एक निमेष और तीन निमेष को एक क्षण कहते हैं। ५ क्षण की एक काष्ठा होती है और १५ काष्ठा का एक लघु होता है। १५ लघु की एक नाडिका (दण्ड) और दो नाडिका का एक मुहूर्त्त होता है। दिन के घटने-बढ़ने के अनुसार दिन और रात्रि की दोनों सन्धियों के दो मुहूर्त्तों को छोड़कर ६ या ७ नाडिका का एक प्रहर होता है (भागवत, ३/११/५-८)। इसे निम्नलिखित रूप से सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है—

१. सूर्य द्वारा तीन त्रसरेणुओं को पार करने के समय को त्रुटि कहते हैं।
२. त्रुटि × १०० = वेध
३. वेध × ३ = लव
४. लव × ३ = निमेष

५. निमेष × ३ = क्षण
६. क्षण × ५ = काष्ठा
७. काष्ठा ×१५ = लघु
८. लघु ×१५ = नाडिका
९. नाडिका×२ = मुहूर्त्त
१०. ६ या ७ नाडिका = एक प्रहर (याम)

याम मनुष्य के दिन रात का चौथा भाग होता है। १५ दिन-रात का एक पक्ष होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन दोनों पक्षों को मिलाकर एक मास होता है। (जो पितरों का एक दिन-रात है)।

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ।।
तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ।।

मनुस्मृति में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु उसमें ऋतु का उल्लेख नहीं किया गया है—

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ।।–मनु०,१/६६
दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ।। –मनु, १/६७

इस प्रकार दो मास की एक ऋतु और छह मास का एक अयन होता है। जो दक्षिणायन और उत्तरायण भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं। दोनों अयन मिलकर देवताओं के एक दिन-रात होते हैं तथा मनुष्य लोक में इन्हें एक वर्ष या १२ मास कहा जाता है —भागवत, ३/११/१२।

युगमान के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत में गम्भीरता से विचार किया गया है। भागवत के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध्यांशों के साथ देवताओं के १२ सहस्र वर्ष तक रहते हैं। इन सत्यादि चारों युगों में क्रमशः ४,३, २ और १ सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं और प्रत्येक में जितने सहस्र वर्ष होते हैं, उससे दुगुने १०० वर्ष उनकी सन्धियाँ और सन्ध्यांश भी होते हैं। युग के आदि में सन्ध्या और अन्त में सन्ध्यांश होते हैं। किन्तु कालवेत्ताओं ने इनके मध्यकाल को ही युग कहा है।

अर्थात् सत्ययुग में ४०० दिव्यवर्ष युग के और ८०० सन्ध्या एवं सन्ध्यांश के, इस प्रकार ४८०० वर्ष होते हैं। इसी प्रकार त्रेता में ३६००, द्वापर में २४०० और कलियुग में १२०० दिव्य वर्ष होते हैं। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। अतः देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्ष के बराबर हुआ। इस प्रकार मानवीय मान से कलियुग में ४३२००० वर्ष हुए तथा इससे दुगने द्वापर में, तिगुने त्रेता में और चौगुने सत्ययुग में होते हैं।

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ।।
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ।।
सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥

—भागवत,३/११/१८-२०

मनुस्मृति में भी युगों की कालगणना इसी प्रकार की गयी है—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संख्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।।
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ।।
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ।। —मनु०, १/६९-७१

इसके अतिरिक्त त्रिलोक से बाहर महर्लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त यहाँ की एक सहस्र चतुर्युगी का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात होती है, जिसमें ब्रह्मा जी शयन करते हैं। उस रात्रि का अन्त होने पर इस लोक का कल्प आरम्भ होता है। यह क्रम ब्रह्मा के दिन तक चलता है। उस एक कल्प में १४ मनु होते हैं। प्रत्येक मनु ७१ चतुर्युगी से कुछ अधिक काल का होता है।

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक् ।।
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते ।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश ।।
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।

मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैवं युगपत् सुरेशाश्चानु ये च तान् ।।

—भागवत, ३/११/२२-२४

ब्राह्मदिवस मान एवं मन्वन्तरादिमान मनुस्मृति में भी भागवत के समान ही है—

दैविकानां युगानान्तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकं महर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ।। —मनु०, १/७२
यत्प्राक्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।।—मनु०, १/७९

इस प्रकार ब्रह्मा जी की आयु के आधे भाग को परार्ध कहते हैं। पूर्व-परार्ध के आरम्भ में ब्राह्म नामक महान् कल्प हुआ था, जिसमें ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी। विद्वज्जन इन्हें शब्दब्रह्म कहते हैं। उसी परार्ध के अन्त में जो कल्प हुआ था, उसे पाद्मकल्प कहते हैं। इसमें भगवान् के नाभिसरोवर में सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ था। इस समय जो कल्प चल रहा है, वह दूसरे परार्ध का आरम्भ है, जो वाराहकल्प के नाम से विख्यात है। इसमें भगवान् ने शूकर का रूप धारण किया था। यह दो परार्ध का काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि, विश्वात्मा, श्रीहरि का एक निमेष माना जाता है। यह परमाणु से लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त फैला हुआ काल सर्वसमर्थ होने पर भी सर्वात्मा श्रीहरि पर किसी प्रकार की प्रभुता नहीं रखता। यह तो देहाभिमानी जीवों के शासन में ही समर्थ है (श्रीमद्भागवत, ३/११/३२-३८)।

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा—इन तीनों ८ प्रकृतियों सहित १० इन्द्रियों, मन और पंचमहाभूत सहित १६ विकारों से मिलकर बना। यह ब्रह्माण्ड कोष भीतर से ५० करोड़ योजन विस्तार वाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर १०, १० गुने ७ आवरण हैं। जिसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड राशियाँ हैं। वह प्रधानादि समस्त कारणों का कारण अक्षर ब्रह्म है, जो पुराणपुरुष परमात्मा का परमधाम है—

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ।।
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ।।

—भागवत, ३/११/३९-४१

काल विषयक गणना अमरकोष की मणिप्रभा टीका के कोष्ठक में इस प्रकार दी गयी है—

नेत्रस्पन्दकालः	१ निमेषः (१/२७ विपला)	(२/१३५ विपला)
१८ निमेषाः ३० काष्ठाः	१ काष्ठा (२/३ विपला) १ कला (२० विपला)	(४/१५ सेकण्ड) (८ सेकेण्ड)
१२ क्षणाः	१ मुहूर्तः (२ घट्यौ)	(४८ मिनट)
३० मुहूर्त्ताः १५ अहोरात्राः २ पक्षौ १२ मासाः	१ अहोरात्रः (मानुष) १ पक्षः (मानुषः) १ मासः (मानुषः) १ वर्षम् (मानुषम्)	(२४ घंटा) १ पैत्र दिनं निशा वा १ अहोरात्र (पैत्रः) १ अहोरात्रः (दैवः)
३६० दैवाहोरात्राः	३६० मानुषवर्षणि	१ वर्षम् (दिव्यम्)
१२०० दिव्यवर्षाणि	४३२००० मानुषवर्षाणि	१ कलिमानम्
२४०० दिव्यवर्षाणि	८६४००० मानुषवर्षाणि	१ द्वापरमानम्
३६०० दिव्यवर्षाणि ४८०० दिव्यवर्षाणि एवं १२००० दिव्यवर्षाणि	१२९६००० मानुषवर्षणि १७२८०० मानुषवर्षणि ४३२०००० मानुषवर्षणि	१ त्रेतामानम् १ सत्ययुगमानम् मानुषं चतुर्युगमानम् वा दैव
१२००० दिव्यवर्षाणि×१०००= १२०००००० दिव्यवर्णाणि ,, १२००००००+१२०००० ०० =२४०००००० दिव्यवर्षाणि	४३२०००० मानुषवर्षणि × १०००=४३२००००००० मानुषवर्षणि ,, ४३२०००००००+४३२००० ०००० =४३२०००००००	युगम् १ दिनम् (ब्राह्मम्) ,, १ अहौरात्रः (ब्राह्मः)
१२००० दिव्यवर्षम् = चतुर्युगमानम् × ७१= ८५२००० दिव्यवर्षाणि	४३२०००० मानुषवर्षाणि × ७१ = ३०६७२००० दिव्यवर्षाणि	१ मन्वन्तरम्

श्रीमद्भागवत महापुराण में कालविषयक चर्चा अमरकोशकार की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है; क्योंकि उपर्युक्त कालबोधक चक्र में कालगणना निमेष से आरम्भ की गयी है, जबकि श्रीमद्भागवत महापुराण में परमाणु, त्रसरेणु, त्रुटि, वेध और लव से की गयी है। जो निमेष के पूर्व के समय के हैं। इससे परिज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवत में निरूपित कालगणना अत्यधिक सूक्ष्म व वैज्ञानिक होने के कारण नितान्त उपादेय है।

भागवत में कालगणना

श्री मृत्युञ्जय त्रिपाठी

❋❋❋

श्रीमद्भागवतमहापुराण श्रीहरि के चरित और भक्ति से सम्बन्धित एक पौराणिक ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् विष्णु के तात्त्विकरूप के साथ उनके भौतिकस्वरूप, अवतारकथाओं, उपासना एवं भागवतजनों के चरित का दिव्य वर्णन किया गया है। भगवदवतारों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण; अंशावतारों में कपिलमुनि, ऋषभदेव, हरि, पृथु आदि का उल्लेख हुआ है। किन्तु प्रमुखता पूर्णावतार कृष्णावतार को ही दी गयी है। भागवत-चरितवर्णन में सहजभक्त ध्रुव, अनन्यभक्त प्रह्लाद, प्रेमीभक्त गोपिकाओं, सखाभक्त अर्जुन और उद्धव, सात्त्विकभक्त वृत्रासुर का चरित भी इस ग्रन्थरत्न में सुलभ है।

विष्णु का तात्त्विकरूप ब्रह्ममय नारायणीयरूप है, तो भौतिकरूप, दिक्-काल-क्षेत्र-निरूपण के रूप में उपलब्ध होता है। दिक् और काल दोनों ही परमात्मरूप भगवान् विष्णु के ही स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवत में इन दोनों का वर्णन, परमात्मा की महिमा तथा जीव की लघुता का बोध कराकर जीव के अहंकार को चूर्ण करने की दृष्टि से, प्रभु के गुणानुवाद के रूप में हुआ है। भागवत में भुवनकोश के रूप में प्रस्तुत खगोल तथा भूगोल वर्णन स्थूल एवं समस्त सृष्टि, सूक्ष्मरूप में दिक्चिन्तन का ही विस्तार है।

कालचिन्तन भारतीयवाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण अंश रहा है। वेद-वेदाङ्ग से सामान्य चिन्तन-स्तर तक, काल और उसके मान एवं मानक का विचार किया गया है। काल प्राणियों का अन्त करने वाला विभु तत्त्व है; किन्तु अपने कलनात्मक रूप में समस्त जागतिक क्रियाओं की वह कलना भी करता है। ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थों के अनुसार यह कलनात्मक काल भी स्थूल व सूक्ष्म भेद से मूर्त्त और अमूर्त दो रूपों में उपस्थापित हुआ है—

भूतानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तामूर्त्तसंज्ञकः।।

सिद्धान्ततत्त्वविवेक १/१/१४

अपने अन्तकृत् रूप में काल, विभु है। भागवत में इसके विभु और कलनात्मक दोनों ही रूपों का वर्णन किया गया है। वहाँ काल, बहुरूपधृक् अद्भुतकर्मा हरि का लक्षण है, किंवा यह हरि, परमात्मा का ही अद्भुत एवं बहुरूप धारण करने वाला लक्षण है। इसीलिए भागवत में भगवान् और उनके भक्तों के व्यक्त चरित की चर्चा के पूर्व, ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में ही कालरूप परमात्मा के सम्बन्ध में विदुर जी कहते हैं—

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो ।।

श्रीमद्भागवत ३/१०/१०

भागवत के अनुसार कलनात्मक काल भी प्रभु की लीला मात्र ही है—

योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ।। (श्रीमद्भागवत १०/ ३/२६)

गणना की दृष्टि से कलनात्मक काल ही विचारणीय है। अन्तकृत या विभु काल ही कलनात्मक काल के रूप में संस्थानभोग के अनुसार सूक्ष्म और स्थूल भेद से अनुमानित किया जाता है।

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/३)

यह संस्थानभुक्ति ही कालगणना का आधार है। इसी को ध्यान में रखकर नवविध मानों तथा बहुविध मानकों या ईकाइयों को स्वीकार किया गया है—

ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्रं प्राजापत्यं गुरोस्तथा ।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नवः ।।

(सिद्धान्ततत्त्वविवेक १/१/१३)

ब्राह्म, दिव्य, पैत्र, प्राजापत्य, गौरव, सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र इन नवविध मानों का कल्प, युग, मन्वन्तर, वर्ष, दिन आदि मानकों से सम्बन्ध रहा है।

मानकों की दृष्टि से वेदों में संवत्सर या वर्ष तथा पुराणों में मन्वन्तर की प्रधानता है। अहोरात्र या दिन सर्वत्र विशिष्ट मानक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। लोक-व्यवहार में दिन और वर्ष कालमान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इकाई हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से आकाशीय पिण्डों (ग्रहादिक) का अपनी धुरी पर परिभ्रमण का काल 'उनके मान

के अनुसार दिन तथा आकाशीय परिपथ पर परिक्रमण करते हुए सूर्य की परिक्रमा का काल वर्ष माना जाता है। ग्रह-परिपथ को वृत्ताकार मानते हुए उसका कुल मान ३६० अंश कहा जाता है। यह अंश भी ६० विकलाओं में विभक्त है। सूर्य या पृथ्वी की इन्हीं दूरियों के भोग या भ्रमणकाल के आधार पर वर्ष, मास, दिन, घटी, पल, विपल आदि मानकों का निर्धारण किया गया है।

कालमान की दृष्टि से संवत्सर या वर्ष एक महत्त्वपूर्ण इकाई है तथा दिन या अहोरात्र उसका एक विशिष्ट घटक। श्रीमद्भागवत में संवत्सर का कालचक्र के रूप में परिचय दिया गया है। अधिमास सहित मास रूपी १३ अरे, दिन रूपी ३६० पर्व, ऋतुरूपी ६ नेमियाँ तथा चातुर्मास्य रूप तीन नाभियाँ जिसके अवयव हैं।

न तेऽजराक्ष भ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्ठि पर्व।
षण्नेम्यन्तच्छदि यत्रिणाभि करालस्त्रोतो जगदाच्छिद्य धावत ।।

(श्रीमद्भागवत ३/२१/१८)

सामान्यत: दिन और मास, वर्ष के अवयव हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत में इनके अतिरिक्त पक्ष, ऋतु और अयन को भी परिभाषित किया गया है।

भागवत की कालगणना परमाणु से पर या परम तक विस्तृत है, किन्तु सबका आधार पूर्ववर्णित संस्थान भुक्ति ही है—

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/४)

जो काल परमाणु अवस्था का भोग करता है। वह परमाणु काल और जो प्रलयपर्यन्त अवस्था का भोग करता है, वह परम कहा जाता है।

भागवत के अनुसार हम कालगणना को चार वर्गों में बाँट सकते हैं—

१. परमाणु से दिनपर्यन्त। २. दिन से वर्षपर्यन्त। ३. वर्ष से कल्पपर्यन्त। ४. कल्पोत्तर।

१. परमाणु से अहोरात्र या दिन पर्यन्त–कालगणना के इस भाग को हम दो खण्डों में बाँट सकते हैं—

(क) परमाणु से निमेषपर्यन्त (ख) निमेष से दिनपर्यन्त।

(क) परमाणु से निमेष पर्यन्त–इसके भी दो खण्ड संभाव्य हैं—

(१) परमाणु से त्रुटिपर्यन्त (२) त्रुटि से निमेषपर्यन्त।

(१) परमाणु से त्रुटिपर्यन्त–काल द्वारा भोग्य-पदार्थ-मान की दृष्टि से

परमाणु, अणु और त्रसरेणु की योजना तथा संस्थान-भुक्ति के आधार पर इनसे सम्बन्धित काल-मानकों का संकेत भागवत की कालगणना के प्रथम चरण में ही मिलता है—

परमाणु–परमाणुता का भोग करने वाला काल परमाणुकाल है।

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।

(श्रीमद्भागवत ३/११/३/२)

इसी भाँति अणुकाल और त्रसरेणुकाल का भी मानप्रदर्शन, उनके लक्षण निरूपण के माध्यम से किया गया है।

अणुर्द्वौ परमाणू स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।

(श्रीमद्भागवत ३/११/५/२)

दो परमाणु का अणु और तीन अणु का त्रसरेणु कहा गया है। अतः—

२ परमाणु (काल) = १ अणु (काल), ३ अणु (काल) = १ त्रसरेणु (काल)। तीन त्रसरेणु भोगकाल को त्रुटि कहा जाता है।

(२) त्रुटि से निमेषपर्यन्त–इस त्रुटि का १०० गुना भाग वेध तथा वेध का तीन गुना लव कहा जाता है।

त्रसरेणुस्त्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/६)

निमेषास्त्रिलवो ज्ञेयः के अनुसार ३ लव = १ निमेष। इस प्रकार परमाणु से निमेष तक की कालयात्रा में परमाणु, अणु, त्रसरेणु, त्रुटि, वेध, लव स्तर आते हैं और १ निमेष =३ लव =९ वेध=९०० त्रुटि=२७०० त्रसरेणु=८१०० अणु=१६२०० परमाणु सिद्ध होता है।

ख. निमेष से दिनपर्यन्त–इसके दो भेद होते हैं—(अ) निमेष से नाड़िकापर्यन्त और (ब) नाड़िका से दिनपर्यन्त।

(अ) निमेष से नाड़िकापर्यन्त–इसके दो मानक प्रचलित हैं—निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त। विपल, प्राण, पल, घटी या गुर्वक्षर, प्राण, विनाड़िका, नाड़िका। इस दृष्टि से गुर्वक्षर, विपल, पल विनाड़िका, घटी नाड़िका में पर्याप्त समता दिखती है। फलतः १० गुर्वक्षर = १ प्राण या असु, ६ प्राण =१ विनाड़िका, ६० विनाड़िका= १नाड़िका और १५ निमेष= १काष्ठा, ३० काष्ठा=१ कला, ३० कला=१ मुहूर्त्त। भागवत की इस भाग के कालगणनाक्रम में मुहूर्त्त के

आधे भाग को नाड़िका तथा काष्ठा के १५ वें भाग को निमेष कहा गया है। किन्तु काष्ठा एवं नाड़िका के मध्य सामान्यतः कला नामक मानक का प्रयोग किया जाता है, जो नाड़िका का पन्द्रहवाँ भाग होता है। श्रीमद्भागवत में नाड़िका के पन्द्रहवें भाग को लघु कहा गया है।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।

(श्रीमद्भागवत ३/११/८)

निमेष और काष्ठा के मध्य श्रीमद्भागवत में क्षण नामक कालांश की भी स्थिति है, जो निमेष का तीन गुना एवं काष्ठा का पाँचवाँ भाग है। भागवत में १ नाड़िका का मान १५ लघु बताया गया है। ३० कला के मुहूर्त्त तथा १ मुहूर्त्त में २ नाड़िका के मान से १५ कला की एक नाड़िका सिद्ध होती है। इस दृष्टि से लघु और कला समतुल्य प्रतीत होते हैं। किन्तु अन्यत्र जहाँ कला को काष्ठा का ३० गुना बताया गया है, वहीं भागवत में काष्ठा लघु के १५ वें भाग के रूप में चित्रित है। इस भाँति लघु कला के समतुल्य न हो, आधा ही सिद्ध होता है। यह बात अन्यत्र कला काष्ठा के अनुपात से मेल नहीं खाती।

(ब) नाड़िका से दिनपर्यन्त–अन्यत्र जहाँ दिन को नाड़िका से साठ गुना दिखाया गया है। वहीं श्रीमद्भागवत में नाड़िका और दिन के मध्य मुहूर्त्त, याम, की भी कल्पना की गयी है। उसमें २ नाड़िका =१ मुहूर्त्त, २ मुहूर्त्त =१ याम, ८ याम= १ दिन।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्त्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्॥

(श्रीमद्भागवत ३/११/८)

यामश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।

(श्रीमद्भागवत ३/११/१०)

२. दिन से वर्ष पर्यन्त–कालगणना के इस भाग में ३० दिन का १ मास एवं १२ मास का एक वर्ष बताया जाता है। भागवत में पन्द्रह दिनों के पक्ष या अर्धमास की भी योजना है, जो चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार शुक्ल एवं कृष्ण नाम से पुकारे जाते हैं। मास को इन्हीं दोनों का समुच्चय बताया गया है। इस प्रकार २ पक्ष का मास, २ मास की ऋतु, तीन ऋतु के अयन का वर्णन कर वर्ष में २ अयन, ६ ऋतु, १२ मास एवं २४ अर्द्धमास या पक्ष, ३६० दिन के मानकों का निर्धारण किया गया है। परिपथ-विभाजन के विचार से दिन एवं मास का ही विभाजन दिखायी देता है। सामान्य जन दिन और पक्ष के मध्य ७ वारों के आधार पर ७ दिन

के सप्ताह को भी मानते हैं। तब दिन एवं वर्ष के मध्य कालमान, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष के छः मानकों में अभिहित होता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से दिन पृथ्वी के परिभ्रमण का काल, मास चन्द्रमा के परिक्रमण का काल या चन्द्रमा का वर्षमान। जिसे पैत्र दिवस भी कहा गया है। ऋतु मंगल के राशि परिक्रमण अर्थात् मंगल मास, वर्ष पृथ्वी के परिक्रमणकाल जो दिव्य दिन भी कहा जाता है।

३. वर्ष से कल्पपर्यन्त–वर्ष और कल्प के मध्य कालगणना, वर्ष, महायुग, मन्वन्तर और कल्प के क्रम से आगे बढ़ती है, किन्तु भागवत में १०० वर्ष मान की मनुष्य आयु का निर्देश किया गया है।

संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/१२)

श्रीमद्भागवत, इसी परमायु के मान में ३६० दिन के वर्ष मान से १००० वर्ष की पूर्णायु के रूप में मनुष्य, पितरों और देवताओं के भी आयुमान को संकेतित करता है—

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम् ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/१६)

सौर या मानव वर्ष पृथ्वी का परिक्रमण काल उसी प्रकार पृथ्वी का ३० गुना परिक्रमण काल का शनि का परिक्रमण काल, पैत्र वर्ष सिद्ध होता है।

वर्ष और परमायु के मध्य पाँच वर्षीय एवं बारह वर्षीय युगमान की भी काल मानों में व्यवस्था है। किन्तु श्रीभागवत में युगमान को छोड़कर सीधे चतुर्युग काल-मान का उल्लेख किया गया है, जो दिव्य-वर्षमान में है।

कृतं त्रेतां द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/१८)

यह चतुर्युग ही महायुग या देवयुग है। मनुस्मृति के अनुसार—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ।। (मनुस्मृति १/७१)

इसका १००० गुना भाग त्रिलोकी के बहिर्वर्ती जनों का दिन, ब्राह्मदिन या कल्प कहा जाता है—

त्रिलोक्या युगसहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यावन्निमीलति विश्वसृक् ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/२२)

युग और ब्राह्म दिन या कल्प के मध्य मन्वन्तर जो मनुओं का भोग काल है, का विधान है. जो एक ब्राह्म दिन में चौदह होता है। यह पूर्वोक्त ७१ या ७२ युगों के बराबर होता है। कल्प के मान भागवत ने १००० युग माना है तथा आर्यभट्ट आदि विद्वानों ने १००८ माना है। १००० युग मानने वाले संध्यासंध्यांशसहित ७१ युगों का एक मन्वन्तर मानते हैं, किन्तु आर्यभट्ट ७२ युगों का।

यावद्दिनं भगवतो मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश ।
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/२३)

मन्वन्तर पुराणों की महत्त्वपूर्ण कालयोजना है, जो ब्राह्मदिन के एक मुहूर्त्त के मान के तुल्य होती है। गणित से इसका काल मान ३०६७२००० मानव वर्ष आता है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से हमारे वर्तमान सौर मण्डल के अपनी निहारिका की परिक्रमा का काल है। जिसे प्राजापत्य वर्ष भी कहा गया है। कल्प ब्रह्मा का दिन और इसका दूना ब्राह्म अहोरात्र है।

४. कल्पोत्तर–श्रीमद्भागवत में ब्राह्मदिन के पश्चात् ब्राह्मायु और हरिनिमेष कालमानों का वर्णन मिलता है।

ब्राह्मायु–उपर्युक्त अहोरात्र के मान से ब्रह्माजी की १०० वर्ष की आयु ब्राह्मायु पर कही जाती है, जिसका आधाभाग परार्ध माना जाता है।

एवं विधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपाक्षितामिवास्यापि परमायुर्वयः शतम् ।।
यदर्धमायुस्तस्य परार्धमभिधीयते । (श्रीमद्भागवत ३/११/३२)

हरिनिमेष–सम्पूर्ण ब्राह्मायु या पर, श्रीहरि का निमेष मात्र है।

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ।।

(श्रीमद्भागवत ३/११/३७)

इस प्रकार श्रीमद्भागवत की कालगणना काल की परमाणु-भोग्य-सूक्ष्मता से हरिनिमेषोत्तर व्यापकता का संकेत कर काल की अनन्तता और विभुत्व को ही अभिव्यक्त करती है। संस्थान-भुक्ति का सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

श्रीमद्भागवत में सूर्य से ही कालमान का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है—

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ।।श्रीमद्भागवत ३/११/१३

दिन और वर्षादि कालमानों को सूर्य या उसके ग्रह पृथ्वी की गति से सम्बन्धित माना जाता है। पैत्रवर्ष शनि से तथा मन्वन्तर सौर परिवार की गति से सम्बन्धित दीखता है। इससे भी भागवत के कथन की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत में त्रस्त्ररेणु और नाड़िका-मापन-यन्त्र का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है।

अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जलार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ।। श्रीमद्भागवत ३/११/५

अणु और त्रसरेणु के वर्णन में डाल्टन का परमाणुवाद भाषित होता है, साथ ही ऋषि की व्यावहारिक दृष्टि भी लक्षित होती है।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्त्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ।।
द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः ।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ।।
(श्रीमद्भागवत ३/११/८-९)

छः पल मान का एक प्रस्थ जल धारिता का पात्र (घट) बनाकर चार मासे सोने की चार अंगुल लम्बी शलाका में उसमें छेद किया जाय और उसे जल में छोड़ दिया जाय, तो वह जितने समय में भरेगा, उसे नाड़िका कहते हैं। यह सम्भवतः प्रथम कालमापक यन्त्र की रचना का संकेत है।

निःसन्देह भारतीय कालगणना सूर्य से सम्बन्धित पिण्डों के परिक्रमण एवं परिभ्रमण से सम्बन्धित है, किन्तु भागवती कालगणना में बहुविध कालमानकों के पारिभाषिक शब्दों जैसे—त्रुटि, निमेष से मुहूर्त्त गणना के निमेष, काष्ठा, व मुहूर्त्त, गुर्वक्षर-घट्यादि के नाड़िका का नाम ले, इसे रहस्यमय बना दिया गया है।

तथापि अपनी वैज्ञानिकता के कारण यह अत्यन्त प्रशंसनीय है। चन्द्रमा, भौम, सूर्य (पृथ्वी), शनि, सौर-मण्डल की गति सम्बन्धी मास, ऋतु, वर्ष, पैत्रवर्ष, मन्वन्तर कालमान के परिप्रेक्ष्य में दिव्यवर्ष, युग, ब्राह्मदिन आदि से सम्बन्धित आकाशीय पिण्डों का अन्वेषण विवेचनीय है। निबन्धकार ने तो श्रीमद्भागवत की इसी कालगणना को ही आधार मानकर वर्तमान् छुद्रग्रह शीरस के मूलरूप पञ्चवर्षीय परिक्रमणकालिक ग्रह, गणेश तथा दिव्यवर्षीय परिक्रमण-कालिक कुबेर नामक ग्रह की भी परिकल्पना की है। १२ वर्षीय बृहस्पति का परिक्रमणकाल गौरववर्ष के रूप में प्रसिद्ध ही है।

श्रीमद्भागवत पुराण के गीतों का वैशिष्ट्य

प्रो. प्रयागनारायण मिश्र

❋❋❋

संस्कृत-साहित्य की सुहृत्-सम्मित पौराणिक परम्परा में श्रीमद्भागवत महापुराण एक अनुपम महार्घरत्न है। अपने उत्कृष्ट प्रभाव से भक्ति-सौन्दर्य सहित माधुर्य का उत्स तथा मानवीय कोमल ललित भावनाओं का अक्षय भण्डार होने के कारण जीवन-सरिता को प्रवाहित करने वाले मानसरोवर के रूप में लोक-विश्रुत यह पुराण रागात्मिका वृत्तियों से ओत-प्रोत गीतों से युक्त कलिकालामृतसमर्थ महापुराण है। हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यञ्जना करने वाले इसके गीत-सञ्ज्ञक अनेक-प्रसङ्ग अपनी शब्द-माधुरी, भाव-माधुरी, अर्थ-चातुर्य तथा भक्तिरस-प्रवणता के कारण परवर्ती साहित्य के उपजीव्य बनकर इसकी श्री-समृद्धि करते हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण के प्रायः दशमस्कन्ध में प्रोक्त ये हृदयावर्जक विविध गीत बहुविध वैशिष्ट्यों से ओत-प्रोत हैं। कला एवं भाव के मणिकाञ्चन संयोग वाले ये विलक्षण गीत जड़-जङ्गम स्थावर आदि सम्पूर्ण चराचर जगत् किंवा अखिल ब्रह्माण्ड में भगवच्चेतना का सङ्कीर्तन करके विविध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं।

श्रीकृष्ण चन्द्र के विविध-वैभवों की विश्वव्यापिनी मोहिनी शक्ति के अद्भुत चमत्कार से जनमानस में भगवद्-भक्ति के विविध-पक्षों को स्पन्दित करने वाले इन गीतों में श्रीकृष्ण-सौन्दर्य, प्रकृतिचारुत्व, वंशी-वैभव तथा विविध नीति-वचनों के साथ-साथ न केवल धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म के दर्शन होते हैं, अपितु रागात्मिका-भक्ति के विपुल-वैभव को पुष्ट करने वाली नवधा भक्ति के एकैकशः लक्षण हृदय को आन्दोलित करते हैं। उदाहरणार्थ भागवतपुराण के वेणुगीत में वेणु-वादन के विपुल वैभव का इतना सूक्ष्म तथा मधुर प्रभाव है कि गोपी, ग्वाल, गाय-गोसुत, वृक्ष, लता और पादप ही नहीं, अपितु नदियाँ भी अपनी गति को विश्राम देकर अपने हृदय-सरोरुह से श्रीकृष्ण-चरणों का अभिसार करती हुई मानों सम्पूर्ण जगत् को भगवच्चरण-चञ्चरीक बनने की प्रेरणा देती हैं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः[1] ।।

अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रेमस्वरूपा वंशीध्वनि को सुनकर अवरुद्ध गति वाली हो जाने के कारण नदियों में लक्षित होने वाले आवर्त भँवर मानों इनके हृदय में उत्पन्न होने वाली माधव-मिलन की तीव्र आकाङ्क्षा का द्योतन करते हैं। इसीलिए ये नदियाँ अपने तरङ्ग रूपी हाथों से उनके चरण पकड़ कर उन पर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे मानों उनके चरणों पर हृदय ही न्योछावर कर रही हैं। इसीलिए तो श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान करने वाले वेणु को भगवद्-भक्त समझकर वेणु को अपने रस से सींचने वाले ह्रदिनियाँ कमलों के व्याज से रोमाञ्चित हो रही हैं तथा अपने वंश में भगवत्-प्रेमी सन्तानों को देखकर श्रेष्ठ पुरुषों के समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आनन्दाश्रु बहा रहे हैं—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽस्त्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः[2] ।।

इस प्रकार वेणुवादन के रूप में वंशीश द्वारा प्रचारित सञ्चेतना के फलस्वरूप चेतन पशु-पक्षी तथा जड़ नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं, जबकि अचल वृक्षों में रोमाञ्च और अश्रुप्रवाह हो जाता है।

वृक्ष ही नहीं, गगनवर्ती श्याम-घन भी घनश्याम की वंशी के वशीभूत होकर आतपत्र बनकर आतपत्राणपूर्वक उनकी सतत सेवा करते हैं। इसीलिए अपनी स्नेहिल बूँदों द्वारा वृष्टि-पात करते हुए बादल श्रीकृष्ण पर श्वेत-सुमनार्चन कर मानों दिव्य-पुष्पों की वृष्टि करते हैं।[3] कभी-कभी तो इन्हीं बादलों की ओट में छिप कर देवता भी श्रीकृष्ण पर पुष्पार्चन का लाभ प्राप्त कर लेते हैं, जैसा कि गोपी-गीत के एक श्लोक से स्पष्ट है, जिसमें वंशी-वादन करते समय श्रीकृष्ण को मानों विश्व का आलिङ्गन करते हुए प्रदर्शित किया गया है[4]। श्रीकृष्ण की वंशी में केवल आह्लादिक शक्ति ही नहीं है, प्रत्युत् उसमें उत्पादिका शक्ति भी विद्यमान है। इसीलिए अचिन्त्य-ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण जब बाँसुरी बजाकर गायों को पुकारते हैं, तो उस समय वन के वृक्ष और लताएँ अपने अन्तर्गत भगवान् विष्णु की अभिव्यक्ति सूचित करती हुई सी फूल-फल से समन्वित होकर इस प्रकार से नम्रीभूत हो जाते हैं कि मानों वे श्रीकृष्ण का अभिवादन कर रहे हों—

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण १०/२१/१५; २. तदेव १०/२१/९ तथा १९।
३. तदेव १०/२१/१६ एवं ३५/१२-१३; ४. तदेव १०/३५/१२

वनलतास्तरवः आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपाः मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म[१] ।।

श्रीकृष्णचन्द्र की मुनि-जन-मोहन-मुरली-माधुर्य से मोहित होकर सारस-हंस आदि पक्षी हृतचित्त होकर श्यामसुन्दर के आस-पास इस प्रकार आ विराजते हैं कि मानों कोई विहङ्गम वृत्ति के रसिक परमहंस ही हों—

सरसि सारसहंसविहङ्गश्चारुगीतहृतचेतस एत्य
हरिमुपासत ते दत्तचित्ता हन्त मिलितदृशो धृतमौनाः[२] ।।

मुरली-मनोहर की मधुर-मुरली से आकृष्ट-हृदया, मुक्त-गुहाशा गोपियों की भाँति कृष्णसार मृगों की हरिणियाँ अपना चित्त चितचोर के चरणों में लगा देती हैं[३] ।

अपने बिम्बफल सदृश रक्तिम अधरों पर रखकर श्रीकृष्ण जब ऋषभ-निषाद आदि स्वरों की अनेक जातियाँ बजाने लगते हैं, तो उस समय परम मोहिनी उस अद्वितीय ध्वनि से न केवल स्वर्ग की देवियाँ, अपितु ब्रह्मा-शङ्कर, इन्द्र आदि देवगण भी मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं[४] । श्रीमद्भागवत पुराण के वेणुगीत में गोपियों ने गायों को उद्दिष्ट कर जिस वंशी रूप में वंशी-रसामृत-पान का वर्णन किया है, वह तो सम्पूर्ण वेणुगीत का रहस्य अपने में समेटे हुए है—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभ्मितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः[५] ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि को आत्मसात करने के लिए गायें कर्ण-द्रोणिका का प्रयोग करती हैं । इसीलिए वंशी की मोहिनी तान सुनते समय वे अपने कान खड़े कर लेती हैं । अपने नेत्रों के द्वारा श्याम-सुन्दर को हृदय में ले जाकर वे उन्हें वहीं विराजमान कर देती हैं और मन ही मन उनका आलिङ्गन करती हैं । अतः उनके हृदय में भगवान् का संस्पर्श तथा नेत्रों में आनन्दाश्रु होते हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पुराण के वेणुगीत तथा युगल गीत में गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के वेणु-वैभव का जो सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है, उससे उसकी गोपी-ग्राह्यता का अनुमान किया जा सकता है । ब्रज की इन गोपिकाओं को अपने सर्वस्व श्रीकृष्ण की वंशी से हिन्दी कवि[...] [...] गोपिकाओं की भाँति कोई प्रतिशोध नहीं है । वह तो उनकी रागात्मिका भक्ति की मूल प्रेरणा है ।

---

१. श्रीमद्भागवत १०/३५/९;
२. तदेव १०/२१/१४, ३५/११ ।
३. तदेव १०/२१/१०, ३५/१९;
४. तदेव १०/२१/१२, ३५/१३-१४
५. तदेव १०/२१/१३;

रागात्मिका भक्ति के जनक इन गीतों में श्रीकृष्ण चन्द्र का सौन्दर्य ही तो जगन्नयनों की सार्थकता को प्रमाणित करता है। प्रकृत्या चारु श्री रासेस्वर-प्रवर कृष्णचन्द्र प्रकृति के विविध-अवयवों को अपने शृङ्गार का साधन बनाकर मानों प्रकृति को भी कृतार्थ करते हैं। वे नवाम्रपल्लव, मोरपंख और पुष्पगुच्छ आदि धारण करके रंग-बिरंगे कमल और कुमुद की मालाएँ धारणा करते हैं। अपने श्यामालाभ सर्वाङ्ग-सुन्दर शरीर पर पीताम्बर ओढ़कर नीलाम्बर बलराम के साथ नटवर लाल श्रीकृष्ण विश्व-नियन्ता निपुण नट की भाँति जगत् का अनुरञ्जन करते हैं—

चूतप्रवालबर्हस्तवकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ[१] ॥

शरत्कालीन जलाशय में सुन्दर से सुन्दर सरसिज की कर्णिका के सौन्दर्य का हरण करने वाले कृष्ण-नेत्र न केवल विरहिणियों के हृदय को घायल करते हैं, अपितु सम्पूर्ण जगत् को मोह लेते हैं[२]। नन्द-नन्दन की मधुर स्मृति तो इतनी आह्लादक है कि जब वे हँसते हैं, तो हास्य रेखाएँ हार का रूप धारण कर लेती हैं, उनके वक्षस्थल पर लहराते हुए हार में हास्य की किरणें ऐसी चमकने लगती हैं कि श्रीवत्स की जो सुनहली रेखा है, वह श्याम मेघ पर विराजमान बिजली की तरह प्रतीत होने लगती है[३]।

जगत् में उपलब्ध दर्शनीय वस्तुओं का सङ्गम श्रीकृष्ण-सौन्दर्य में विद्यमान है। दर्शनीयेश्वर श्रीकृष्ण के श्यामल ललाट पर केसर की खौर, गले में धारण की गयी आजानु-लम्बित माला तथा उसमें पिरोई हुई तुलसी की प्रिय गन्ध और वनमाला की मधुर गन्ध से आकृष्ट भ्रमर-समुदाय उनकी शोभा को और भी उत्कर्ष प्रदान करते हैं[४]। श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में ध्वजा, वज्र, कमल और अंकुश आदि के विलक्षण चिह्न भक्तहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं[५]।

केवल वेणुगीत एवं गोपीगीत में ही कृष्ण-सौन्दर्य की आभा चित्त को आह्लादित नहीं करती है, प्रत्युत युगलगीत में सखियों की वार्ता से विदित होता है कि कृष्ण की मदभरी आँखें कुछ चढ़ी हुई हैं। स्वर्ण-कुण्डलों की कान्ति से वे अपने कपोलों को अलङ्कृत कर रहे हैं। इसी से मुँह पर अधपके बेर के समान कुछ पीलापन प्रतीत हो रहा है। उनके रोम-रोम से, विशेष करके मुख-कमल से प्रसन्नता प्रस्फुरित हो रही है। गजराज के समान मदभरी चाल से दिन भर के असह्य विरहताप

---

१. श्रीमद्भागवत १०/२१/८, ३५/६;
२. तदेव १०/३१/२
३. तदेव १०/३५/४;
४. तदेव १०/३५/१०, १८।
५. तदेव १०/३५/१६

को मिटाने के लिए उदित होने वाले चन्द्रमा की भाँति वे अपने भक्तों के पास चले आ रहे हैं—

मदविघूर्णितलोचन ईषन् मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ।।
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्[१] ।।

श्रीमद्भागवत-पुराण के उद्धव-गोपी संवाद-प्रसङ्ग में बहुविध नीति-विषयक सिद्धान्तों की जो मार्मिक विवेचना की गयी है, वह मानों भ्रष्ट समाज का यथार्थ-चित्रण है, अद्यतनीन दिग्भ्रमित युवा वर्ग के लिए मानों एक अद्भुत सन्देश एवं दिशा-निर्देश है—

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विव षट्पदैः ।।
निस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ।।
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रिया[२] ।।

अर्थात् दूसरों के साथ जो प्रेम सम्बन्ध का स्वांग किया जाता है, वह तो किसी न किसी स्वार्थ के लिए ही होता है। भौरों का पुष्पों से और पुरुषों का स्त्रियों से ऐसा ही स्वार्थ का प्रेम सम्बन्ध होता है। जब वैश्या समझती है कि मेरे यहाँ आने वाले के पास धन नहीं है, तो वह उसकी उपेक्षा करती है तथा प्रजा भी अपनी रक्षा न करने वाले राजा का साथ छोड़ देती है। अध्ययन समाप्त हो जाने पर कितने शिष्य अपने आचार्यों की सेवा करते हैं। यज्ञ-दक्षिणा मिलते ही ऋत्विज् चलते बनते हैं। जब वृक्ष पर फल नहीं रहते, तो पक्षीगण बिना कुछ विचारे उड़ जाते हैं तथा भोजन कर लेने के बाद अतिथि लोग भी गृहस्थ की ओर कब देखते हैं। वन में आग लगते ही पशु उसका साथ छोड़कर भाग खड़े होते हैं। स्त्री के हृदय में चाहे कितना भी अनुराग क्यों न हो, जार पुरुष अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेने के बाद पलट कर भी नहीं देखता है।

श्रीमद्भागवत पुराण के भिक्षुकगीत में समाज में व्याप्त लोभ-मोह-काम-क्रोध आदि नरक के द्वारों का कारण धन को बताते हुए बहुत से लौकिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है—

---

१. श्रीमद्भागवत १०/३५/२४-२५; २. तदेव १०/४७/६-८।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थो दूरतस्त्यजेत्[१] ।।

'लोभः पापस्य कारणम्' सूक्ति को व्याख्यायित करते हुए पुराण में प्रोक्त है कि जैसे थोड़ा सा भी कोढ़ सर्वाङ्ग-सुन्दर स्वरूप को भी बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक सा भी लोभ यशस्वियों के शुभ्र यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्[२] ।।

भाई बन्धु स्त्री पुत्र माता-पिता सगे सम्बन्धी जो स्नेह-बन्धन से बँधकर एक हुए रहते हैं, वही धन के कारण एक दूसरे के परम शत्रु बनकर सर्वनाश के कारण बन जाते हैं—

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकस्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः[३] ।।

अतः धन-लोभ-परित्यागपूर्वक जगत् के प्रति दुःख-बुद्धि एवं वैराग्य को संसार-सागर से पार होने के लिए नौका स्वरूप बताने वाला भिक्षुक गीत इस परम रहस्य का उद्घाटन करता है कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् जिस पर प्रसन्न होते हैं, उसे अकिंचन कर देते हैं। इसीलिए तो भिक्षुक कहता है—

नूनं मे भगवाँस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः[४] ।।

भिक्षुक का यह अकिञ्चनत्व ईश्वर की सर्वस्विता का अनुभव करने के लिए ही प्रोक्त है; क्योंकि **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव'** की जो शाश्वत परम्परा चली आ रही है, वह भक्त के अकिञ्चन भाव का ही द्योतन करती है; क्योंकि इसी सांसारिक वैराग्य-भाव के फलस्वरूप ही अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली भगवच्चरण से अनुराग सम्भव है, जिसके फलस्वरूप उस परमराग से मुक्ति ही नहीं होती है, तभी तो उस परम पद को प्राप्त कर पुनरावर्तन की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है—

---

१. श्रीमद्भागवत ११/२३/१८-१९; २. तदेव ११/२३/१६ ।
३. तदेव ११/२३/२०; ४. तदेव ११/२३/२८ ।

यत्र गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। जगदतिरेकी परमवैभवापन्न परमेश्वर अपनी श्री-समेत जहाँ निवास करते हैं, वह धाम ही उनका परम धाम है। अत: श्रीवत्सलाञ्छन श्री हरि के निवास के फलस्वरूप स्वयं व्रज ही स्वर्ग-कल्प होकर न केवल व्रज में, अपितु सम्पूर्ण संसार में रागात्मिका भक्ति का जो वैभव वर्चस्व में आया, उसका अद्भुत सङ्गम श्रीमद्भागवतपुराण के इन गीतों में अन्वेषित किया जा सकता है। श्रीमद्भागवतपुराण के युगल गीत में भगवदवतार श्रीकृष्ण के अनन्त और अचिन्त्य ऐश्वर्य की पराकाष्ठा के फलस्वरूप वृक्ष और लताएँ भी अपने अन्तर्गत विष्णु की अभिव्यक्ति सूचित करके ईश्वर की चराचर व्याप्ति का सङ्कीर्तन करती हैं, जिसका वर्णन वेणु-वैभव-प्रसङ्ग में किया जा चुका है[1]।

श्रीमद्भागवतपुराण के वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत तथा महिषीगीत में विविध दृष्टियों से कृष्ण-विषयक जिस अनुराग भाव का चित्रण किया गया है, वह परम-प्रेमरूपा अमृत-स्वरूपा भक्ति ही है। जैसा कि भक्तिसूत्र में प्रोक्त है— **अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत् प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति।** कुछ इसी तरह का विवेचन भगवद्गीता के द्वादश अध्याय में भी किया गया है[2]।

भक्ति के जिन विविध भेद-प्रभेदों का शास्त्रीय उल्लेख प्राप्त होता है, उसमें साधन भक्ति के भेदों में रागानुगा भक्ति का अप्रतिम वैशिष्ट्य है। रागात्मिका भक्ति का स्वरूप भगवद्भक्तिरसामृतसिन्धु में इस प्रकार प्रोक्त है—

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिनजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता[3]॥

इष्ट-वस्तु श्रीकृष्ण में बलवती तीव्र तृष्णा होना राग का स्वरूप लक्षण है। इष्ट वस्तु में परम आवेश होना राग का तटस्थ लक्षण है। ऐसे राग से युक्त जो भक्ति है, उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं। वह सदा नित्य सिद्ध व्रजपरिकरों गोप-गोपियों में विराजमान है। श्रीकृष्ण-सेवा की तीव्र तृष्णा ही इस रागात्मिका भक्ति का प्राण है। 'सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा'[4] कहकर इस रागात्मिका भक्ति

---

१. श्रीमद्भागवत १०/३५/९।
२. भक्तिसूत्र १-६ श्रीमद्भगवद्गीता २/१७, भा. पु. ६/१२/२२
३. भगवद्भक्तिरसामृतसिन्धु २/२७० तथा २७२ ४. तदेव २/२७३।

के जो दो भेद बताये गये हैं, उसके अनुसार व्रजगोपियों की भक्ति कामरूपा भक्ति है। यहाँ काम शब्द से कृष्ण-सेवा की तीव्र लालसामयी प्रेमाविष्टता अभिप्रेत है। गोपीगण नित्यसिद्ध परिकरस्वरूपा हैं। भक्तिसूत्र में भक्ति के जो लक्षण बताये गये हैं, उनमें नारदकृत लक्षण गोपी-प्रेम के उत्कृष्ट समर्थक हैं—

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति[1] ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवद्गीता में भी प्रोक्त है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तमतो मतः[2] ।।

श्रीमद्भागवतपुराण की गोपिकाओं के प्रेम के रहस्य का वर्णन भला कौन कर सकता है, उसका तन-मन-धन, लोक-परलोक सभी श्रीकृष्ण में अर्पित है। तभी तो श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जनगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना[3] ।।

इन गोपिकाओं का ही देह-धारण करना सफल है; क्योंकि इनका चित्त सर्वथा भगवान् गोविन्द में ही रत है, उनके इस सुख की कामना मुनि-वृन्द भी कर रहे हैं—

एताः परं तनुभृतो गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य[4] ।।

अपने प्रत्येक कर्म में विष्णु में ही दत्तचित्त रहने वाली गोपिकाओं की कृष्ण-विषयक अनन्या भक्ति का निरूपण श्रीमद्भागवतपुराण में इस प्रकार किया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः[5] ।।

इस प्रकार गोपिकाओं के द्वारा की जाने वाली यह प्रेमा भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है—

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा[6] ।

---

१. भक्तिसूत्र १९; २. श्रीमद्भगवद्गीता ६/४७ ।
३. भागवतपुराण १०/३२/२२; ४. तदेव १०/४७/५८ तथा ६०-६१ ।
५. तदेव १०/४४/१५; ६. भक्तिसूत्र २५ ।

श्री भगवान् में की जाने वाली उनकी अनन्य भक्ति ही परमनि:श्रेयस का परमस्रोत है। अतः भक्ति के अन्य समस्त मार्गों को छोड़कर व्रजगोपियों ने श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयितदृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते[1] ।।

इस प्रकार गोपीगीत के प्रथम श्लोक में ही 'त्वयि धृतासवः' कहकर स्वयं को बिना मोल की दासी बताकर गोपियाँ श्रीकृष्ण-वल्लभ को ही अपना प्राणवल्लभ बताती हैं—

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः[2] ।।

भगवद्गीता के अनुसार जो अनन्य भाव से ईश्वर की उपासना करता है, ईश्वर उसी के योग-क्षेम की व्यवस्था करता है। इसीलिए तो व्रज-गोपियों के इसी अनन्य भक्तिभाव के कारण ही समस्त विपत्तियों से कृष्ण ने उनकी रक्षा की है—

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः[3] ।।

'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता'[4] के अनुसार जगत् के अन्य समस्त आश्रयों को छोड़कर जो अनन्य भाव से श्रीकृष्ण की शरण में आता है, वह समस्त कल्याणों का आस्पद होकर परम सुख को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए तो गोपियाँ अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवार का त्यागकर अनन्य भाव से कृष्ण की शरण में आयी हुई हैं[5] ।

उपनिषद् ग्रन्थों में साक्षी-चेतन, अन्तर्यामी आदि गुणों का विवेचन करके ईश्वर के जगत्-परित्राण का जो निरूपण किया गया है, उसके स्पष्ट दर्शन गोपीगीत में होते हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले[6] ।।

अपने प्रेमियों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले विष्णु की शरणागतवत्सलता का बहुशः सङ्कीर्तन भी गोपीगीत में इस प्रकार किया गया है कि गोपियों को ईश्वर ने अभयदान दे रखा है[7] ।

---

१. भागवतपुराण १०/३१/१; २. तदेव १०/३१/२ ।
३. तदेव १०/३१/३; ४. भक्तिसूत्र १० ।
५. भागवतपुराण १०/३१/१६; ६. भागवतपुराण १०/३२/४४
७. तदेव १०/३१/५-८ ।

यतो हि प्रेमा भक्ति के साधनों में विषय-त्याग एवं सङ्गत्याग का उल्लेख नहीं है। इसके स्थान पर अखण्ड भजन, गुण-श्रवण तथा कीर्तन का अनन्य स्थान है[१]। इसीलिए तो भागवतपुराण में श्रीकृष्ण ने कहा है—

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि[२]॥

जिसकी जिह्वा पर श्रीकृष्ण का नाम रहता है, वह किसी भी परिस्थिति में ईश्वर का नाम स्मरण करके समस्त पापों से मुक्त होकर भगवत-कृपा को प्राप्त कर लेता है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिपातः[३]॥

इसीलिए ही भागवत पुराण के गोपीगीत में श्रीकृष्ण-लीला-कथा को अमृतस्वरूपा बताकर उसके श्रवण मात्र से ही परमकल्याण तथा मङ्गल का सम्पादन बताया गया है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः[४]॥

भागवत कथामृत की महिमा भागवत पुराण में अन्यत्र भी बहुशः वर्णित है, यथा—

तदेव रम्यं सुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते[५]॥

इस सङ्कीर्तन की पराकाष्ठा युगलगीत के कई श्लोकों में देखी जा सकती है[६]।

ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में विष्णु के परमपद में मधु के मधुर उत्स का जो स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है[७]। उसका 'प्रणतकामदं पद्मजार्चितम्' कहकर गोपीगीत में बहुशः सङ्कीर्तन किया गया है।

'यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुवन्ति दिव्यस्तवैः' आदि वचनों द्वारा जिस परमैश्वर्य-सम्पन्न सार्वभौम शक्ति का सदा-सर्वथा वन्दन किया जाता है, उसे युगलगीत में इस प्रकार चित्रित किया गया है—

१. भक्तिसूत्र ३१-३६, गीता ८/१४;
२. भागवतपुराण ११/२६/२९।
३. तदेव १२/१२/४९-५०;
४. तदेव १०/३१/९।
५. तदेव १२/१२/४९-५०;
६. तदेव १०/३५/८-१०।
७. ऋग्वेद १/१५४/५।

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः[१] ।।

श्रीमद्भागवत पुराण के उपर्युक्त गीत-प्रसङ्गों का रसास्वादन करते समय श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि विविध सोपानों के प्रमाण से तो इन गीतों में शास्त्रोक्त नवधा भक्ति का एकैकशः स्वरूप भी अन्वेषित किया जा सकता है। भागवतपुराण के सप्तम स्कन्ध में नवलक्षणात्मक इस भक्ति का निम्नवत् उल्लेख किया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसोऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्पादा तन्मयेऽधीतमुत्तमम्[२] ।।

गोपीगीत के **'तव कथामृतं तप्तजीवनम्'**[३] में श्रवण, **'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया तथा प्रणतकामदं पदमाजार्चितं'**[४] में कीर्तन, **'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत'**[५] में स्मरण, **'फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजम्'**[६] में पादसेवन तथा **'सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका'**[७] में दास्य तथा **'करसरोरुहं कान्तकामदम्'**[८] में वन्दन का निरूपण करके युगल-गीत के विविध श्लोकों में अर्चन, सख्य एवं आत्मनिवेदन को अवलोकित किया जा सकता है[९]।

इस प्रकार नवधा भक्ति से ओत-प्रोत गोपिकाएँ श्रीभगवान् की एकान्तिक अनन्य भक्त हैं; क्योंकि वे केवल श्रीकृष्ण की भक्ति-माधुर्य का आस्वादन करती हुई पञ्चविधा मुक्ति को भी स्वीकार नहीं करती हैं। जैसा कि भगवद्भक्ति रसामृतसिन्धु में प्रोक्त है—

किन्तु प्रेमैकमाधुर्य-भुज एकान्तिनो हरौ ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि[१०] ।।

श्रीभगवान् के इन एकान्त भक्तों में भी गोपिका सर्वश्रेष्ठ हैं; क्योंकि उनके मन को गोकुलेन्द्र भगवान् व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ने हर लिया है, यतो हि लक्ष्मीपति नारायण की कृपा भी उनका मन नहीं हर पाती है—

---

१. भागवतपुराण १०/३५/१५;
२. तदेव ७/५/२३-२४।
३. तदेव १०/३१/९;
४. तदेव १०/३१/८ तथा १३।
५. तदेव १०/३१/१;
६. तदेव १०/३१/७।
७. तदेव १०/३१/२, ४७/२१;
८. तदेव १०/३१/५।
९. तदेव १०/३५/८, १३ तथा १९;
१०. भक्तिरसामृतसिन्धु २/५७।

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः ।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्[१] ।।

भ्रमर के व्याज से श्रीकृष्ण को उपालम्भ देने वाले भ्रमर-गीत में भक्त की भगवान् पर अधिकारिता का प्रदर्शन करके भगवल्लीलामृत के पान से रागद्वेषादि सांसारिक प्रपञ्चों के विनाश का अद्भुत सङ्गम प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण के दूत उद्धव से वार्तालाप करते-करते भावविभोर होकर गोपियों के रुदन करने लगने पर पार्श्ववर्ती एक भ्रमर को भी भावातिरेक में गोपियों द्वारा आश्वासन के उद्देश्य से कृष्ण द्वारा प्रेषित दूत समझ लिया जाता है। अतः गोपियाँ भ्रमर एवं कृष्ण के वर्ण सादृश्य के कारण उन्मुक्त हृदय से भ्रमर को उपालम्भ देना प्रारम्भ कर देती हैं। इसी उपालम्भ को ही भागवत पुराण में भ्रमरगीत के नाम से अभिहित किया गया है, जिसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन करके परवर्ती कवियों द्वारा भ्रमरगीत का व्यापक विस्तार किया गया है। भागवतपुराण के इस लघु रोचक प्रसङ्ग में गोपियों के उपालम्भ भाव के बाण से मानों उनकी विरह-वेदना का प्रस्फुटन होता है, जो भगवद् भक्त की तद्विषयक विश्वास-शृंखला को और भी पुष्ट बनाता है—

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्त्यजेऽस्मान् भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्म
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः[२] ।।

भ्रमरगीत के एक गीत से भगवान् की भक्त-विषयक चिन्ता, विह्वलता तथा भक्त की कृष्ण-विषयक रागात्मिका भक्ति का द्योतन होता है।[३] कपिराज-बालि, शूर्पणखा तथा राक्षसराज बलि आदि का प्रसङ्ग याद दिलाकर भ्रमरगीत में मानों व्यंग्यात्मक शैली में कृष्ण की दुष्ट-दण्डात्मिका प्रवृत्ति तथा दुष्ट तक के उद्धार का रहस्य ही उद्घाटित नहीं किया गया है, अपितु कृष्ण-विषयक भक्ति की प्रगाढ़ता का सङ्कीर्तन भी किया गया है—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः[४] ।।

इस प्रकार इतने आक्षेप वचनों का प्रयोग करके भी श्रीकृष्ण-चर्चा को दुस्त्याज्य बताकर मानों कृष्ण के प्रति अपने अनन्य अनुराग तथा दृढ़ सङ्कल्प को बताती हुई

---

१. भक्तिरसामृतसिन्धु २/५८; २. भागवतपुराण १०/४७/१३ ।
३. तदेव १०/४७/१५; ४. तदेव १०/४७/१७ ।

गोपियाँ बड़ी चतुराई से कृष्ण की अधीनता स्वीकार करती हैं; क्योंकि कृष्ण की लीलारूप कर्णामृत के एक कण का भी जो रसास्वदन कर लेता है, वह रागद्वेष, सु:ख-दु:खादि समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर जगत् का सर्वस्व त्याग करके भी भक्ति-रसामृत को चखना चाहता है—

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट् सकृददनविधूत द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति[१] ॥

श्रीकृष्णकथामृत का सङ्कीर्तन करती हुई गोपियाँ भ्रमरगीत में अपनी वार्ता का उपसंहार करते हुए कृष्ण-कृपा की आकांक्षा ही व्यक्त करती हैं। अत: उपालम्भ शैली का प्रयोग करके भी भ्रमरगीत में कृष्ण के प्रति उनके भक्त गोपियों की विश्रम्भ-पराकाष्ठा तथा अधिकारिता का ही प्रतिपादन किया गया है।

भक्त की भगवद्-विरह-वेदना के आर्तस्वर श्रीमद्भागवत पुराण के महिषीगीत में भगवच्चेतना का सुगम सञ्चार करते हैं। चकवी, समुद्र, चन्द्र, मलयानिल, मेघ, कोयल, हंस, पर्वत तथा नदी की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं प्राकृतिक स्वरूप का मनोहारी स्वभावोक्तिपूर्ण चित्रण करते हुए उनके विह्वलात्मक पक्षों के स्वाभाविक कारण के रूप में भगवद्-विरह को ही मूल कारण बताया गया है। अहर्निश दोलायमान विक्षुब्ध समुद्र के धैर्य-नाश, पाण्डु-वर्णाभ चन्द्र में राजयक्ष्मा, जलद-वृष्टि में अस्रुपात, ग्रीष्मवर्ती नदियों की क्षीणता में कृशता आदि के मूल कारण के रूप में श्रीकृष्ण-विरह-व्यथा को ही रूपायित किया गया है[२]। अत: प्रकृति-गत-विरह-वेदना से चेतन-प्राणियों गोपी-महिषी आदि में भगवद्भक्ति विरह-वेदना की पराकाष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। चकवी के करुणार्द्र हृदय में दास्यभाव, मलयानिल की कामप्रवणता, कोयलों की विरहाग्निसंदीप्ति तथा पर्वतों की चिन्तातुरता श्रीकृष्ण-विरह के ज्वलन्त उदाहरण हैं[३]। महिषीगीत-गत यह विरह-वेदना जहाँ एक ओर भगवद्भक्ति-विरह की वेदना का संदीपन करती है, वहीं दूसरी ओर श्रीमद्भागवत-गत प्राकृतिक-सौन्दर्य का सजीव चित्रण हृदयावर्जक हो जाता है। अत: श्रीमद्भागवतपुराण-सम्मत प्रस्तुत गीत-प्रसङ्ग में व्यक्त विरह-वेदना का यह काल्पनिक चित्रण काव्यसौन्दर्य तथा साहित्यिक वैशिष्ट्य में आप्लावित है। महिषीगीत की भाँति ही अनेक विरह-प्रसङ्ग गोपीगीत आदि में भी आस्वादित किये जा सकते हैं[४], जिनका विस्तार-भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

---

१. भागवतपुराण १०/४७/१८।
२. तदेव १०/९०/१७, १८, २०, २३।
३. तदेव १०/९०/१६, १९, २१, २२।
४. तदेव १०/३१/२, ७, १२-१३ तथा ३५/१६।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण के दशमस्कन्धस्थ इस गीत-चतुष्टय में विविध आध्यात्मिक, दार्शनिक, सौन्दर्यशास्त्रीय तथा प्राकृतिक वैशिष्ट्यों का उत्स विद्यमान है। इनके साथ ही भिक्षुक गीत सदृश अन्य गीतों का महत्त्व भी कम नहीं है, जिनमें संसार की निःसारता एवं वैराग्य की महत्ता का प्रतिपादन करके समस्त सांसारिक दुःखों के मूल कारण के रूप में मन को उत्तरदायी बताकर मन और आत्मा जैसे विषयों पर दार्शनिक चिन्तन किया गया है।

अतः श्रीकृष्ण-भक्ति के प्रति अपने हृदयोद्गार श्लोकद्वयेन व्यक्त करके सम्प्रति वाणी को विराम दिया जा रहा है—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्बोधौ किं छुद्रैः खातकोदकैः ।।
सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ।।

श्रीभागवत महापुराण में लोककल्याण की अवधारणा

डॉ. महेन्द्र वर्मा

❋❋❋

संस्कृत देववाणी लोककल्याण की वीणापाणी है। अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली भास्वर भानुकिरण है। इहलोक और परलोक की शुभदायिनी है। पापतापविनाशिनी दिव्या भव्या भागीरथी है, जिस मुख से उच्चरित होती है, उसके शरीर और अन्त:करण को पवित्र बना देती है। जिसके कानों में पड़ती है, उसके श्रुति को श्रुतिपूर्ण बना देती है, जिस स्थान, देश में उच्चरित होती है, उस देश व स्थान को पवित्र कर देती है। देवों की यह गीर्वाणवाणी स्वान्त:सुखाय की अपेक्षा सर्वजनहिताय सर्वजनकल्याणाय सुरसरित धारा है। ज्ञानमेधा की अविकल प्रथम किरण है। अध्यात्म धर्म दर्शन का कल्पवृक्ष है। श्रद्धा और भक्ति से आत्मावगाहन करने वालों का समुद्धार करती है। कभी वेद, कभी पुराण तो कभी उपनिषद् बन कर लोककल्याण करती है। अधीर अशक्त मनोरोगियों का परित्राण करती है। भवनिदान तथा मोक्ष की दर्शिका है। यदि देखा जाय, तो सुविशाल संस्कृतवाङ्मय लोककल्याण की पावन अवधारणा से भरा पड़ा है, इसकी अनन्तानन्त शाखाओं में मानवकल्याण की भावना भरी हुई है।

वैदिक साहित्य में ऋचाओं का सृजन मानवों के श्रेय को लक्ष्य में रखकर हुआ है। ८४ लाख योनियों में श्रेष्ठ माने जाने वाले मनुष्यों की कामनाओं का कोई अन्त नहीं (पुलुकामो हि मर्त्य:) स्वार्थ और चालाकी भी कम नहीं, फिर भी परहित की भावना से ओत-प्रोत होने के लिए वैदिक ऋषियों ने सतत नयी चेतना और दिशा प्रदान की। धर्म का मूल वेद है। यह धर्म ही परलोक जाने वाले का एकमात्र बन्धु होता है। अपने लिए जीने वाला या अपने निमित्त भोजन बनाने वाला चोर, पापी होता है, वह श्रेय को प्राप्त नहीं करता। इसी कारण ऋग्वैदिक मंत्र 'केवलाघो भवति केवलादी'—कहकर हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। 'सङ्गच्छध्वम् संवदध्वम्' की सुनीति पर चलने को कहता है। 'मा गृध: कस्यस्विद्धनम्' कहकर हमें लालची

बनने से रोकता है। और 'स्वास्थि पन्थान् अनुचरेम्' की शिक्षा देकर कल्याण के मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है। जाने इस प्रकार के कितने कोमलकान्त भाव हैं, जो मानव जाति के हितकारी एवं लोकोपकारी हैं, जिनसे मनुष्य संसार में मनुष्य बन जाना सीखता है। पाशविक प्रवृत्तियों से हट कर सद्मानव बनता है। उपनिषद् भवनिदान की अन्यतम साधन है, भारतीय षड्दर्शन मनुष्य की आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का पारस हैं।

भगवान् वेदव्यास प्रणीत १८ महापुराण मानव त्राण के महाप्राण हैं। ये 'पञ्चम वेद' के नाम से विहित हैं। लोककल्याण की भावना से ही भगवान् व्यास ने वेदों का विस्तार और पुराणों का सृजन किया। देवीभागवत के निम्न श्लोक से यह और भी प्रमाणित हो जाता है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च ।। (दे. भाग. १/२/२१)

देवीभागवत के एक अन्य श्लोक से विदित है कि पुराण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रदान करने वाले हैं—

यत्र धर्मार्थकामानां वर्णनं विधिपूर्वकम्।
विद्यां प्राप्य तया मोक्षः कथितो मुनिना किल ।।
(दे. भा. १/३/३८)

वैसे भी लोक में यह बात प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

भागवत में लोककल्याण

अष्टादश महापुराणों में भागवत महापुराण का स्थान शीर्षतम है। इस महापुराण का अवतरण ही लोकोपकार के लिए हुआ है। यह तो निगमरूपी कल्पतरु का सर्वाधिक सुपक्व सुमधुर फल है। प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में लोकमङ्गल कामना से पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत जी कहते हैं—**मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिः लोकमङ्गलम्। यत्कृतः कृष्ण सम्प्रश्नो येनात्मा सम्प्रसीदति ।।** भारतीय ऋषि संस्कृति में इसे ही मनुष्य का परमधर्म कहा गया है। आत्मकल्याण की अपेक्षा लोककल्याण को ही इसमें श्रेष्ठ कहा गया है। जैसा कि भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत वर्णित श्लोक से विदित है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्-भागवत ।

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधु पुरुषान् जहि कामतृष्णा ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु हित्वा
सेवा कथा रसमहो नितरां पिब त्वम् ।।

भागवत के एक अन्य श्लोक में विश्व के कल्याण की बात कही गयी है। यही नहीं उसमें दुष्टों के भी प्रसन्न रहने की बात कही गयी है। सभी प्राणियों के प्रति एक दूसरे को कल्याणकारक भाव से सोचने के लिए कहा गया है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलं प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ।। भाग. ५/१८/९

इसी प्रकार भागवत के निम्न श्लोक में छोटे-बड़े युवकों, अवधूतों, ब्राह्मणों आदि सभी के कल्याण की कामना की गयी है—

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यः नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ।।
(भाग. ५/१४/२३)

पद्मपुराण उत्तरखण्ड के भागवतमाहात्म्य में वर्णित अधःश्लोक में डिमडिम घोष करते हुए कहा गया है कि दरिद्रता रूपी दुःख ज्वर से सन्तप्त, मायारूपी पिशाची से परिमर्दित एवं संसाररूपी सिन्धु में डूबते हुए लोगों के कल्याण के लिए भागवत गर्जना करती है।

दारिद्र्यदुखज्वरदाहितानां माया पिशाची परिमर्दितानाम् ।
संसारसिन्धौ परिपातितानां क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति ।
(पद्म पु. उ. खं. ६/१२)

पद्मपुराण में भागवत के लोककल्याण के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कलिकाल रूपी भयंकर सर्प के मुँह से मुक्ति दिलाने वाला भागवत पुराण संसारभयनाशक है। भागवत का दशम स्कन्ध तो भक्ति का अगाध सागर है। लोकोत्तर पुरुष श्रीकृष्ण का पृथ्वी पर अवतरण लोकोपकार के निमित्त हुआ था।

भागवत में उत्तम श्लोकपरायण लोगों की विशेषताओं का कथन करते हुए कहा गया है कि ये लोग स्वार्थ भावना से नहीं, अपि तु परार्थ की कामना से संसार में जीते हैं। लोकमंगल और संसार का कल्याण ही इनके जीवन का लक्ष्य है—

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ।।

भागवत-१/४/१२

प्रायः प्रत्येक पुराणों का लक्ष्य ही परानुग्रहकांक्षा है। देवी भागवत के प्रथम अध्याय में लोकहितकामना को दृष्टिकोण में ही रखकर सृजन किया गया है। जैसा कि **'साधु पृष्टं महाभागा लोकानां हितकाम्यया'** से स्पष्ट होता है। भारतीय संस्कृति के महाप्राण पुराण तो सर्वविध मानव के चारित्रिक विकास से लेकर इहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त प्रकार के शुभ को प्रदान करने वाले हैं। भागवत महापुराण तो इस कलिकाल रूपी भवसागर का अरत्रि है। लोक-कल्याण भागवत का मुख्य लक्ष्य है।

श्रीमद्भागवतमहापुराण में वर्णाश्रमधर्म निरूपण

डॉ. सरोज कुमार शुक्ल

❋❋❋

पुराणों का भारतीय वाङ्मय में विशेष स्थान है। वेदों के बाद भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों का ही स्थान आता है। पुराणों को पञ्चम वेद[1] कहा गया है। अथर्ववेद[2] में पुराणों की उत्पत्ति वेदों के साथ ही स्वीकार की गयी है।

पुराणों में राजनीति शासकीय संस्थाएँ धर्म और दर्शन विधि और वैधानिक प्रथाएँ ललित कथाएँ और शिल्प आदि सभी विषयों का समावेश है। सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में श्रीमद्भागवतमहापुराण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह शुकमुख से सम्बद्ध हो जाने के कारण अमृतद्रव से युक्त निगमरूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्[3]।

धार्मिक दृष्टि से भागवत पुराण का भारतीय धर्मशास्त्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज हिन्दू धर्म का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह भागवत धर्म का ही स्वरूप है।

यद्यपि इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों और आश्रमचतुष्टय का वर्णन अन्य शास्त्रों के समान किया गया है, तथापि इसके अनुसार वर्णों का निर्धारण जन्मपरक न होकर कर्मपरक ही है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्[4]।।

---

१. ऋग्वेदं भगवो ध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्।
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।। (छान्दोग्योपनिषद्-७/१/२)
२. अथ सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाः दिविक्षितः।। (अथर्ववेद ११/७/२४)
३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-१/१/३; ४. तदेव ७/११/३३।

व्यक्ति तथा समाज का वही सम्बन्ध है, जो कि शरीर एवं उसके अङ्गों का। श्रीमद्भागवतकार ने अपने अपने धर्म के पालन करने को भी भागवत धर्म का आवश्यक अङ्ग माना है—

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्षाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्[1] ।।

स्ववृत्ति-पालन भी भगवदुपासना माना जाता है।

वर्णों का धर्मनिरूपण

वर्णाश्रमधर्म भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। ऋग्वेद[2] के पुरुष सूक्त में समाज की तुलना पुरुष के शरीर से की गयी है। भागवत पुराण में भी पुरुष सूक्त के अनुसार ही सृष्टि बतलायी गयी है।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः[3] ।।

दोनों में ही सृष्टि प्रक्रिया में ब्राह्मण को समाज रूपी पुरुष का मुख बताया गया है, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को जङ्घा तथा शूद्र को पैर बताया गया है। गरुडपुराण में भी इसी तथ्य को सृष्टिप्रक्रिया में वर्णित किया गया है[4]।

इससे यह विदित होता है कि ब्राह्मणों को ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अपने मुख से प्रकट किया—इसके पश्चात् अन्य वर्णों को उत्पन्न किया।

संसृष्टा ब्राह्मणाः पूर्वं तपस्तप्त्वा द्विजोत्तमाः[5] ।

वर्णों की उत्पत्ति के आधार पर इनके अपने धर्म होते हैं। ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अपनी वृत्ति के अनुसार स्वधर्म का निर्वाह करते हैं।

ब्राह्मण वर्ण के धर्म के विषय में यह कहा गया है कि ब्राह्मण के छः कर्म— यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, अध्ययन तथा अध्यापन करना ही प्रमुख माने गये हैं, जिनकी चर्चा गरुडपुराण[6] में की गयी है।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण-११/१०/१।
२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। (ऋग्वेद १०/९०/१२)
३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-११/१७/१३।
४. जास्याद्वै ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियाः स्मृताः।
उरुभ्यां तु विशः सृष्टाः शूद्रः पद्भ्यामजायत ।। (गरुडपुराण १/४/३४)
५. भविष्यमहापुराण मध्यमपर्व-५/१
६. यजनयाजनं दानं ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहः।
अध्यापनञ्चाध्ययनं षट् कर्माणि द्विजोत्तमे ।। (गरुडपुराण-१/४९/२)

ब्राह्मण वर्ण के अपने कुछ लक्षण भी होते हैं, जिसमें शम, दम, तप, शौच, संतोष आदि माने जाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्[१] ।।

ये सभी गुण ब्राह्मणों में सन्निहित होने चाहिए। ब्राह्मण वर्ण के धर्म के विषय में महाभारत[२] में कहा गया है कि अन्य लक्षणों के साथ मैत्री का भाव होना भी ब्राह्मण का कर्म माना जाता है।

क्षत्रिय वर्ण के धर्म के विषय में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि क्षत्रिय केवल दान लेना छोड़कर ब्राह्मण की पाँचों वृत्तियों का अनुसरण कर सकता है।

ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः[३] ।

क्षत्रिय का सबसे बड़ा धर्म होता है समाज की रक्षा करना। जिसका उल्लेख भागवत पुराण में किया गया है—

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्[४] ।।

समस्त प्राणियों की रक्षा सम्बन्धी उत्तरदायित्व क्षत्रिय वर्ण पर ही होता है। वर्णों में वैश्य वर्ण का तीसरा स्थान है, इस वर्ण के लक्षण के विषय में यह वर्णित किया गया है कि भगवान् के प्रति भक्ति अर्थ, धर्म एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों की रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता, व्यावहारिक निपुणता ये वैश्य के लक्षण हैं—

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्[५] ।।

वैश्य को इन गुणों से युक्त माना जाता है। चौथा वर्ण शूद्र का माना जाता है। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का धर्म स्वीकार किया गया है—

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवास्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्रलक्षणम्[६] ।।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/११/२१।
२. मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ।। (महाभारत शा. १४/१५)
३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/११/१७।
४. तदेव ७/११/२२; ५. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/११/२३।
६. तदेव ७/११/२४।

उच्च वर्णों के सामने विनम्र रहना, पवित्रता स्वामी की निष्कपट सेवा वैदिक मन्त्रों से रहित यज्ञ, चोरी न करना—ये सभी धर्म शूद्र वर्ण के कहे गये हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग धर्म निरूपित किये गये हैं।

आश्रम धर्म का वर्णन–

वर्ण व्यवस्था की भाँति चतुराश्रम[१] परिकल्पना भी भारतीय संस्कृति के समुज्ज्वल तत्त्वों में एक है। इन आश्रमों की सङ्ख्या चार मानी जाती है। इनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास यह क्रम ही अनुसरण के योग्य है। वर्णों की भाँति आश्रमों की उत्पत्ति भी विराट् पुरुष से बतायी गयी है—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः[२] ।।

चारों आश्रमों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के विभिन्न अङ्गों से हुई है। इन चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है। इस आश्रम में शिष्य गुरु के आश्रम में रहते हुए, अध्ययन करता है। ब्रह्मचारी अनेक कर्तव्यों का पालन करता है तथा विद्यार्जन करता है।

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः[३] ।।

ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है तथा गुरु की सेवा में तत्पर रहता है।

ब्रह्मचर्याश्रमी[४] का कर्त्तव्य है कि वह प्रातःकाल तथा सायंकाल भिक्षा को माँगकर लावे तथा गुरु की आज्ञा के पश्चात् भोजन को ग्रहण करे।

आश्रमों में द्वितीयाश्रम गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति आतिथ्य धर्म और दानादि आचारों का पालन करते हुए जो देवगण आदि तीन ऋण हैं—उनसे भी उऋण होता है[५]।

अहिंसा सत्य सर्वभूतानुकम्पा दान आदि गृहस्थाश्रम के धर्म कहे गये हैं—

---

१. चतुर्णामाश्रमाणाम्। (रामायण-२/१०६/२२)।
२. श्रीमद्भागवतमहापुराण-११/१७/१४; ३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/१२/१।
४. सायंप्रातरश्चरेद्भैक्षं गुरुवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीद् यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित् ।। (भागवतपुराण-७/१२/५)
५. ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत् ।। (भागवतपुराण-१०/८४/३९)

अहिंसा सत्य वचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथा शक्तिर्गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः[१] ।।

सभी आश्रमों में यह आश्रम प्रमुख है। वानप्रस्थाश्रम की अवस्था गृहस्थाश्रम के पश्चात् होती है। इसमें शीत, वर्षा, धूप को सहन करना पड़ता है। इस आश्रम में गृह को त्याग कर गुफा या पहाड़ का आश्रय लिया जाता है।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम् ।
श्रयेद् हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम्[२] ।।

वानप्रस्थी को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। संन्यासाश्रम सभी आश्रमों में अन्तिम आश्रम है, जिसमें व्यक्ति को अकेले ही विचरण करना होता है—

एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः[३] ।।

संन्यासाश्रम के पालनकर्त्ता का यह धर्म होता है कि वह सभी प्राणियों को अपने समान माने।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल आचरण करने वाले समाज की स्थिति सदैव विकासोन्मुख होती है। सभी आचारों का मुख्य उद्देश्य सभी प्राणियों में भगवद्भाव और भक्ति प्राप्त करना है।

अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म से ही मनुष्य को ज्ञान भगवत्प्रेम तथा साक्षात् परंम पुरुष भगवान् की प्राप्ति होती है। भागवत धर्म का उद्देश्य अपने सामाजिक कर्त्तव्य एवं दायित्व तथा वर्ण धर्म का पालन करना था।

भागवत पुराण में वर्णित वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए मानव अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

---

१. महाभारत अनुशासन पर्व-१४१/२५; २. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/११/२ ।
३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-७/१३/३ ।

श्रीमद्भागवत पुराणोक्त मन्वन्तरकाल की ज्योतिषीय विवेचना

श्री अनिल कुमार पोरवाल

❁❁❁

मन्वन्तर का अर्थ है 'अन्य मनुः' या 'मनूनामान्तरमवकाशोऽवधिर्वा' अर्थात् एक मनु के बीतने तथा दूसरे मनु के आने में बीच वाले समय (अन्तराल) को मन्वन्तर कहते हैं। लगभग सभी पुराणों तथा सिद्धान्त ज्योतिष के विद्वानों की गणना के अनुसार सृष्टि काल से प्रलयकाल (कल्प) तक चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष माने गये हैं। इस दीर्घकाल के अन्तराल में घटित होने वाली घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रादुर्भाव सम्बन्धी रहस्य की समझने के लिए महाकवि वेदव्यास जी ने मन्वन्तर पद्धति का आविष्कार किया। अतः सृष्ट्यादि से प्रलयान्त काल (समय) को जानने के लिए मन्वन्तर पद्धति का अविष्कार सर्वथा उपयोगी और युक्तियुक्त है। श्रीमद्भागवत पुराण में कालमान द्योतक मन्वन्तर का वर्णन उसकी दशलक्षणी परिभाषा में वर्णित है—

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः[१] ।।

जबकि अन्य पुराणों में, यह पञ्चलक्षणी परिभाषा के अर्न्तगत उल्लिखित मिलता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्[२] ।।

अधिकांश पुराण में पाँच अधिकारियों की बात कही गयी है —

मनुः सप्तर्षयो देवा भूपालश्च मनोः सतः।
मन्वन्तरे भवत्येते शक्राश्चैवाधिकारिणः[३] ।।

जो अपने-अपने मनुओं के अन्तराल में अपना विशिष्ट का सम्पादित करने आते है और उस कार्य के अवसान होने पर अर्थात् उस मन्वन्तर के परिवर्तित होने

१. श्रीमद्भागवत पुराण - १२.७.९।
२. कूर्मपुराण. १.२५; विष्णुपुराण. ३.६.२४; मार्कण्डेयपुराण. १२३; मत्स्यपुराण. ५३.६४; भविष्यपुराण. २.५।
३. श्रीनरसिंहपुराण. २३.२७।

पर अपना अधिकार छोड़कर निवृत्त हो जाते हैं। उनके स्थान पर नवीन मन्वन्तर में नये अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। लेकिन श्रीमद्भागवत में वर्णितं पाँच अधिकारियों के साथ ही हरि के अंशावतार को संयुक्त कर छः अधिकारी कहे गये हैं —

मन्वन्तरमनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते[1] ॥

पुराणों में एक कल्प के दीर्घ समय को १४ मनुवों के माध्यम से समझ लेनें की व्यवस्था की गयी है। जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित है —

यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश[2] ।

श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में चतुर्दश मनु एवं उनके षड् अधिकारियों का सुविस्तृत वर्णन उल्लिखित है —

१. स्वायम्भुव–

तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे।
मरीचिमिश्रा ऋषियो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तृणामनुवृत्तं तदनन्तरम्[3] ॥

२. स्वारोचिष–

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥
तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद् देवाश्च तुषितादयः।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥
ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः[4] ॥

(३) उत्तम–

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः।
पवन सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥
वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः।
धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान् पुरुषोत्तमः[5] ॥

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण. १२.७.१५; २. तदैव. ३.११.२८।
३. तदैव. ४.१.८-९; ४. तदैव. ८.१.१९-२१.
५. तदैव. ८.१.२३-२५.

४. तामस–

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
प्रभुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ।।
सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः ।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ।।
देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप ।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ।।
तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः[1] ।

५. रैवत–

पञ्चमो रैवत नाम मनुस्तामससोदरः ।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः ।।
विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन् भूतरयादयः ।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ।।
पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः[2] ।

६. चाक्षुष–

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः ।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ।।
इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः ।
मुनयस्तत्र वै राजन् विष्मद्वीरकादयः ।।
तत्रापि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः ।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः[3] ।।

७. वैवस्वत–

इक्ष्वाकुर्नभकश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ।।
करुषश्च पृषधश्च दशमो वसुधान् स्मृतः।
मनौर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप ।।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः ।।
कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतम ।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ।।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण ८.१.२७-३०; २. तदैव. ८.५.२-४ ।
३. तदैव. ८.५.७-९ ।

अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक्[1] ।।

८. सावर्णि–

अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ।
निर्मोकविराजस्काद्याः सावर्णिर्भविता नृप ।।
तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः ।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ।।
गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा ।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान् बादरायणः ।।
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः ।
इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले ।।
देवा गुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः[2] ।

९. दक्षसावर्णि–

नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः ।
भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृपः ।।
पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः ।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः ।।
आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला[3] ।

१०. ब्रह्मसावर्णि–

दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान् ।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजा ।।
हविष्मान्सुकृतिः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः ।
सुवासनविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः ।।
विषक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोः सख्यं करिष्यति[4] ।

११. धर्मसावर्णि–

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् ।
अनागतास्तत्सुताश्च धर्मादयो दश ।।
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः ।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ।।
आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः[5] ।

---

१. श्रीमद्भगवतपुराण ८.१३.२-६; २. तदैव. ८.१३.११-१७ ।
३. तदैव. ८.१३.१८-२०; ४. तदैव. ८.१३.२१-२३ ।
५. तदैव. ८.१३.२४-२६ ।

१२. रुद्रसावर्णि–

भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः ।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ।।
ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः ।
ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ।।
स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः[१] ।

१३. देवसावर्णि–

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान् ।
चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः ।।
देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः ।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा ।।
देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः[२] ।

१४. इन्द्रसावर्णि–

मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति ।
उरुगम्भीरबुद्ध्याद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ।।
पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति ।
अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ।।
सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः[३] ।।

इन नामों में ब्रह्मपुराण[४] तथा नरसिंहपुराण[५] में कतिपय भिन्नता देखने को मिलती है, जबकि मनुस्मृति[६] में केवल सात मनुवों का ही उल्लेख प्राप्त होता हैं ।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते हैं । एक कल्प में एक हजार महायुग और चौदह मन्वन्तर होते हैं । वर्तमान कल्प का नाम श्वेतवाराह कल्प[७] है, इसमें प्रथम छः मनु व्यतीत हो चुके हैं[८] और सातवाँ वैवस्वत नामक मनु चल रहा है—

---

१. श्रीमद्भगवतपुराण ८.१३.२७-२९; २. तदैव. ८.१३.३०-३२ ।
३. तदैव. ८.१३.३३-३५; ४. ब्रह्मपुराण. ५.५-६ ।
५. नरसिंहपुराण. २४.१७.३५;
६. स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मनो महौजसः ।।
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसा रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विविस्वत्सुत एव च ।।(मनु स्मृति. १.६१.६२.)
७. वाराह इति विख्यातो । (श्रीमद्भागवत पुराण . ३.१२.३६)
८. मनवोऽस्मिन् व्यतीताः षट् कल्पे स्वायम्भुवादयः । (श्रीमद्भागवतपुराण. ८.१.४)

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु[1] ।।

जिसकी पुष्टि करते हुए भास्कराचार्य जी ने सिद्धान्तशिरोमणि में गणनात्मक रूप से वर्तमान मनु के गत वर्षों की गणित की है—

धाताः षण्मनवो युगानि भमितान्यन्यद्युगाङ्घ्रित्रयं
नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपास्यान्ते कलेर्वत्सराः ।
गोद्रीन्द्वद्रिकृताङ्कदस्रनगगोचन्द्रा शकाब्दान्विताः
सर्वे सङ्कलिताः पितामहदिने स्युर्वर्तमाने गताः ।।
स्वायम्भुवो मनुरभूत् प्रथमस्ततोऽमी
स्वारोचिषोत्तमजतामसरैवताख्याः ।
षष्ठस्तु चाक्षुष इति प्रथितः पृथिव्यां
वैवस्वतस्तदनु सम्प्रति सप्तमोऽयम्[2] ।।

पुराणों तथा गणित शास्त्रों के अनुसार मनुष्य मान से ४३ लाख २० हजार वर्षों का एक चतुर्युगी (सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग, इन चारों युगों का एक महायुग होता है, इसे चतुर्युग भी कहते हैं) होता है । एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है, चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का और ब्रह्मा का एक रात्रि का भी यही परिणाम है । एक ब्राह्म दिन ही एक कल्प माना जाता है । इस प्रकार एक कल्प में (अर्थात् एक ब्राह्म दिन में) १४ मनुओं का साम्राज्य-काल माना जाता है । एक हजार चतुर्युगी के काल में १४ मन्वन्तरों की सीमा होने से एक मन्वन्तर का काल निर्धारित किया जा सकता है—

१ मन्वन्तर = १०००चतुर्युगी वर्ष/१४ =७१ ६/१४चतुर्युगी वर्ष

श्रीमद्भागवत में मन्वन्तर की कालगणना बताते हुए कहा गया है—

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां मे ह्येकसप्ततिम्[3] ।

सूर्यसिद्धान्त के मध्यमाधिकार में भी कहा गया है—

युगानां सप्तति सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ।
कृताब्दसङ्ख्यस्तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ।।
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः[4] ।।

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण. ८.१३.१ ।
२. सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, मध्यमाधिकार, का० मा०, श्लोक भा- २ ।
३. श्रीमद्भागवत पुराण. ३.११.२४; ४. सूर्यसिद्धान्त. १.१८-१९ ।

के आरम्भ में छः मनु (स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष), २७ महायुग और ३ युग चरण तथा चौथे युग के ३१९६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अत: सृष्ट्यादि से शक के प्रारम्भ तक १९७२५४७१७९ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इनमें अभीष्ट शक वर्ष को जोड़ देने पर वर्तमान समय में ब्रह्म दिन के आरम्भ से गत सौर वर्षों की संख्या ज्ञात की जा सकती है—

एक मनु का मान = ३०,६७,२०,००० (४३,२०,००० * ७१) सौर वर्ष गत छः मनुवों का मान = ३०,६७,२०,००० * ६ =१८४०३२०००० सौर वर्ष इसमें कृतयुग तुल्य ७ सन्धियों का मान जोड़ने पर वर्तमान काल में वास्तव मनुमान होगा। अत: कृतयुग = १७,२८,००० x ७ =१२०५६००० अभीष्ट मनु के आरम्भ तक गत सौर वर्ष= १८४०३२००००+१२०५६०००= १८५२४१६०००सौर वर्ष २७ महायुग =२७ * ४३,२०,००० = ११६६४०००० ।

इस महायुग की संख्या को वास्तव मनु के मान कृत आदि तीनों युग चरणों को जोड़ने से निम्न संख्या हुई—= (१८५२४१६००० +११६६४००००) + ३८८८०००=१९७२९४४००० सौर वर्ष । इसमें शकारम्भ के गत कलिवर्ष ३१७९ जोड़ने से—= १९७२९४४००० + ३१७९=१९७२९४७१७९ सौर वर्ष ।

यह संख्या कल्पादि से शकवर्ष के आरम्भ तक गत सौर वर्ष का मान है। इसमें वर्तमान शकवर्षों १९३०को भी जोड़ देने पर यह संख्या (१९७२९४७१७९ + १९३०) १९७२९४९१०९ सौर वर्ष होगी अर्थात् इस कल्प का प्रारम्भ इतने वर्ष पूर्व हुआ था ।

इस प्रकार यह चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों ही काल में चलते रहते हैं। इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगी वाले कल्प के समय की गणना वैज्ञानिकतापूर्वक तथा सुगमतापूर्वक की जा सकती है—

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तोऽन्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः[१] ।।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण. ८.१३.३६ ।

अर्थात् मूर्त (व्यवहारिक) काल प्रमाण में ७१ महायुगों (चतुर्युगी) का एक मन्वन्तर कहा गया है। एक मनु के अन्त में कृतयुग (४८०० दिव्य वर्ष) तुल्य मनु की सन्धि होती है। सन्धिकाल जलप्लव कहलाता है अर्थात् एक मनु की समाप्ति और द्वितीय मनु के आरम्भ के पूर्व ४८००दिव्य वर्षों तक पृथ्वी पर जलप्लावन रहता है। इस प्रकार एक कल्प में ससन्धि १४ मनु होते हैं। कल्प के आदि में कृत (सत्य) युग के तुल्य सन्धि होती है। इस प्रकार एक कल्प में सत्ययुग के समान १५ सन्धियाँ होती हैं। इन्हीं तथ्यों पर भास्कराचार्य जी ने प्रकाश डालते हुए सिद्धान्तशिरोमणि में उद्धृत किया है—

मनुः क्ष्मानगैर्युगैयुगेन्दुभिश्च तैर्भवेत्।
दिनसरोजजन्मनो निशा च तत्प्रमाणिका ।।
सन्धयः स्युर्मनूनां कृताब्दैः समा
आदि मध्यावसानेषु तैर्मिश्रितैः।
स्याद्युगानां सहस्त्रं दिनं वेधसः
सोऽपि कल्पो द्युरात्रं तु कल्पद्वयम्[1] ।।

अर्थात्—

७१ महायुग =१मनु

१४ +१५ सन्धि (कृतयुग तुल्य) =१कल्प

१ महायुग = १२००० दिव्य वर्ष = ४३,२०,००० सौर वर्ष

१ मनु = ७१ महायुग = ७१x१२००० =८,५२,००० दिव्य वर्ष या ३०,६७,२०,००० सौर वर्ष

१ कल्प = १४ मनु +१५ सन्धि (कृतयुग तुल्य)
= (१४x८५२०००) + (१५x४८००)
= ११९२८००० + ७२०००
= १२००००० दिव्य वर्ष या ४३२००००००० सौर वर्ष

लेकिन आर्यभट ने आर्यभटीयम् में मन्वन्तर का मान ७२ महायुग के बराबर बताया है—

काहो मनवो द मनुयुग श्ख गतास्ते च मनुयुग छ ना च ।
कल्पादेर्युगेपादा ग च गुरुदिवसाच्च भारतात्पूर्वकम्[2] ।।

सिद्धान्तशिरोमणि में ही भास्कराचार्य जी ने मन्वन्तर के माध्यम से सृष्ट्यादि से वर्तमान काल पर्यन्त गत सौ (वर्षों की गणना हेतु कहा है कि शालिवाहन शक

---

१. सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, का० भा० श्लो० २३-२४

२. आर्यभटीयम्, दशगीतिका, श्लो० ३ ।

Śrīmadbhāgavata : A linguistic Study

Prof. K. C. Dubey

❁❁❁

Śrīmadbhāgavata Mahāpuārṇa, the holiest and most popular scripture, is a compendium of knowledge, It is Purāṇa in the sense that its main theme is the recitation of the virtues and divine activities of the Purāṇa-Puruṣa Lord Kṛṣṇa. It is philosophical in the sense that it extols the virtues of 'Lord Kṛṣṇa' and focuses on the divine effulgence of the Lord. It brings to light the spiritual aspect of the Vedas and highlights the moral and philosophical perspective of the Vedas through the teachings of Śrī Kṛṣṇa', the Veda-Puruṣa. Now we notice the fact that there is a linguistic context of the purāṇic literature. Śrīmadbhāgavata contains a list of the names which are of paramount significance regarding etymological and lingustic perspective. If we go into the etymological persepective of the names such as Viṣṇu and Kṛṣṇa, We at once become aware of the true significance of the character and virtues of the lord. It has an added significance in the sense that the study and knowledge of the etymology of the names helps us in arriving at the real meaning of the divine nature of the mythological details.

The present paper aims at probing and analysing the linguistic and semantic perspective along with etymological details. The term Viṣṇu means 'All pervading' and Kṛṣṇa means 'The absolute as well as 'The black in Colour' Likewise, Govinda means

one who is known through the Vāk and 'protector of the cows.' Rukmiṇī means Śrī, Śobhā, Lakṣmī and the Shining one etc. The term "Keśava" is derived from 'Keśa' which means 'Ka' (Brahmā). 'A' (Viṣṇu), and 'Īśa' (Maheśa) combined together. Another meaning is associated with mythological context-(That is the killer of the demon Keśī.) Thus etymological reference leads to the true understanding of the divine character of the lord and His spiritual activities. At the same time, we are well aware of the fact that the pronunication of the names of the lord helps the devotees achieve spiritual bliss. This, in itself, is a strong proof of the linguistic perspective of the vedic and Purāṇic literature. Thus etymological detail is in addition to the mythological contexts and it stresses Vedic as well as linguistic aspect of the Purāṇic literature.

1. Viṣṇu:

Śrī Kṛṣṇa is an incarnation of Lord Viṣṇu. The word Viṣṇu is derived from the root 'vis' with suffix 'nuk'. Vevṣti 'व्याप्नोति' is another term for Viṣṇu which means all-pervading. Thus Viṣṇu means one who pervades all-surroundings defined as time and space.

2. Keśava :

अभिरूपा: केशा यस्य स: (One who has beautiful curly hair.) '*केशाऽन्यतश्याम*' There 'Va' suffix is rooted in recognition of merit. i.e. beautiful hair (ii) 'Ka' (Brahmā), A (Viṣṇu) 'Īśḥ' (Mahādeva). These three form keśa. One who supersedes the three. Keśava again means the killer of Demon Keśī.

3. Puruṣottama:

पुरुषाणामुत्तम: पुरुषोत्तम: One who is the best or the most excellent one among all the human beings. In Gītā, the lord explains the reason why He is called Puruṣottama. He is beyond 'Kṣara' and is better or has greater excellence than 'Akṣara'. Therefore He is renowned as Purusottama in both Loka and Vedic contexts.

12. Vāmana:

He begged from 'Bali' as Vāmana(Short-statured) Hence, He is described as 'Vāmana'. In other words he is Vāmana since he is the object of devotion. *"मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते"*।-(कठोपनिषद्)

13. Śrīnivāsa:

He is 'Śrīnivasa' because Lakṣmī always resides in His heart. She is eternally housed in His heart.

14. Nārāyaṇa:

'Nār' means 'Ātma', The elements like sky and water etc, Which proceed from the 'Ātma' or 'Nār' are called 'Nār', He is the abode of elements like sky and water, hence, He is called 'Nārāyaṇa'. *"नाराणामयनं यस्मात् तस्मात् नारायण: स्मृत: ।"*Another description is that the 'Jīva' after death enters the eternal soul 'Nārāyaṇa' Yet another description is that the lord resides in the abode of water (sea-water). Therefore, He is called 'Nārāyaṇa'.

15. Vāsudeva:

वसति वासयति आच्छादयति सर्वमिति वासु: The lord has explained the reason why he is Vāsudeva. We find this description in Mahābhārata (Śāntiparva. 34)

छादयामि जगत्सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः ।।

"I encompass the entire world through my rays in the domain of the sun. Again, I am the abode of all beings, That is why I am called Vāsudeva.

16. Hari :

He takes the part/portion of *Hari* in the *Yajnas*, Hence, He is Hari. The lord has described in the Gīta. "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव ।" I accept the *havi* in the *yajnās* and I am the lord. Another description is that He destroys the sins of his devotees. Therefore, He is called *'Hari'*.

4. Prabhu:

He has greater capacity or capability than anyone else in all activities. Therefore, He is called Prabhu.

5. Hṛṣikeśa:

'Hṛṣik' senses or Indrias. He is the lord of senses. Therefore, He is called 'Hṛsikeśa'.

6. Kṛṣṇa:

'Kṛṣṇa' is indicative of 'Power' and 'Na' means 'Ānanda'. Śrī Viṣṇu possesses both 'Power' and 'Ānanda'. Hence, He is called 'Kṛṣṇa'. Another context is that he is called 'Kṛṣṇa' because he is black in colour.

7.Mādhava:

Māyāḥ Dhavaḥ *मधुविद्याया बोधत्वात् माधव:* He is Lord of Lakṣmī 'Mā' means Lakṣmī.

8. Madhusūdana:

He is so described because he is killer of Demon 'Madhu'.

9. Vāsu/Vāsudeva:

The lord is described as 'Vāsu' because he resides in all human being. He is Vāsudeva on account of being the son of Vasudeva. Vasu is interpreted as 'Agni' in Gītā. वासूनां पावकश्चास्मि ।

10. Viśvakarmā:

He is 'Viśvakarmā' because all his activities are pious and religious in character. The lord declared in 'Śrīmadbhagavad Gītā' *धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।*

11. Janārdanā:

'जनान् दुर्जनानर्दयति हितस्ति' । He kills the wicked ones. Therefore, He is named 'Janārdana'. He is the real well-wisher of his devotes. He grants their wishes and enables them to enjoy perfect bliss.

17. Rāma:

He is Rāma (eternal soul and bliss). He attracts yogis and in whom yogis reside. Another description is that He assumed human form as Śrī Rāma, Son of king Daśaratha.

18. Devakīnandana:

He is the son of 'Devakī'. Devakī as described in the Mahābhārata means divine in essence. The Lord is the source of all types of light and fire. All the gods have origin in 'Devakīputra'.

ज्योतीषि शुक्रावि च यानि लोके त्रयो लोका लोकापालास्त्रयी च ।
त्रयोऽग्नयश्चाहुतयश्च पञ्च सर्वे देवा देवकीपुत्र एव ।।
महा. भा. अनु. (१५८/३१)

Śri Kṛṣṇa is Nandanadana. We are all aware of the philosophical contexts that lord is *Ānandasvarūpa.* He is divine bliss. He can stay only in the house of '*Nanda*' or 'Ānanda', Naturally here He is Nandanandana. He resides in the house of 'Yaśodā'. (One who give fame/yaśa and Ānanda (bliss). The name of the lord brings fame and bliss. Hence, He is eternally associated with 'Yaśodā' and 'Nanda'. In other words the divinity always exists with purity fame and bliss. The lingustic excellence of 'Śrīmadbhāgavata' is reflected in the cadence and melody proceeding from the specific arrangement of words. There are several examples of the proper selection of words and melodious refrains springing from such contexts. One or two contexts may be cited.

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ।।
यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परास्मात् च परस्तं प्रपेदे स्वयम्भुवम् ।।
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो ।
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।।

क्षेमं न विन्दति विनायदर्पणम् ।
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ।।
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिर्निहितं च सत्ये ।।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ।।

The sound effect arising from the selection of proper words in different contexts creates beauty at the level of language and leads to the unique rhythmic appeal unparalleled in literary contexts. Thus we find that the etymological aspects combined with the selection of words and contextual relevance stress the linguistic aspects of the text and add to the devotional impact of the purāṇic literature at large.

●

is the science of the soul. Vyāsadeva systematized the thoughts or philosophy of the Upaniṣads in the Brahmasūtra.

The Bhāgavata, although a purāṇa in character, is the essence of the Vedāntic faith and here, Vyāsadeva inclines to assert the Vedantic doctrine through the devotion of qualified monistic principle, besides the fact that the schools like Sāṁkhya, Yoga etc. are directly mentioned while discussing some of their aspects. One cannot overlook Bhāgavata's non-dualist emphasis, yet its precise import and meaning are not immediately clear. The Bhāgavata in several passages, indicates that non-dualism means that there is only one real existent.

The *Bhakti-mārga*, i.e. the cult of *Bhakti*, according to some, predominates this Bhāgavata Purāṇa. The Advaitic theism of the Bhāgavata Purāṇa, but to others, can be considered as the most significant study of the Purāṇa in its deeper principles.

Vyāsadeva's Brahmasūtra also has been explained by Rāmānujacārya in the line of qualified monistic principle, while by Śamkarācārya, in the non-dualistic perspective.

Regardless to the fact that whether the Brahmasūtra and the Bhāgavata Purāṇa propagate Viśiṣṭādvaita theory, Acintabhedābheda theory or Advaita theory, our endeavour is to establish that Vyāsadeva after composing tha Brahmasūtra (the Vedantic theory in a nutshall) wanted to explain the fundamental tenets therein thruogh lucid, exhaustive discussion in the form of the Bhāgavatapūraṇa. It is a combination of discursive teaching and narratives about the manifestation of Bhagavān.

The identity of the Highest Self (Paramātman) and the individual self (Jīvātman) is the central teaching of the Upaniṣads and the Brahmasūtra as well. The Bhāgavata is clearly in this tradition.

Śrīmadbhāgavatapurāṇa--An Exposition of the Brahmasūtra

Sanghamitra Basu

The term Purāṇa originally did not mean the literature of this name. It stood for narratives, legends and traditions which existed from the ancient times (पुराणमाख्यानम् इति कौटिल्यः) In course of time, the same term was gradually applied to mean a specific branch of literature. Out of the main eighteen Purāṇas, the *Bhāgavata Purāṇa* of *Vyāsadeva* is the most esteemed and most popular work. It encompasses the subtime concept of *Bhakti* and mysticism of *Brahmasūtra.*

Śrī Vyāsa (Vadārayaṇa or Kṛṣṇadvaipāyana or Parāśaraputra) the author of the Brahmasūtra is regarded as the original compiler-cum-expounder of the Bhāgavata Purāṇa Āchārya Jīva Goswamī, in the Tattvasandarbha has mentioned the *Bhāgavata Purāṇa* as the natural commentary of the Brahmasūtras (ब्रह्मसूत्राणामर्थः तेषामकृत्रिमभाष्यभूतः) 'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्' is said in Garuḍa Purāṇa in reference to the Bhāgavata.

The study of the Brahmasūtra is a synthetic study of the Upaniṣads. It deals with the Vedānta Philosophy which is not mere speculation but the authentic record of actual transcendental experiences of the great Hindu Ṛsis or seers. The Brahmasūtra

अभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ।। भागवत. २.१०.७

"That from which sustenance and destruction are definitely known to emerge is the resort which is called the Highest Brahman, the Highest Self.

The Bhāgavata emphasizes devotion with knowledge and detachment subordinated to it. The Bhāgavata says---

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ।।

The non-duality of self and individual self can be realized by sages through a process of devotion based on knowledge and detachment. The non-duality, the recognition of Self within the individual self can be achieved by adhering to the vedas.

Now coming to the statement made by Sri Gauranga Mahāprabhu and various others that the Bhāgavata Purāṇa was written by Vyāsadeva to explain the Brahmasūtras composed by him, we can start with the first *sūtra* in Samanvayādhikaraṇa. The very first Brahmasūtra, "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"---Which states the enquiry in to Brahman and hints at its pre-requisites. In the Bhāgavatapurāṇa 1.2.8.11--- we find its explantaion.

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसः विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

भागवत. १/२/८-११

There should no worldly interest in the religious sites practised for the acquisition of salvation.........the real aim of life is

enquiry of तत्त्व (the Truth)..............According to Tattvajnānī, Tattva is eternal knowledge of unchangeble merit. The followers of the Upaniṣads call it Brahman, the worshippers of Viṣṇu call it Paramatmā (Super Soul), the devotees would name it as Bhagavān (Possessor of wealth and power).

The next Brahmasūtra is , जन्माद्यस्य यतः, i.e. the defination of Brahman---'from which the origin etc. (sustenance and dissolution) of this world proceed.

The Bhāgavatapurāṇa explains this in its first śloka

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।। १.१.१

Let me meditate upon the absolute Truth........who is the source of the creation, preservation and destruction of the Universe, who is omniscient and all powerful.

शास्त्रयोनित्वात् ॥ 1.1.3 This Brahmasūtra is explained in the Bhāgavata 10.16.44 ---

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ।।

Brahman is called as *śāstrayonī* in the Brahmasūtra as well as in the Bhāgavatapurāṇa. *Śāstrayonī* refers to scriptures, only the vedas being the source of the knowledge of Brahman or Brahman who is the source of the scriptures or the vedas.

तत्तु समन्वयात् १.१.४ (Brahmasūtra)

But that is the result of the harmony (of the different scriptural statement)

This section declares that Brahman is the meaning of all

scriptural passages. Their differences are only apparent and are capable of reconciliation. Their purport is some, i.e. realization of self or Brahman. In the Bhāgavata we find this implication in जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च (1.1.1)

He is the Absolute Truth and the primeval cause of all causes of the creation, sustenance and destruction of the manifested universe. He is directly or indirectly conscious of all manifestations.

ईक्षतेर्नाशब्दम् (1.1.5---Brahmasūtra).

It is stated in this sūtra that the first cause is an Intelligent principle. The attribute of seeing or thinking (īkṣate) that which is not based on the scriptures (viz. the pradhāna of Sāmkhya) अशब्दम् is not (न). the सत् mentioned in the scriptural text like Chāndogya Upaniṣad relating to the first cause of the universe (जन्माद्यस्य यत:) is to be enquired in to (ब्रह्मजिज्ञासा). Now in this sūtra and in the following Brahmasūtras, it is declared that this does not refer to the inert Pradhāna which consists of *sattva*, *rajas* and *tamas* in a state of equilibrium and such other entities which rest on inference alone.

In the Bhāgavata, the similar note is conveyed in अर्थेष्वभिज्ञ: स्वराट् (1.1.1) He is independently fully cognizant of all the matters and purposes. The supreme truth is the greatest intelligence.

If a man's brain can produce a space suitable, one can very easily imagine how a brain higher than man can produce similarly wonderful things which are far surprise.

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् (1.1.6. ब्र. सू.).

It is said that the quality (seeing or thinking) is attributed to Pradhāna in a secondary sense just as red hot iron can be called fire because it can burn. Why should we ascribe creative power

and omniscience to such Prakriti or Pradhāna when we can ascribe these to Brahman Himself to whom these can be assented in a primary sense, the word Ātman or self by which the first cause is referred to in the seriptures.

Brahmasūtras 5---11 refute the arguments of the Śānkhyas and establish Brahman alone as the first cause. They suggest by various arguments that the cause of the world is conscious reality and cannot be identified with non-conscious Pradhāna or matter as the Sāṁkhya system holds. In the Bhāgavatapurāṇa, it is explained repeatedly in various ślokas---

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यदज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।१.२।।

The seers who know the Absolute truth call this Non-dual and omniscient as Brahman, Paramātman and Bhagavān.

"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
सः सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ।। १०.८८.५

Lord Hari, however, has no connection with the material modes. He is the supreme personality of godhead, the all-seeing eternal witness, who is transcendental to material nature. One who worships Him becomes similarly free from the material modes (hence becomes literated from re-birth). At the end of the Brahmasūtra "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।" 4.4.22 There is no return (of the liberated self) because the scriptures say so, there is no return as the scriptures say so. This proclaimation is implict in the Bhgāvatapūrāṇa.

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कृतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ।। ९.४.६७

If one develops his natural devotional service to the *supreme*, *mukti* or liberation automatically comes to him. In other words, the devotee is already liberated.

How can I abondon these devotees who having renounced their wives, children, relations, their own souls and wealth have become devoted to me who am the Absolute.

The attachment to worldly objects and worldly pleasure is not the way to achieve the favour of the supreme. He cannot be a pure devotee; thus, by delving down deep into the sea of the Bhāgavatapurāṇa, one can find the elaborate explanation of each and every Brahmasūtra though not placed in that same order. It needs not to be over-emphasized that the Brahmasūtras hold supreme sway over the later rationalistic and scholastic developments. The founder of a new religion and philosophical school had simply to write a new commentary on the Brahmasūtras, so that his view may be accepted by the mass of people. Such is the authority of the Brahmasūtras, the work of Bādarāyaṇa. The views of various *ācāryas* are all true in respect of the pariticular aspect of Brahman dealt with by them each in his own way.

Both the Bhāgavatapurāṇa or the Brahmasūtras, though apparently seems to be totally different but the underneath current of both the works is of the same nature and the ultimate goal is same. It seems that Vyāsadeva's Bhāgavata follows the path of bhakti or devotion and Vyāsadeva's Brahmansūtras follow the path of Jnāna or knowledge. Both the paths aim at the realization of the ultimate Reality, though the ultimate Reality and its relation to the universe and to the individual soul are explained in two different ways in those two works of Vyāsadeva. Whether it is the jnana line of *sādhanā* following the Bhāgavatapūrāṇa, or is the *bhakti* line of *sādhanā* following the Bhāgavata Purāṇa both lead to self-consciousness, in other words, the realization or *anubhava* or direct experience of Absolute or one's own self, resulting in indissolubly binding of the finite individual and Infinite Absolute. Jñāna and Bhakti become identical at their highest

solution stage, bearing namely two names for the same experience. Here Jñāna stands for *aparokṣānubhūti* or direct realization and *bhakti* stands for *premasvādana* or the enjoyment of Absolute Bliss. *Sūtras* are concise aphorisms. They give the essence of the arguments on a topic. The sūtras reconcile the conflicting statements of the Upaniṣads. Śrī Vyāsa systematized the thoughts or philosophy of the Upanisads in the Brahmasūtras, but these sūtras are so precise, they become extremely tough and abstruse to be utilized by men of oridinary understanding. Here comes the Bhāgavatapurāṇa of Bādarāyana as the commentary of the Brahmasūtras. Here with the help of narratives and lucid, easy conversations, the levels of the upaniṣads have been presented smoothly so that it can be a guidelight to all the spiritual aspirants while steering them across the sea of ignorance and doubt.

We can conclude with the lines of Śrīdharasvāmī in the beginning of the commentary of the Bhāgavatapurāṇa----

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ।।

●

Śrīmadbhāgavata : Some Observations

Prof. Prabhat Kumar Pandey

❁❁❁

Śrīmadbhāgavata is called Mahāpurāṇa [The great purāṇa]. The glory of Viṣṇu is sung in the whole purāṇa. In this viṣṇu is described, as the Gangā among rivers ; Vishṇu among three Gods and Śankara among Vaiṣnavas. Like a Mahākāvya it contains everything in addition to Lord Viṣṇu's different deeds. This paper will confine itself to Nature in her different moods, particularly during the monsoon and *śarad ṛitu*. Unlike the West India has many *ṛitus*. Being previously an agoarian land and rainy season is given priority. Sanskrit and Hindi literature is full of ṛitu description. The great Kālidāsa has composed a work called ṛitusaṁhāra. *Śarad* that precedes winter roughly corresponding to late October and early November is not only pleasant season but also famous for *Śarad Pūrṇimā* when Lord Kṛṣṇa performed mahārāsa. In Vaiṣṇava families it is aṇ importent event. Scriptures and secular literature celebrate it.

Rainy season gives life to vegetebles, animals and human world. Blak clouds laden with water cover the sun and the moon. Thunder and lightning come to heavens. The sky is overcast as the human, though form of Brahma is devoid of divine qualities :

सान्द्रीलीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ।।

Śrīmadbhāgvata, 10/20/4

Nights are dark since the moon and stars concealed by dark clouds but fireflies glow. The scene is aptly compared with loss of righteousness in *kaliyuga* and predominance of sins and hypocrisy.

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ।।

In our religious scriptures there is always implied moral. With rains rivulets, dry in summer, blow unrestrained *jitendriya* squanders his health and wealth :

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ।।**Ibid. 10/20/ 10**

It is interesting to note that many years later Tulsidas used almost the same idea in the following lines :

क्षुद्र नदी भरि चलि उतिरायी ।
जस थोड़े धन खल इतरायी ।।

The river in flood has high waves, as though in angry mood, has become agitated as the passionate *yogī* becomes libidinous in contact with erotic stimulants :

सरिद्भिःसङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामात्तं गुणयुग् यथा ।।**Ibid.XX, 14**

As stated earlier rains bring new life on earth. Some tiny creatures, though extinct now, are born only during rainy season. One of them is beer bakutes meaning a red velvety insect :

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभृत् ।।

ibid.XX, 10

The Sanskrit word for this beautiful creature is *indravadhu* [literally wife of Indra]. In a tropical country like

India rainy season is celebrated in literature. It is the season of longing or union. Hence men-women are excited when sky is black, temperature pleasant, pitch dark with sonnets of lightings. Sanskrit litrature is replete with such description as follows.

अतिशयितकदम्बोऽयं मोदकदम्बानिलो वहति ।
वियदम्बुदमेदुरितं मे दुरितं पश्य नागतो दयितः ।।

(O Mate ! Lo the monsoon wind that blooms *Kadamba* and makes one gay. The sky is cloudy, but unfortunately, my darling is yet not back.)

अभिनवयवसश्रीशालिनि क्ष्मातलेऽस्मिन्नतिशयपरभागं भेजिरे जिष्णुगोपाः ।
कुवलयशयनीये मुग्धमुग्धेक्षणाया मणय इव विमुक्ताः कामकेलिप्रसङ्गात् ।।

(Pretty greenery of new grass has covered the earth whereas *indravadhūs* are so beautiful as though on bed of lotus leaves are scattered jewels of the amorous play).

(In the sky town of rain king the rainbow is the gate and frogs in mud are croaking like foolish poets'recital deafen floks.)

Śarad ṛitu has its own charms when weather is temperate and everything pleasant. The ṛitu is compared to heroine in the following couplet. Sanskrit poets must be credited for their imagination that personifies natural phenomena.

अथोपगूढे शरदा शशाङ्के प्रावृट्ययौ शान्ततडित्कटाक्षा ।
कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम् ।।

(When *Śarad* heroine embraced moon heroine's lightning body cooled, for loose breast destroys beauty of women). India being an agrarian country poets have used harvest imagery to describe ṛitus :)

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवास्यतोत्पलम् ।।

Ripe yellow paddies with thick stalks are bending as though to smell fragrant blue lotus.)

It is also ṛitu of sexual pleasures. After *Śarad, Śrāvaṇa* is beautifully described and narrated among ṛitus. First rains means life. In Hindustani music there are many ṛitus specific *rāgas* like *Vāsantī, Bahara, Caitī, Kajarī. Rāga Hindolā* by name suggest swing during monsoon in eastern U.P..

In Sanskrit poerty and later in Hindi poetry *ṛitu* or ṛtucakra is a stock theme. And in some ṛitu sensuality is armed. Nature stimulates *sṛangāra* that includes sensuality. The follwing is an episode from Bhāgavata. In *Saguṇa* School, God is personified as a handsome male. Though dark it was rightfully said to be descendent of Aryas who came from different parts of the world. For a tropical country like India crucifixion is a symbol of purity valour etc. Therefore for ṛitus, one preceding winter and the other succeeding it. Śarad *uddipana* of *sṛnagāra*. Kṛṣṇa says that in every śarad I have rāsa with you.

यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ।। 10/20/27

(Therefore o maedenic! God back home. your *sādhana* has fructified. you have accomplished what you asked I do my *priya*.)

Kṛṣṇa being a playful god many instances are there. Cīraharaṇa is most known of the amorous and the erotic. Women were shivering and they could not go because they were naked but they covered their *yoni* with palms.

ततो जलाशयात् सर्वा दारिका शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ।।10/22/17

([Kṛṣṇa the mighty god had stolen thier clothes hence] they were shivering in cold. Out of modesty when they came out of the Yamunā they covered their vagina).

But that was not enough for the mischievous god. So he played another prank ; that since they bathed naked therefore committed sin against the river and her presiding dity Varuṇa. Therefore to repent for the sin you folding hands above head bow down to pay homage/show respect.

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोध वसनं प्रगृह्यताम् ।।

10/22/19

In short we have seen ṛitu description from Sanskrit and how both *ṛitus* are stimulus to *Śṛngāra* literally it means make up we have the phrase *soloho singara* in Hindi dialect. The two *ṛitus* disussed are also important in Hindi literature. Kṛṣṇa has many cults. Happily it is not morose and melancholic. In *Vaiṣṇava* temple Śarad-Pūrṇimā is an important festival when Lord travels to another place/pleasure garden with many flowers. In Vrindavana, it is an important festival specially in the greatest temple of Lord Ranganātha.

परिशिष्टम्

निबन्धास्तत्प्रस्तोतारश्च

संस्कृतम्

निबन्धः	प्रस्तोता
१. निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्	प्रो. बिन्दाप्रसादमिश्रः कुलपतिः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य, वाराणसी
२. पिबत भागवतं रसमालयम्	प्रो. रहसविहारीद्विवेदी पूर्व-आचार्योऽध्यक्षश्च, जबलपुर-विश्वविद्यालये, जबलपुरम्
३. टीकासु श्रीधरीटीका विष्णुवैष्णव-सम्मता	डॉ. श्यामबापटः पुराणेतिहासविभागः, सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी
४. श्रीमद्भागवतेऽद्वैतपरिशीलनम्	डॉ. हरिप्रसाद-अधिकारी सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी
५. श्रीमद्भागवते षोडशकलाविशिष्टः श्रीकृष्णः	डॉ. भगवतशरणशुक्लः उपाचार्यः, व्याकरणविभागः, संस्कृत-विद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दू-विश्वविद्यालयः वाराणसी
६. श्रीमद्भागवतबौद्धधर्मयोः कर्मवाद-विमर्शः	डॉ. धर्मदत्तचतुर्वेदी, संस्कृतविभागाध्यक्षः, केन्द्रीयतिब्बतीशिक्षाविश्वविद्यालयः, सारनाथः, वाराणसी
७. माघकाव्योपरि श्रीमद्भागवतस्य प्रभावः	डॉ. सूर्यमणिरथः साहित्यविभागाध्यक्षः राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, (मानित-विश्वविद्यालयः) श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी, (ओडिशा)

८. श्रीमद्भागवते दार्शनिकचिन्तन-स्यावधारणा	डॉ. रामसुमेरयादवः एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृतविभागस्य लखनऊ विश्वविद्यालये, लखनऊ
९. भागवते भक्तिस्वरूपम्	डॉ. महेशझाः राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितो विश्वविद्यालयः) श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी, उत्कलः
१०. श्रीमद्भागवतमहापुराणस्योत्कलीयं स्वरूपम्	डॉ. प्रमोदिनी पण्डा प्राध्यापिका, संस्कृतविद्याविभागे, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणसी
११. श्रीमद्भागवते पर्यावरणम्	डॉ.मखलेशकुमारः प्राध्यापकः, पुराणेतिहासविभागस्य, सदाशिवपरिसरे, राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थाने, पुरी, ओडिशा
१२. श्रीमद्भागवते साधारणधर्मः	डॉ. विश्वनाथस्वाइँ विभागाध्यक्षः, धर्मशास्त्रविभागस्य, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितो विश्वविद्यालयः) श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी, उत्कलः
१३. श्रीमद्भागवते शिवतत्त्वम्	डॉ. ददन उपाध्यायः पूर्वसहायकसम्पादकः, शिक्षण-शोध-प्रकाशनसंस्थानस्य, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणस्याम्
१४. श्रीमद्भागवते क्रीडाप्रसङ्गाः	अशोककुमारपाण्डेयः प्राध्यापकः श्री माँ-आनन्दमयी पौराणिक-वैदिकाध्ययनानुसन्धान-संस्थानम्, नैमिषारण्ये, सीतापुरे
१५. श्रीमद्भागवतमहापुराणतत्त्वविमर्शः	ब्रह्मचारिणी गीता बनर्जी माँ आनन्दमयी कन्यापीठ, भदैनी, वाराणसी

हिन्दी

१६. कल्पवृक्ष से टपका हुआ मधुर फल
प्रो. ओम प्रकाश पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

१७. रासपञ्चाध्यायी में शृङ्गाराद्वैतविमर्श
प्रो. बृजेशकुमार शुक्ल
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

१८. वर्णाश्रम धर्म की रूपरेखा भागवत में
डॉ. (श्रीमती) सुधा गुप्ता
रीडर, संस्कृत-विभाग, जुहारी देवी गर्ल्स पी० जी० कालेज, कानपुर

१९. भक्ति का स्वरूप : भागवत परिप्रेक्ष्य
डॉ. प्रतिभा शुक्ला
एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सोनीपत १३००१ (हरियाणा)

२०. श्रीमद्भागवत पुराण में 'माया' की अवधारणा
डॉ. मंजूलता शर्मा
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सेंट जोंस कालेज, आगरा (उ. प्र.)

२१. श्रीमद्भागवत पुराण में दार्शनिक सिद्धान्त
श्रीमती सुरचना त्रिवेदी
प्रवक्ता, संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या स्ना. महाविद्यालय, लखीमपुर, खीरी, उ. प्र.

२२. श्रीमद्भागवतपुराणान्तर्गत सांख्य-योग की अवधारणा
डॉ. गीता शुक्ला
रीडर, संस्कृतविभाग, भ. दी. आ. क. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर, खीरी

२३. श्रीमदभागवत पुराण में सृष्टि तत्त्व
डॉ. रीना अस्थाना
उपप्राचार्या, सुभाषचन्द्र बोस पी. जी. कालेज, कहली तेरवा, गौसगंज, हरदोई

२४. भागवत में कालगणना
डॉ. सोमप्रकाश पाण्डेय
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़

२५. भागवत में कालगणना	मृत्युञ्जय त्रिपाठी पूर्व प्राचार्य, महानन्दगिरि संस्कृत महाविद्यालय, गिरिजाघर, गोदौलिया, वाराणसी
२६. श्रीमद्भागवत पुराण के गीतों का वैशिष्ट्य	प्रो. प्रयागनारायण मिश्र लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
२७. श्रीभागवत महापुराण में लोक-कल्याण की अवधारणा	डॉ. महेन्द्र वर्मा सी. एस. एन महाविद्यालय, हरदोई उ. प्र.
२८. श्रीमद्भागवतमहापुराण में वर्णाश्रम धर्म निरूपण	डॉ. सरोज कुमार शुक्ल ज्योतिर्विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
२९. श्रीमद्भागवत पुराणोक्त मन्वन्तर काल की ज्योतिषीय विवेचना	अनिल कुमार पोरवाल वरिष्ठ अनुसंधान अध्येता, ज्योतिर्विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

English

30. Śrīmadbhāgavata : A linguistic Study	Prof. K. C. Dubey Dept. of Linguistics & Modern Languages S. S. V. V. Varanasi
31. Śrīmadbhāgavata purāṇa --An Exposition of the Brahmasūtra	Sanghamitra Basu National mission for manuscripts, Indira gandhi National Centre for Arts, New Delhi.
32. Śrīmadbhāgvata : Some Observations	Prof. Prabhat Kumar Pandey, Dept.of English, Banaras Hindu University, Varanasi